

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

शतक नामक

2945

कर्मग्रन्थ

[पंचम भाग]

[मूल, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण पारिभाषिक
शब्दकोष आदि से युक्त]

व्याख्याकार

महधरकेसरी, प्रवर्तक

स्व. मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुरामा 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री महधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

ओधपुर—ब्यावर

प्रकाशकीय

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में से एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय प्रवर्तक स्व. श्री मरुधरकेसरीजी महाराज स्वयं एक महान् विद्वान्, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के जर्जस्त थे और उन्होंने के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ आज भी चल रही हैं। गुरुदेवश्री साहित्य के भर्मज्ञ भी थे और अनुरागी भी थे। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक अनेकों ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम कर्मग्रन्थ भाग ५ का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान् ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है।

स्व. पूज्य गुरुदेवश्री के निर्देशन में जैन दर्शन एवं साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् सम्पादक श्रीयुक्त श्रीचन्दजी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमारजी जैन ने मिलकर इस महान् ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन किया है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९७६ में प्रकाशित हुआ, जो कब का समाप्त हो चुका, और पाठकों की मांग निरन्तर आती रही। पाठकों की मांग के अनुसार समिति के कार्यकर्ताओं ने प्रवर्तक श्री रूपचन्वजी महाराज एवं उपप्रवर्तक श्री सुकनमुनिजी महाराज से इसके द्वितीय संस्करण के लिए स्वीकृति मांगी, तदनुसार गुरुदेवश्री की स्वीकृति एवं प्रेरणा से अब यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। आशा है, कर्म सिद्धान्त के जिज्ञासु, विद्यार्थी आदि इससे लाभान्वित होंगे।

विनीत : मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जैन दर्शन को समझने की कुंजी है—‘कर्मसिद्धान्त’। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है ‘कर्मसिद्धान्त’। इसलिए जैनदर्शन को समझने के लिए ‘कर्मसिद्धान्त’ को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में श्रीमद्देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वज्ञानसु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय को वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवरमहाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ता प्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुर्लभ सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमृनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमारजी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस सम्पादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचनकर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० श्री सुखलालजी के ग्रन्थों का सहयोग

प्राप्त हुआ और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका । मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजतमुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्य समिति के अधिकारियों का सहयोग विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमलजी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा ।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे रनेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे । भूल सुधार एवं प्रमाद परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं । बस इसी अनुरोध के साथ—

द्वितीयावृत्ति

“कर्मग्रन्थ” भाग ५ का यह द्वितीय संस्करण छप रहा है । आज स्व. गुरुदेव हमारे बीच विद्यमान नहीं हैं, किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान निधि, आज भी हम सबका मार्गदर्शन कर रही है । गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य उपप्रवर्तक श्री सुकनमुनिजी उसी ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित रखते हुए आज हम सबको प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दे रहे हैं, उन्हीं की शुभ प्रेरणा से “कर्मग्रन्थ” का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है । प्रसन्नता ।

विनीत

—श्रीचन्द्र सुराना ‘सरस’

आ सु ख

जैन दर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्ति सम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है कर्म च आई मरणस्स मूलं—भगवान् श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशावर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान् और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर को तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में

कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन दिया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिये दुर्बोध है। थोकेड़ों में कर्म सिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गुंथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिये अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पांच भाग अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शनसम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान मनीषी पं० श्री मुखलाखजी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परम श्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरीजी महाराज साहब से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर सन्त ही इस अत्यन्त धर्मसाध्य एवं ध्येय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेवश्री का भी इस ओर आकर्षण हुआ और इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका, लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना को

सौंपा गया। श्री सुरानाजी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में रहे हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्वसाधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव की तथा संपादक बन्धुओं की इसकी सम्पूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। चार भागों के पश्चात् यह पाँचवाँ भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

यह पाँचवाँ भाग पहले के चार भागों से भी अधिक विस्तृत बना है, विषय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है। विद्वान् संपादक बन्धुओं ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थों के पर्यालोचन से विषय का तत्सम्पर्शी विवेचन किया है। आशा है, यह जिज्ञासु पाठकों की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

द्वितीय संस्करण

आज लगभग १३ वर्ष बाद “कर्मग्रन्थ” के पंचम भाग का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। इसे अनेक संस्थाओं ने अपने पाठ्यक्रम में रखा है। यह इस ग्रन्थ की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। काफी समय से ग्रन्थ अनुपलब्ध था, इस वर्ष प्रवर्तक श्री रूपचन्दजी महाराज साहब के साथ मद्रास चातुर्मास में इसके द्वितीय संस्करण का निश्चय हुआ, तदनुसार ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है।

आज पूज्य गुरुदेवश्री हमारे मध्य विद्यमान नहीं हैं, किन्तु जहाँ भी हैं, उनकी दिव्य शक्ति हमें प्रेरणा व मार्गदर्शन देती रहेगी। इसी शुभाशापूर्वक पूज्य गुरुदेवश्री की पुण्य स्मृति के साथ.....

—उपप्रवर्तक सुकनमुनि

कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धान्त का आशय

कर्मसिद्धान्त भारतीय चिन्तकों एवं ऋषियों के चिन्तन का नवनीत है। यथार्थ में आस्तिक दर्शनों का मुख्य आशय कर्मसिद्धान्त पर आधारित है। इसको यों भी कह सकते हैं कि आस्तिक दर्शनों की नींव ही कर्मसिद्धान्त है। भले ही कर्म के स्वरूप-निर्णय में मतैक्य न हो, पर अध्यात्मसिद्धि कर्ममुक्ति के बिन्दु पर फलित होती है। इसमें मतभिन्नता नहीं है। प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा की गयी है। जैनदर्शन में इसका चिन्तन बहुत ही विस्तार और सूक्ष्मता से किया गया है।

संसार के सभी प्राणधारियों में अनेक प्रकार की विषमतायें और विविधतायें दिखलाई देती हैं। इसके कारण के रूप में सभी आत्मवादी दर्शनों ने कर्मसिद्धान्त को माना है। अनात्मवादी बौद्धदर्शन में कर्मसिद्धान्त को मानने के सम्यन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि—

‘सभी जीव अपने कर्मों से ही फल का भोग करते हैं, सभी जीव अपने कर्मों के आप भालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म ही से ऊँचे और नीचे हुए हैं। (मिलिन्द प्रश्न पृ. ८०-८१)

आचार्य जयन्त ने भी यही बात बताई है—

जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादि भेदतः ।

कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः ॥

अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।

वचस्वित्फलमयत्नेऽपि दस्तेऽप्यफलता वचस्वित् ॥

तदेतद् दुर्घटं दृष्ट्यात्कारणाद् व्यभिचारिणः ।

तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य विञ्चन कारणम् ॥

(न्यायमञ्जरी पृ. ४९—उत्तरभाग)

अर्थात्—संसार में कोई सुखी है तो कोई दुःखी है । खेती, नौकरी बगैरह करने पर भी किसी को विशेष लाभ होता है और किसी को नुकसान उठाना पड़ता है । किसी को अकस्मात् सम्पत्ति मिल जाती है और किसी पर बैठे-बिठाये बिजली गिर पड़ती है । किसी को बिना प्रयत्न किये ही कृत्व-प्राप्ति हो जाती है और किसी को बल करने पर भी फल-प्राप्ति नहीं होती है । ये सब बातें किसी दृष्ट कारण की वजह से नहीं होती । अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिए ।

इसी तरह ईश्वरवादी भी प्रायः इसमें एक मत हैं कि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करहि सो तस फल चाखा ।

कर्म का स्वरूप

उपर्युक्त प्रकार से कर्मसिद्धान्त के बारे में ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियों, आत्मवादियों और अनात्मवादियों में मतैक्य होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद है ।

लौकिक भाषा में तो साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं । जैसे खाना-पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना इत्यादि । लेकिन कर्म का सिर्फ इतना ही अर्थ नहीं

है। इसीलिये परलोकवादी दार्शनिकों ने कर्म का विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया है। उनका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा और बुरा कार्य अपना एक संस्कार छोड़ जाता है। जिसे नैयायिक और वैशेषिक धर्माधर्म कहते हैं। योग उसे आशय और बौद्ध अनुशय नाम से सम्बोधित करते हैं। कर्म के अर्थ को स्पष्ट करने वाले उक्त नामों में भिन्नता है, लेकिन उनका तात्पर्य यह है कि जन्म-जरा-मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या, मिथ्यात्व से आलिप्त हैं। जिसके कारण वे संसार का वास्तविक स्वरूप समझने में असमर्थ रहते हैं। अतः उनका जो भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें रागद्वेष का अभिनिवेश—दुराग्रह होता है। इसलिए उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बन्धन का कारण होता है।

यदि उन दार्शनिकों के मन्तव्यों का सारांश निकाला जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अभिमतानुसार कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में रागद्वेष रहते हैं। यद्यपि यह प्रवृत्ति क्षणिक होती है किन्तु उसका संस्कार फल-काल तक स्थायी रहता है। जिसका परिणाम यह होता है कि संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा चलती रहती है और इसी का नाम संसार है। किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से भिन्न है।

जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म केवल संस्कारमात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तु-भूत पदार्थ है जो रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह धूल-मिल जाता है जैसे दूध में पानी। यद्यपि वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के कारण आकृष्ट होकर वह जीव के साथ बंध जाता है। ये पदार्थ छह दिशाओं से गृहीत, जीव प्रदेश के

क्षेत्र में स्थित, सूक्ष्म, कर्मप्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से बने होते हैं। आत्मा अपने सब प्रदेशों, सर्वांग से कर्मों को आकृष्ट करती है। प्रत्येक कर्मस्कन्ध या सभी आत्मप्रदेशों के साथ बन्धन होता है और वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरण आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों में निमित्त होते हैं। प्रत्येक आत्मप्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-पुद्गलस्कन्ध चिपके रहते हैं।

उक्त कथन का आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कारों की स्थायी मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन का मन्तव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा में आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है। कालान्तर में वही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है।

जैनदर्शन ने रागद्वेषमय आत्मपरिणति और उसके सम्बन्ध से आकृष्ट संश्लिष्ट भौतिक द्रव्य को क्रमशः भावकर्म और द्रव्यकर्म नाम दिया है। इनमें से भावकर्म की तुलना योगदर्शन की वृत्ति एवं न्याय-दर्शन की प्रवृत्ति से की जा सकती है परन्तु जैनदर्शन के कर्म स्वरूप में तथा अन्य दर्शनों के कर्म स्वरूप मानने में अन्तर है। जैनदर्शन में द्रव्यकर्म के बारे में माना है कि अपने चारों ओर जो कुछ भी हम अपने चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, वह पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार की वर्गणाओं में विभाजित है और उन वर्गणाओं में एक कर्मणवर्गणा है, जो समस्त संसार में व्याप्त है। यह कर्मणवर्गणा ही जीव के भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुवो ।

तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणाविभावेहि ॥

अर्थात्—जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में

लगती है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करता है । जो जीव के साथ बंध को प्राप्त हो जाता है ।

अमूर्त का मूर्त के साथ बंध

जीव अमूर्तिक है और कर्मद्रव्य मूर्तिक है । ऐसी दशा में उन दोनों का बन्ध ही सम्भव नहीं है । क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध तो हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे सम्भव है ?

इसका समाधान यह है कि अन्य दर्शनों की तरह जैनदर्शन ने जीव और कर्मप्रवाह को अनादि माना है । ऐसी मान्यता नहीं है कि जीव पूर्व में सर्वज्ञ शुद्ध था और बाद में उसके साथ कर्मों का बन्ध हुआ । क्योंकि इस मान्यता में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ हैं और शंकाएँ पैदा होती हैं । जीव और कर्म के अनादि सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने सयुक्तिक समाधान किया है जो इस प्रकार है—

जो छलु संसारथो जीवो ततो वु होवि परिणामो ।

परिणामावो कम्मं कम्मावो होवि गदिसु गदि ॥

अर्थात्—जो जीव संसार में स्थित है यानि जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं । उन परिणामों से नये कर्म बन्धते हैं और उन कर्मों के बंध से गतियों में जन्म लेना पड़ता है ।

उक्त वाक्य का तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक संसारी जीव अनादि काल से राग-द्वेषयुक्त है । उस राग-द्वेषयुक्तता के कारण कर्म बन्धते हैं । जिसके फलस्वरूप विभिन्न गतियों में पुनः-पुनः जन्म-मरण होते रहने से नवीन कर्मों का बन्ध और उस बंध से जन्म-मरण, संसार का चक्र अबाधगति से चलता रहता है ।

जब जन्म लेने से नवीन गति की प्राप्ति होती है तो उसके बाद के क्रम का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य कहते हैं कि—

गदिमधिगदस्त देहो देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते ।
 तेहिं वु विसयग्रहणं तत्तो रागो ज दोसो व ॥
 जायदि जीवस्तेवं भावो संसारचक्रवालम्भि ॥
 इधि जिणवरेहि भणियो अजादिणिधणो सणिधणो धा ॥

जन्म लेने पर शरीर होता है, शरीर में इन्द्रियां होती हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण करने से राग व द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस संसारचक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभ्यर्थ जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बंधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मों से बंधा है तब उसके जो नवीन कर्म बंधते हैं वे कर्म जीव में स्थित मूर्तिक कर्मों के साथ ही बंधते हैं। क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ संयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के साथ ही बंध होता है। इसलिये आत्मा में स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कर्म बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मद्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये। सारांश यह है कि जैनदर्शन में जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष-रूप भावों को कर्म कहा गया है। कर्म केवल जीव द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मों का नाम नहीं है किन्तु जीव के कर्मों के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर उसके साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे पुद्गल परमाणु भी कर्म कहलाते हैं और उन पुद्गल परमाणुओं के फलोन्मुख होने पर उनके निमित्त से जीव में जो कामक्रोधादि भाव होते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं।

सम्बन्ध की अनादिता

जैनदर्शन में वैदिकदर्शन के ब्रह्मतत्त्व के समान आत्मा को निर्मल,

विशुद्ध तत्त्व माना है। समयप्राभृत में आत्मा (जीव) के स्वरूप का निर्देश करते हुए इसे रसाहित, संहरहित, सम्यंरहित, जगरहित द्रव्यवत् और चेतना गुण वाला बतलाया है। वर्यापि तत्त्वार्थसूत्र में जीव को उपयोग लक्षण वाला लिखा है परन्तु इससे उक्त कथन का ही समर्थन होता है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये चेतना के भेद हैं। उपयोग शब्द से इन्हीं का बोध होता है।

जीव के सिवाय अन्य जो पदार्थ हैं, जिनमें ज्ञान-दर्शन नहीं पाया जाता, उन्हें अजीव कहते हैं। जड़, अचेतन यह अजीव के नामान्तर हैं। वैज्ञानिकों ने ऐसे जड़ पदार्थों की संख्या अनेक बतलाई है। परन्तु जैनदर्शन में वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पाँच बतलाये हैं। जिनके नाम हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें वैज्ञानिकों द्वारा बतलाये गये सब पदार्थों—तत्वों का समावेश हो जाता है। उक्त पाँच तत्वों के साथ जीव को मिलाने से छह तत्व होते हैं। इन छह तत्वों को छह द्रव्य कहते हैं।

उक्त छह द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभाव में कभी भी विपरिणाम—विकार नहीं होता है किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे हैं जो विकारी और अविकारी दोनों प्रकार के होते हैं। जब ये अन्य द्रव्य से संश्लेष रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभाव में अविकारी होते हैं। इस हिसाब से जीव और पुद्गल के दो-दो भेद हो जाते हैं। संसारी और मुक्त, ये जीव के दो भेद हैं तथा अणु और स्कन्ध, ये पुद्गल के दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्था में अविकारी है और संसारी अवस्था में विकारी। पुद्गल अणु अवस्था में अविकारी और स्कन्ध अवस्था में विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्रव्य से संश्लेष रहते हैं तब तक उस संश्लेष के कारण उनके स्वभाव में विपरिणति हुआ करती है। इस-

लिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्लेष के हटते ही वे अविकारी हो जाते हैं ।

जीव और पुद्गलों का अन्य द्रव्य से संश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है । अन्य द्रव्यों में यह योग्यता नहीं है । ऐसी योग्यता का निर्देश करते हुए जीव में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप तथा पुद्गल में उसे स्निग्ध और रुक्ष गुण रूप बतलाया है । जीव मिथ्यात्व आदि के निमित्त से अन्य द्रव्य से बंधता है और पुद्गल स्निग्ध और रुक्ष गुण के निमित्त से अन्य द्रव्य से बंध को प्राप्त होता है ।

जीव में मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है और इससे वह कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करके मलिन बनता है । परन्तु वह कर्मवर्गणाओं को ग्रहण कब से कर रहा है, इन दोनों का सम्बन्ध कबसे जुड़ा ? तो इसका समाधान अनादि शब्द के द्वारा किया जा सकता है । क्योंकि आदि मानने पर अनेक विसंगतियां आती हैं । जैसे -- सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले आत्मा है या कर्म हैं या युगपद् दोनों का सम्बन्ध है । पहले प्रकार में शुद्ध आत्मा कर्म करती नहीं है । दूसरे भंग में कर्म कर्त्ता के अभाव में बनते नहीं हैं । तीसरे भंग में युगपद् जन्म लेने वाले कोई भी दो पदार्थ परस्पर कर्त्ता-कर्म नहीं बन सकते हैं । इसलिये कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध मानना युक्तिसंगत है ।

हरिभद्रसूरि ने योगशतक श्लोक ४५ में आत्मा और कर्म के अनादित्व को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है कि अनुभव तो वर्तमान समय का करते हैं, फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना । यह वर्तमान का प्रवाह कब से चला आ रहा है, इस प्रश्न का उत्तर अनादि के द्वारा ही दिया जाता है । इसी प्रकार कर्म और

आत्मा का सम्बन्ध प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। परन्तु यहाँ यह जानना चाहिए कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्णमृत्तिका की तरह अनादि-सान्त है। जैसे अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वर्ण को विशुद्ध किया जा सकता है, वैसे ही शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

आत्मा के साथ कर्मबन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की है—१—प्रकृति-बन्ध, २—स्थितिबन्ध, ३—अनुभागबन्ध, ४—प्रदेशबन्ध। ग्रहण के समय कर्मपुद्गल एकरूप होते हैं। किन्तु बन्धकाल में उनमें आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है। इसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। उनमें समय की मर्यादा का निर्धारण होना स्थितिबन्ध है। आत्मपरिणामों की तीव्रता और मंदता के अनुरूप कर्मबन्धन में तीव्र रस और मंद रस का होना अनुभाग बन्ध कहलाता है और कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकीभाव या कर्मप्रदेशों की संख्या का निर्धारण होना प्रदेशबन्ध है। प्रथम कर्मग्रन्थ में मोदक के दृष्टान्त द्वारा कर्मबन्ध के इन चारों प्रकारों को बहुत ही सुन्दर रीति से स्पष्ट किया गया है। जैसे मोदक पित्तनाशक है या कफनाशक है, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है, वह मोदक कितने काल तक अपने स्वभाव रूप में बना रहेगा, यह उसकी स्थिति है। उसकी मधुरता या कटुता का तात्तम्य रस पर अवलम्बित है और मोदक का वजन कितना है, यह उसके परमाणुओं पर निर्भर है। इस प्रकार मोदक का यह रूपक कर्मबन्धन की प्रक्रिया का यथार्थ निर्देशन कर देता है।

उक्त प्रकृतिबन्ध आदि बन्ध के चार प्रकारों में से आत्मा को योग शक्ति प्रकृति और प्रदेशबन्ध की कारण है और स्थिति एवं अनुभाग बन्ध के कारण काषायिक परिणाम हैं। कर्मबन्धन दो तरह का होता

है—१—सांपरायिक, एवं २—ईर्यापथिक बन्ध । सकषायी का बन्ध सांपरायिक होता है । यह अनन्त संसार का कारण है और अकषायी का बन्ध ईर्यापथिक होता है, जिसमें प्रथम समय में कर्म परमाणु आत्मा के साथ बंधते हैं और दूसरे समय में निर्जोर्ण हो जाते हैं । यह बन्ध आत्मा पर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं दिखलाता है ।

वस्तु के निरूपण की जैनदर्शन में दो दृष्टियाँ हैं—जिन्हें निश्चय-नय और व्यवहारनय कहते हैं । जो परनिमित्त के बिना वस्तुस्वरूप का कथन करता है उसे निश्चयनय कहते हैं और परनिमित्त की अपेक्षा से जो वस्तु का कथन करता है, वह व्यवहारनय है । जैनदर्शन में जीव के कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विचार भी इन दोनों नयों से किया गया है ।

कर्म का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है और यह भी संकेत किया गया है कि कर्म का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है । इन कर्मों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे में जब हम निश्चय दृष्टि से विचार करते हैं तो जीव न तो द्रव्य कर्मों का कर्त्ता ही प्रमाणित होता है और न उनके फल का भोक्ता ही । क्योंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं, पुद्गल द्रव्य के विकार हैं, इसीलिए पर हैं । उनका कर्त्ता चेतन जीव नहीं हो सकता है । चेतन का कर्म अचेतन्य रूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतन रूप । यदि चेतन का कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर संसार दोष उपस्थित हो जायेगा । इसका फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता नहीं है । जैसे जल का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि का सम्बन्ध होने से उष्ण हो जाता है । किन्तु इस उष्णता का कर्त्ता जल को नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उष्णता तो अग्नि का धर्म है और वह जल में अग्नि के सम्बन्ध से आई है, अतः आरोपित है । अग्नि का सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है । इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर जो पुद्गलद्रव्य कर्म

रूप परिणत होते हैं, उनका कर्त्ता स्वयं पुद्गल है, जीव उनका कर्त्ता नहीं हो सकता है, जीव तो अपने भावों का कर्त्ता है। इसी बात को समयप्राभूत गाथा ८६-८८ में स्पष्ट किया है, जिसका सारांश है—

जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावों को करता है किन्तु उन भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल कर्म रूप परिणत हो जाते हैं तथा कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्त को पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पुद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तो भी न तो जीव पुद्गल कर्मों के गुणों का कर्त्ता है और न पुद्गल कर्म जीव के गुणों के कर्त्ता है, किन्तु परस्पर में दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है, पुद्गलकर्मकृत समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

उक्त कथन पर यह शंका हो सकती है कि जैनदर्शन भी सांख्य-दर्शन के पुरुष की तरह आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता और प्रकृति की तरह पुद्गल को ही कर्त्ता मानता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। सांख्यदर्शन का पुरुष तो सर्वथा अकर्त्ता है किन्तु जैनदर्शन में आत्मा का सर्वथा अकर्त्ता नहीं माना है। वह अपने स्वाभाविक भाव-ज्ञान, दर्शन, सुख आदि तथा वैभाविक भाव—रागद्वेष, मोह आदि का कर्त्ता है किन्तु उनके निमित्त से जो पुद्गलों में कर्म रूप परिणमन होता है, उसका वह कर्त्ता नहीं है। उक्त कथन का सारांश यह है कि वास्तव में उपादान-कारण को ही किसी वस्तु का कर्त्ता कहा जा सकता है तथा निमित्तकारण में जो कर्त्ता का व्यवहार किया जाता है, वह व्यावहारिक लौकिक दृष्टि से किया जाता है। कर्तृत्व के बारे में जो बात कही गई है, वही भोक्तृत्व के बारे में भी जामनी चाहिए। जो जिसका कर्त्ता होता है वही उसका भोक्ता हो सकता है और जो

जिसका कर्त्ता ही नहीं वह उसका भोक्ता कैसे हो सकता है ? इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बारे में दृष्टिभेद से जैनदर्शन की द्विविध व्याख्या है कि वास्तव में तो आत्मा अपने ही स्वाभाविक और वैभाविक भावों का कर्त्ता और भोक्ता है लेकिन व्यवहार से उसे स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले सुख-दुःखादि का भोक्ता कहा जाता है ।

इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का नियन्ता नहीं मानता है, अतः कर्मफल देने में भी उसका हाथ नहीं है, कर्म अपना फल स्वयं देते हैं । उनके लिए अन्य न्यायाधीशों की आवश्यकता नहीं है । जैसे शराब नशा पैदा करती है और दूध ताकत देता है । जो मनुष्य शराब पीता है उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है उसके शरीर में पुष्टि आती है । शराब या दूध पीने के बाद यह आवश्यकता नहीं रहती है कि उसका फल देने के लिए दूसरी नियामक शक्ति हो । इसी प्रकार जीव के प्रत्येक कार्यात्मक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्द के द्वारा जो कर्म परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं तथा रागद्वेष का निमित्त पाकर उसमें बंध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह शुभ या अशुभ करने की शक्ति रहती है जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव दिखलाती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो उसे सुखदायक और दुःखदायक होते हैं । यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म-परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में उससे अच्छा फल मिलता है तथा यदि भाव बुरे हों तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में फल भी बुरा ही मिलता है ।

यदि ईश्वर को फलदाता माना जाये तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है, वहाँ घातक को दोष का भागी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर मरने वाले को मृत्यु का

दण्ड दिलाता है। जैसे राजा जिन पुरुषों के द्वारा अपराधियों को दण्ड दिलाता है, वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते, क्योंकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते हैं। इसी तरह किसी का घात करने वाला घातक भी जिसका घात करता है, उसके पूर्वकृत कर्मों का फल भुगत-वाता है, क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मों की यही सजा नियत की होगी, तभी तो उसका वध किया गया है। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है अतः घातक का कार्य ईश्वरप्रेरित नहीं है किन्तु उसकी स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है तो कहना होगा कि संसार दशा में कोई भी प्राणी वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं, सभी अपने-अपने कर्मों से बंधे हुए हैं—“कर्मणा बध्यते जन्तु” (महाभारत) और कर्म की अनादि परम्परा है। ऐसी परिस्थिति में ‘बुद्धि कर्मानुसारिणी’ अर्थात्—कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है, के न्यायानुसार किसी भी काम को करने या न करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

इस स्थिति में यह कहा जाय कि ऐसी दशा में तो कोई भी व्यक्ति मुक्ति लाभ नहीं कर सकेगा क्योंकि जीव कर्म से बंधा हुआ है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्ति लाभ और कुमार्ग पर चलने से कर्म-बंध होता है। ऐसी दशा में बुद्धि के कर्मानुसारिणी होने से मुक्ति लाभ में कोई बाधा नहीं आती है।

आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य

साधारणतया कहा जाता है कि आत्मा कर्मों के कर्तृत्व काल में स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल में परतन्त्र। जैसे कि विष खाने के बारे

में मनुष्य स्वतन्त्र है, वह चाहे या न चाहे, लेकिन विष खा लेने के बाद मृत्यु से बचना उसके हाथ की बात नहीं है। यह एक स्थूल उदाहरण है, क्योंकि उपचार से निर्विष भी हुआ जा सकता है, मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा में भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों अवसरों पर स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य फलित होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे करते हैं—

सहजतया आत्मा कर्म कारण में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर पूर्ण विजय प्राप्त करके शुद्ध बन कर मुक्त हो सकती है। किन्तु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह जैसा चाहे वैसा कभी भी नहीं कर सकती है। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है, किन्तु कर्मोदय की बलवन्ता से उस मार्ग पर चल नहीं पाती है, फिसल जाती है। यह है आत्मा का धर्तृत्व काल में स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा पराधीन—कर्माधीन ही बन जाती है, ऐसा नहीं है। उस स्थिति में भी आत्मा का स्वातंत्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है, स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है, विपाक (फलोदय) का अनुदय कर सकती है, फलोदय को अन्य रूप में परिवर्तित कर सकती है। इसमें आत्मा का स्वातंत्र्य मुखर है। परतन्त्रता इस दृष्टि से है कि जिन कर्मों को ग्रहण किया है, उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती है। भले ही सुदीर्घ काल तक भोगे जाने वाले कर्म छोड़े समय में ही भोगे जायें, किन्तु सबको भोगना ही पड़ता है।

कर्मभोग के प्रकार

जीव द्वारा कर्म फल के भोग को कर्म की उदयावस्था कहते हैं। उदयावस्था में कर्म के शुभ या अशुभ फल का जीव द्वारा वेदन किया

जाता है। यह कर्मोदय दो प्रकार का है—(१) प्रदेशोदय और (२) विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग सिर्फ प्रदेशों में होता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं और जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते हैं, वह विपाकोदय है। कर्मों का विपाकोदय ही आत्मा के गुणों को रोकता है और नवीन कर्मबन्ध में योग देता है। जबकि प्रदेशोदय में नवीन कर्मों के बन्ध करने की क्षमता नहीं है और न वह आत्मगुणों को आवृत करता है। कर्मों के द्वारा आत्मगुण प्रकट रूप से आवृत होने पर भी कुछ अंशों में सदा अनावृत ही रहते हैं, जिससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता रहता है। कर्मावरणों के सघन होने पर भी उन आवरणों में ऐसी क्षमता नहीं है जो आत्मा को असात्मा, चेतन को जड़ बना दें।

कर्मक्षय की प्रक्रिया

जैनदर्शन की कर्म के बन्ध, उदय की तरह कर्मक्षय की प्रक्रिया भी सयुक्तिक और सम्भोरता लिए हुए है। स्थिति के परिपाक होने पर कर्म उदयकाल में अपना बदन कराने के बाद झड़ जाते हैं। यह तो कर्मों का सहज क्षय है। इसमें कर्मों को परम्परा का प्रवाह नष्ट नहीं होता है। पूर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं लेकिन साथ ही नवीन कर्मों का का बन्ध चालू रहता है। यह कर्मों के क्षय की यथार्थ प्रक्रिया नहीं है। कर्मों का विशेष रूप से क्षय करने के लिए जिससे आत्मा अ-कर्म होकर मुक्त हो सके, विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न संयम, तप, त्याग आदि साधनों द्वारा किए जाते हैं। अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान तक तो उक्त साधनों द्वारा कर्मक्षय विशेष रूप से होता रहता है और सातवें गुणस्थान में आत्म-शक्ति में प्रौढ़ता आने के बाद जब आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान की प्राप्ति करती है तो विशेष रूप से कर्मक्षय करने के लिए विशेष प्रकार की प्रक्रिया होती है। वह इस प्रकार है—(१) अपूर्व स्थितिघात (२) अपूर्व रसधात, (३) गुण श्रेणि, (४) संक्रमण, (५) अपूर्व स्थितिबन्ध।

उक्त पाँचों का सामान्य विवेचन इस तरह है—

सर्वप्रथम आत्मा अपवर्तनकरण के द्वारा कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर गुणश्रेणि का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है कि—उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम उदयात्मक समय को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त के शेष जितने समय हैं, इनमें कर्मदलिकों को क्रमबद्ध श्रेणी रूप से स्थापित किया जाता है। प्रथम समय में स्थापित कर्मदलिक सबसे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कर्मदलिक प्रथम समय में स्थापित कर्मदलिकों से असंख्यात गुणे अधिक, तीसरे समय में द्वितीय समय से भी असंख्यात गुणे अधिक होते हैं। यह क्रम अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक जानना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक समय कर्मदलिकों की स्थापना असंख्यात गुणों अधिक होने के कारण इसे गुणश्रेणि कहा जाता है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति के कर्मों का बन्धन करती है, जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है। अतः इस अवस्था का बंध अपूर्व स्थितिबंध कहलाता है। स्थितिघात और रसघात भी इस समय में अपूर्व होता है। गुण-संक्रमण में अशुभ कर्मों की शुभकर्म रूप परिणति होती जाती है।

अष्टम गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में ज्यों-ज्यों आत्मा बढ़ती है, त्यों-त्यों अल्प समय में कर्मदलिक अधिक मात्रा में क्षय होते जाते हैं।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति में बढ़ती हुई आत्मा जब परमात्मशक्ति को जागृत करने के लिए सन्नद्ध हो जाती है, आयु अल्प रहता है एवं कर्मदलिक अधिक रहते हैं तब इन अधिक स्थिति और दलिकों वाले कर्मों को आयु के समय के बराबर करने के लिए केवलीसमुद्घात होता है। इस समुद्घात काल में अधिक शक्तिशाली माने जाने वाले कर्मों को आत्मा अपने वीर्य से पराजित कर दुर्बल बना देती है।

उनकी स्थिति और संख्या, प्रदेश उतने ही रह जाते हैं जितने कि आयुकर्म के रहते हैं। ऐसा होने पर जेप रहे कर्मों का आयुकर्म की समग्रस्थिति के साथ ही क्षय हो जाने से आत्मा पूर्ण निष्कर्म होकर सिद्ध-बुद्ध हो जाती है। यही आत्मा का लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने में आत्मा के पुरुषार्थ की सफलता है।

इस प्रकार से जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप से निरूपण किया गया है। जिसमें अनेक उलझी हुई श्रुतियों को सुलझाया है। विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित किया है और आत्मा में स्वतन्त्रता प्राप्ति का उत्साह जगता है। स्वपुरुषार्थ पर विश्वास करने की प्रेरणा मिलती है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत शतक नामक कर्मग्रन्थ श्री देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्मग्रन्थों में पाँचवाँ कर्मग्रन्थ है। इसके पूर्व के चार कर्मग्रन्थ क्रमशः (१) कर्मविपाक (२) कर्मस्तव, (३) बंधस्वामित्व, (४) षडशीति नामक इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। उन कर्मग्रन्थों की प्रस्तावना में उनके बारे में परिचय दिया गया है। यहाँ उसी क्रम से इस पंचम कर्मग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस पंचम कर्मग्रन्थ में प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन-कौन प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताक, अध्रुवसत्ताक, सर्वदेशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान, अपरावर्तमान हैं, यह बतलाया है।

उसके बाद उन्हीं प्रकृतियों में बौन-कौन क्षेत्रविपाकी, जीव-विपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी हैं, यह बताया गया है।

अनन्तर कर्म प्रकृतियों के प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार प्रकार के बन्धों का स्वरूप बतलाया है। प्रकृतिबन्ध के कथन के प्रसंग में मूल तथा उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार,

अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्धों को गिनाया है । स्थितिबन्ध को बतलाते हुए मूल तथा उत्तर प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवों के उसका प्रमाण निकालने की रीति और उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामियों का वर्णन किया है । अनुभाग (रस) बन्ध को बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियों में तीव्र या मन्द रस पड़ने के कारण, शुभाशुभ रस का विशेष स्वरूप, उत्कृष्ट व जघन्य अनुभाग बंध के स्वामी आदि का वर्णन किया है । प्रदेशबंध का वर्णन करते हुए वर्गणाओं का स्वरूप, उनकी अवगाहना, बद्धकर्म-दलिकों का मूल एवं उत्तर प्रकृतियों में बंटवारा, कर्मक्षपण की कारण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणी रचना का स्वरूप, गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसंगवश पल्योपम, सागरोपम और पुद्गलपरावर्त के भेदों का स्वरूप, उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी, योगस्थान वगैरह का अल्पबहुत्व और प्रसंगवश लोक वगैरह का स्वरूप बतलाया है ।

अन्त में उपशमश्रणि और क्षपकथ्येणि का कथन करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया है ।

पंचम कर्मग्रन्थ की रचना का आधार—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने इस नवीन कर्मग्रन्थों के नाम प्राचीन कर्मग्रन्थों के आधार पर ही रखे हैं तथा उनके आधार पर ही इनकी रचना हुई है । इसका प्रमाण यह है कि पंचम कर्मग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ में श्री देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन शतक के प्रणेता श्री शिवशर्मसूरि का स्मरण किया है और अन्त में लिखा है कि कर्मप्रकृति पंचसंग्रह, बृहत्शतक आदि ग्रन्थों के आधार पर इस शतक की रचना की है । इसके अतिरिक्त इसकी रचना के मुख्य आधार कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह प्रतीत होते हैं । क्योंकि इसकी टीका में अनेक स्थानों में संदर्भ ग्रन्थों के रूप में कर्मप्रकृति चूणि, कर्मप्रकृति टीका, पंचसंग्रह

और पंचसंग्रह टीका का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रन्थों का उल्लेख विशेषरूप से नहीं हुआ है। शतक की अनेक गाथाओं पर पंचसंग्रह की स्पष्ट छाप है, कहीं-कहीं तो थोड़ा-सा ही परिवर्तन पाया जाता है। शतक की ३६ वीं गाथा का विवेचन ग्रन्थकार ने पहले पंचसंग्रह के अभिप्रायानुसार किया है और उसके बाद कर्मप्रकृति के अभिप्रायानुसार। कर्म प्रकृति और पंचसंग्रह में कुछ बातों को लेकर मतभेद है। कर्मप्रकृति का मत प्राचीन प्रतीत होता है फिर भी कहीं-कहीं कर्मग्रन्थकार का झुकाव पंचसंग्रह के मत की ओर विशेष जान पड़ता है। यद्यपि उन्होंने दोनों मतों को समान भाव से अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है और कर्मप्रकृति को स्थान-स्थान पर प्रमाण रूप में उपस्थित किया है तो भी पंचसंग्रह के मत को उद्धृत करते हुए कहीं-कहीं उसे अग्रस्थान देने से भी वे नहीं चूके हैं। अतएव यह कहना होगा कि विशेष इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने शतक की रचना की है।

इस प्रकार से प्राक्कथन के रूप में कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी कुछ एक पहलुओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालने के साथ ग्रन्थ की रूपरेखा बतलाई है। इन विचारों के प्रकाश में कर्मसाहित्य का विशेष अध्ययन किया जाये तो कर्मसिद्धान्त का अच्छा ज्ञान हो सकता है। यद्यपि कर्मसाहित्य अपनी गंभीरता के कारण अभ्यासियों को नीरस प्रतीत होता है, लेकिन क्रम-क्रम से इसके अध्ययन को बढ़ाया जाये तो बहुत ही सरसता से समझ में आ जाता है। इसके लिये आवश्यक है जिज्ञासावृत्ति और सतत अभ्यास करते रहने का अदम्य उत्साह। पाठकगण उक्त संकेत को ध्यान में रखकर कर्मग्रन्थ का अध्ययन करेंगे, यही आकांक्षा है।

सम्पादक—

श्रीचन्व सुराना
देवकुमार जैन

अनुक्रमणिका

गाथा १	१—६
मंगलाचरण	२
ग्रन्थ के वर्ण्य-विषयों का संकेत	४
कर्मवन्ध वर्ण्य-विषयों की परिभाषाएं	५
गाथा २	६—१४
ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नाम	१०
मूलकर्म प्रकृतियों की अपेक्षा ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का वर्गीकरण	१०
ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के ध्रुवबन्धित्व का कारण	११
गाथा ३, ४	१४—२२
अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नाम	१५
अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का मूल कर्मों की अपेक्षा वर्गीकरण	१५
अध्रुवबन्धिनी मानने का कारण	१६
कर्मबन्ध और कर्मोदय दशा में होने वाले भंगों का कारण	२०
अनादि, अनन्त आदि चार भंगों का स्वरूप	२१
गाथा ५	२२—२६
ध्रुव और अध्रुव बन्ध, उदय प्रकृतियों में उक्त भंगों के विधान का सोपपत्तिक वर्णन	२३
गो० कर्मकाण्ड में प्रदर्शित भंगों के साथ तुलना	२५
गाथा ६	२६—२८
ध्रुवोदय प्रकृतियों के नाम	२७
ध्रुवोदय प्रकृतियों का मूल कर्म प्रकृतियों की अपेक्षा वर्गीकरण	२७
उक्त प्रकृतियों को ध्रुवोदया मानने का कारण	२८

गाथा ७	२६-३६
अध्रुवोदय प्रकृतियों के नाम	२६
उक्त प्रकृतियों के अध्रुवोदय होने का कारण	३०
बन्ध एवं उदय प्रकृतियों में अनादि, अनन्त आदि भगों का स्पष्टीकरण	३१
गाथा ८, ९	३६-४१
ध्रुव और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों के नाम	३७
ध्रुव और अध्रुव सत्ता प्रकृतियों के कथन करने वाली संज्ञाओं का विवरण	३८
ध्रुव और अध्रुव सत्ता प्रकृतियों की संख्या अल्पाधिक होने का कारण	३९
१३० प्रकृतियों के ध्रुव सत्ता वाली होने का कारण	४०
१८ प्रकृतियों के अध्रुव सत्ता वाली होने का स्पष्टीकरण	४१
गाथा १०, ११, १२	४२-५१
गुणस्थानों में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता का विचार	४३
मिथ मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता का नियम	४६
आहारक सप्तक और तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता का नियम	४८
मिथ्यात्व आदि पन्द्रह प्रकृतियों की सत्ता का गुणस्थानों में विचार करने का कारण	५१
गाथा १३, १४	५२-६२
सर्वधातिनी, देशधातिनी और अधातिनी प्रकृतियाँ	५३
प्रकृतियों के धाति और अधाति मानने का कारण	५३
सर्वधातिनी प्रकृतियाँ कौन-कौनसी और क्यों ?	५४
देशधातिनी प्रकृतियाँ कौन-कौनसी हैं और क्यों ?	५६
सर्वधाति और देशधाति प्रकृतियों का विशेष स्पष्टीकरण	५६

अघाति प्रकृतियाँ कौन-कौनसी हैं	६१
गाथा १५, १६, १७	६२-६७
पुण्य और पाप प्रकृतियाँ कौन-सी हैं और क्यों ?	६४
गाथा १८	६७-६९
अपरावर्तमान प्रकृतियाँ	६८
अपरावर्तमान शब्द की व्याख्या	६८
मिथ्यात्व प्रकृति को अपरावर्तमान मानने का कारण	६९
गाथा १९	६९-७४
परावर्तमान की व्याख्या	७०
परावर्तमान प्रकृतियाँ	७०
विपाक का लक्षण और भेद	७१
कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबंधी आदि भेदों का विवरण	७२
क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ	७३
आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्रविपाकी मानने का कारण	७३
गाथा २०	७४-७६
जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियाँ	७५
गाथा २१	७६-८८
पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ कौन-कौन और क्यों ?	७७
रति, अरति मोहनीय का विपाक सम्बन्धी स्पष्टीकरण	७९
गति नामकर्म भवविपाकी क्यों नहीं	८०
आनुपूर्वी नामकर्म विषयक स्पष्टीकरण	८१
कर्म प्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेदों का यन्त्र	८२
बंध के भेद और उनका स्वरूप	८२
गाथा २२	८८-९४
मूल प्रकृतिबंध के बंधस्थान और उनमें भ्रूयस्कर आदि बंधों का विवेचन	८८
मूल प्रकृतियों में बंधस्थानों की संख्या	८९

मूल प्रकृतियों में भूयस्कर बंध की संख्या का विवेचन	६०
मूल प्रकृतियों में अल्पतर बंध की संख्या	६३
मूल प्रकृतियों में अवस्थित बंध की संख्या	६४
मूल प्रकृतियों में अवक्तव्य बंध न होने का कारण	६४
गाथा २३	६४-६६
भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण	६५
भूयस्कार आदि बंधों विषयक विशेष स्पष्टीकरण	६६
गाथा २४	६६-१०६
दर्शनावरण कर्म के बन्धस्थान आदि की संख्या	१०१
मोहनीय कर्म के बन्धस्थान की संख्या	१०३
मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बन्ध	१०५
गाथा २४	१०७-११५
नामकर्म के बन्धस्थानों का विवेचन	१०७
नामकर्म के बन्धस्थानों में भूयस्कार आदि बन्ध	१११
नामकर्म के बन्धस्थानों में सातवें भूयस्कार के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण	११२
आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थान तथा भूयस्कार आदि बंधों का कोष्टक	११६
गाथा २६, २७	११५-१२२
मूल कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति	११७
मूल कर्मों की जघन्य स्थिति व उसका स्पष्टीकरण	११८
गाथा २८	१२२-१२४
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति	१२३
असाता वेदनीय और नामकर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति	१२३

गाथा २६	१२४-१२५
कषायों की उत्कृष्ट स्थिति	१२५
वर्णचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति	१२५
गाथा ३०	१२६-१२७
दस और पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति	
वाली प्रकृतियों के नाम	१२६
गाथा ३१, ३२	१२७-१३२
बीस कोड़ा बीसों सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली	
प्रकृतियों के नाम	१२८
उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में अवाधाकाल का प्रमाण	१२९
गाथा ३३	१३२-१३६
आहारकृत्तिक और तीर्थकर नाम की उत्कृष्ट व जघन्य	
स्थिति और अवाधाकाल	१३२
तीर्थकर नामकर्म का स्थिति सम्बन्धी शंका-समाधान	१३३
मनुष्य और तिर्यन्व आयु की उत्कृष्ट स्थिति	१३६
गाथा ३४	१३७-१४२
एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी जीव के आयुक्रम के	
उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण	१३७
आयुक्रम के अवाधाकाल सम्बन्धी विचार	१३९
गाथा ३५	१४३-१४४
पन्द्रह घाति और तीन अघाति प्रकृतियों की जघन्यस्थिति	१४३
गाथा ३६	१४४-१४९
संज्वलनत्रिक व पुरुषवेद की जघन्य स्थिति	१४३
शेष उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति निकालने के लिये	
सामान्य नियम	१४६
गाथा ३७, ३८	१४९-१५४
एकेन्द्रिय जीव के उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य	

स्थितिबन्ध का प्रमाण	१५०
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	
के उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्ध का प्रमाण	१५३
आयुर्कर्म की उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति	१५४
गाथा ३६	१५५-१५६
जघन्य अबाधा का प्रमाण	१५५
तीर्थंकर और आहारकट्टिक नामकर्म की जघन्य स्थिति के	
सम्बन्ध में मतान्तर	१५६
गाथा ४०, ४१	१५७-१६०
क्षुल्लकभव के प्रमाण का विवेचन	१५८
गाथा ४२	१६०-१६८
तीर्थंकर, आहारकट्टिक और देहायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	
के स्वामी व तत्सम्बन्धी शंका-समाधान	१६१
शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी	१६६
गाथा ४३, ४४, ४५	१६८-१७६
चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव किन-किन प्रकृतियों के	
उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी हैं ?	१६९
जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामियों का कथन	१७४
गाथा ४६	१७६-१८०
मूल कर्म प्रकृतियों के स्थितिबन्ध के उत्कृष्ट आदि भेदों	
में सादि वगैरह भंगों का विचार	१७७
गाथा ४७	१८०-१८३
उत्तर कर्म प्रकृतियों के स्थितिबन्ध के उत्कृष्ट आदि भेदों	
में सादि वगैरह भंगों का विचार	१८१
गाथा ४८	१८४-१८७
गुणस्थानों की अपेक्षा स्थितिबन्ध का विचार	१८४

गाथा ४६, ५०, ५१	१८७-१८५
एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा स्थितिबंध में अल्पबहुत्व का विचार	१८८
गाथा ५२	१८६-१८६
स्थितिबंध के शुभत्व और अशुभत्व का कारण	१८६
स्थितिबंध और अनुभागबंध सम्बन्धी स्पष्टीकरण	१८७
गाथा ५३, ५४	१८६-२०६
योग और स्थितिस्थान का लक्षण	२००
जीवों की अपेक्षा योग के अल्पबहुत्व और स्थितिस्थान का विचार	२०२
गाथा ५५	२०६-२०८
अपर्याप्त जीवों के प्रतिसमय होने वाली योगवृद्धि का प्रमाण	२०६
स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थानों का प्रमाण	२०७
गाथा ५६, ५७	२०८-२१३
पंचेन्द्रिय जीव के जिन इकतालीस कर्म प्रकृतियों का बंध अधिक से अधिक जितने काल तक नहीं होता, उन प्रकृतियों और उनके अबन्ध काल का निरूपण	२०९
गाथा ५८	२१४-२१५
उक्त इकतालीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट अबन्धकाल का स्पष्टीकरण	२१४
गाथा ५९, ६०, ६१, ६२	२१६-२२४
अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियों के निरन्तरबंध काल का निरूपण	२१८
गाथा ६३, ६४	२२४-२३३
शुभ और अशुभ प्रकृतियों में तीव्र तथा मन्द अनुभाग बंध का कारण	२२४

तीव्र तथा मन्द अनुभावा बंध के चार-चार विकल्प तथा उनके होने का कारण	२२७
गाथा ६५	२३३-२३६
शुभ और अशुभ रस का विशेष स्वरूप	२३४
गाथा ६६, ६७, ६८	२३६-२४३
सब कर्म प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबंध के स्वामियों का विवेचन	२३७
गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७३	२४३-२५८
सब कर्म प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबंध के स्वामियों का निरूपण	२४४
गाथा ७४	२५८-२६५
मूल और उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग बंध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि विकल्पों में सादि वगैरह भंगों का विचार	२५९
गाथा ७५, ७६, ७७	२६६-२७८
प्रदेशबंध का स्वरूप	२६७
वर्गणा का लक्षण	२६७
ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का स्वरूप	२६८
वर्गणाओं की अवगाहना का प्रमाण	२७७
गाथा ७८, ७९	२७८-२८५
जीव के ग्रहण करने योग्य कर्मदलिकों का स्वरूप	२७९
परमाणु का स्वरूप	२७९
गुरुलघु और अगुरुलघु	२८१
रसाणु का स्वरूप	२८२
जीव की कर्मदलिकों को ग्रहण करने की प्रक्रिया	२८४
गाथा ७९, ८०	२८५-२८९
जीव द्वारा ग्रहीत कर्मदलिकों का मूल कर्मप्रकृतियों में	

विभाग का क्रम	२८६
गाथा ८१	२८६-२८६
मूल कर्मों में विभक्त कर्मदलिकों का उत्तर प्रकृतियों	
विभाग का क्रम	२८६
गाथा ८२	२८७-३०१
गुणश्रेणियों की संख्या और उनका वर्णन	२८७
गाथा ८३	३०१-३०६
गुणश्रेणि का स्वरूप	३०२
प्रत्येक गुणश्रेणि में होने वाली निर्जरा का प्रमाण	३०५
गाथा ८४	३०६-३१३
गुणस्थानों के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल का वर्णन	३०६
गाथा ८५	३१३-३२३
पल्योपम और सागरोपम के भेदों का विवेचन	३१४
अंगुल के भेदों की व्याख्या	३२१
गाथा ८६, ८७, ८८	३२३-३२३
पुद्गल परावर्त के भेद	३२४
बादर और सूक्ष्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल	
परावर्तों का स्वरूप	३२७
गाथा ८९	३२४-३३६
उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी	३३५
गाथा ९०, ९१, ९२	३३६-३४४
मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रदेशबंध	
के स्वामियों का निरूपण	३३७
गाथा ९३	३४४-३४८
मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा जघन्य प्रदेशबंध	
के स्वामियों का विवेचन	३४५

गाथा ६४	३४८-३५४
प्रदेशबंध के सादि बगैरह भंग	३४६
गाथा ६५, ६६	३५४-३६२
योगस्थान, प्रकृति, स्थितिबंध, स्थितिबन्धाध्यवसाय- स्थान, अनुभाग-बंधाध्यवसाय-स्थान, कर्मप्रदेश और रमच्छेद का परस्पर में अल्पबहुत्व	३५५
प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंध के कारण	३६१
गाथा ६७	३६२-३७०
लोक का स्वरूप	३६२
लोक का आधार व आकार	३६४
अधोलोक का समीकरण	३६६
ऊर्ध्वलोक का समीकरण	३६८
श्रेणि और प्रतर का स्वरूप	३६६
गाथा ६८	३७१-३८६
उपशमश्रेणि का वर्णन	३७१
अनन्तानुबंधी कषाय के उपशम की विधि	३७२
दर्शनत्रिक का उपशम	३७५
चारित्रमोहनीय का उपशम	३७६
उपशमश्रेणि से पतित होने पर गुणस्थानों में आने का क्रम	३८२
उपशमश्रेणि से गिरकर क्षपकश्रेणि पर चढ़ने विषयक मतभिन्नता	३८२
उपशम और क्षयोपशम में अन्तर	३८५
गाथा ६९, १००	३८७-३९७
क्षपकश्रेणि का स्वरूप	३८८
अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षपणक्रम	३८९
चारित्रमोहनीय का क्षपणक्रम	३९१

शेष धातिक कर्मों का क्षपणक्रम	३६३
सयोग और अयोगिकेवली युग्मस्थानों में होने वाले कर्मों	३६४
ग्रन्थ का उपसंहार	३६७
परिशिष्ट	३६६
१. पंचम कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें	४०१
२. कर्मों की बन्ध, उदय, सत्ता प्रकृतियों की संख्या में भिन्नता का कारण	४०६
३. मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंध	४११
४. कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थितिवन्ध	४१७
५. आयुर्कर्म के अबाधकाल का स्पष्टीकरण	४१६
६. योगस्थानों का विवेचन	४२०
७. ग्रहण किये गये, कर्मस्कन्धों को कर्म प्रकृतियों में विभाजित करने की रीति	४२५
८. उत्तर प्रकृतियों में पुद्गलद्रव्य के वितरण तथा हीनाधिकता का विवेचन	४२८
९. पत्थ को भरने में लिये जाने वाले बालाश्रयों के बारे में अनुयोगद्वारा सूत्र आदि का कथन	४३८
१०. दिगम्बर साहित्य में पत्थोपम का वर्णन	४३६
११. दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परावर्तों का वर्णन	४४१
१२. उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्ध के स्वामियों का गोम्मतसार कर्मकांड में आगत वर्णन	४४४
१३. गुणश्रेणि की रचना का स्पष्टीकरण	४४६
१४. क्षपकश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण	४५१
१५. पंचम कर्मग्रन्थ की गायार्थों की अकाराद्यनुक्रमणिका	४५५

श्री धातृदेव्य नमः

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

शतक

पंचम कर्मग्रन्थ

इष्टदेव के नमस्कार पूर्वक ग्रन्थकार ग्रन्थ के वर्ण्य
विषय का निर्देश करते हैं—

नमिय जिणं ध्रुवबंधोदयसत्ताघादपुष्पपरियत्ता ।

सेयर चउहविवागा वृच्छ बन्धविह सामी य ॥१॥

शब्दार्थ—नमिय—नमस्कार करके, जिणं—जिनेन्द्र देव को,
ध्रुवबंध—ध्रुवबंधी, उदय—ध्रुव उदयी, सत्ता—ध्रुव सत्ता, घाद—
घाति (सर्वघाती, देशघाती), पुष्प—पुष्प प्रकृति, परियत्ता—परा-
वर्तमान, सेयर—प्रतिपक्ष सहित, चउह—चार प्रकार से, विवागा—
विपाक दिखाने वाली, वृच्छ—कहूँगा, बंधविह—बंध के भेद,
सामी—स्वामी (बंध के स्वामी) य—उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि ।

भावार्थ—जिनेश्वर भगवान का नमस्कार करके ध्रुव-
बन्धी, ध्रुव उदयी, ध्रुव सत्ता, घाती, पुष्प और परावर्तमान
तथा इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों सहित तथा चार प्रकार से
विपाक दिखाने वाली प्रकृतियों, बंधभेद, उनके स्वामी और
उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि का वर्णन करूँगा ।

विशेषार्थ—गाथा के तीन भाग हैं—१. नमस्कारात्मक पद, २. ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों का संकेत और ३. उनके कथन करने की प्रतिज्ञा। यानी गाथा में ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के साथ इस कर्मग्रन्थ में निरूपण किये जाने वाले विषयों के नाम निर्देश पूर्वक अपने ग्रन्थ की सीमा का संकेत किया है।

‘नमिय जिण’ पद से जिनेश्वर देव को नमस्कार किया है। इसका कारण यह है कि जिनेश्वर देव ने उन समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है जिनका बंध, उदय और सत्ता मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व तक संसारी जीवों में विद्यमान रहती है। साथ ही इस पद से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कर्म प्रकृतियाँ चाहे कौसी भी स्थिति वाली हों, चाहे उनके धिपाकोदय का कौसा भी रूप हो लेकिन उनकी शक्ति जीव की शक्ति, अध्यतसग के समक्ष हीन है और वे निकासोन्मुखी आत्मा के द्वारा अवश्य ही विजित होती हैं। ये प्रकृतियाँ तभी तक अपने प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं जब तक जीव आत्मोपलब्धि के लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं होता है और अपनी शक्ति से अज्ञात रहता है। लेकिन जैसे ही अन्तर में उन्मेष, स्फूर्ति, उत्साह और स्वदर्शन की वृत्ति जाग्रत होती है वैसे ही बलवान माने जाने वाले कर्म निःशेष होने की धारा के अनुगामी बन जाते हैं।

कर्मविजेता जिनेश्वर देव बंध, उदय और सत्ता स्थिति को प्राप्त हुए कर्मों को जीतते हैं। लेकिन जीव के परिणामों की विविधता से कर्म प्रकृतियों के बंध आदि के ध्रुव, अध्रुव, घाती, अघाती आदि अनेक रूप हो जाते हैं, जो उनकी अवस्थायें कहलाती हैं। इन होने वाली अवस्थाओं में से ‘ध्रुवबंधोदयसत्ताधाइपुन्नपरियत्ता’ पद द्वारा ध्रुव-बंध, ध्रुव उदय, ध्रुव सत्ता, घाति, पुण्य, परावर्तमान इन छह का नामोत्प्लेख करके प्रतिपक्षी छह नामों को समझने के लिये ‘सेयर सेतर’

पद दिया है तथा 'जड़ह विवागा' पद से कर्मों की चार प्रकार से होने वाली विपाक अवस्थाओं का संकेत किया है। अर्थात् कर्म प्रकृतियों की निम्नलिखित सोलह अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें जिनेश्वर देव ने जीत कर जिन पद की प्राप्ति की है—

(१) ध्रुव बन्धिनी, (२) अध्रुव बन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अध्रुवोदया, (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी, (८) अधातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावर्तमाना, (१२) अपरावर्तमाना, (१३) श्वेद विपाकी, (१४) जीव विपाकी, (१५) भव विपाकी, (१६) पुद्गल विपाकी।

कर्मों की उदय और सत्ता रूप अवस्था होने के लिये यह आवश्यक है कि उनका जीव के साथ बंध हो। जब तक जीव संसार में स्थित है, योग व कषाय परिणति का संबन्ध जुड़ा हुआ है तब तक कर्म का बंध होता है। योग के द्वारा कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता और आत्म-गुणों के आच्छादन करने का उन कर्म पुद्गलों में स्वभाव पड़ता है तथा कषाय के द्वारा आत्मा के साथ कर्मों के संबद्ध रहने की समय मर्यादा एवं उनमें फलोदय के तीव्र, मंद आदि रूप अंशों का निर्माण होता है। इस प्रकार से कर्मबंध के चार रूप होते हैं—(१) प्रकृति बंध (२) स्थिति बंध, (३) अनुभाग बन्ध, (४) प्रदेश बन्ध।

उक्त चार प्रकार के बंध भेदों का स्वामी जीव है। जीव अपने परिणामों द्वारा कर्म वर्गणाओं में प्रकृति, स्थिति आदि चार अंशों का निर्माण करता है। अतएव प्रकृति, स्थिति बंध आदि चार रूप जैसे कर्म-बंध के हैं वैसे ही उनके स्वामियों के भी हो जाते हैं कि कौन जीव किस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध का स्वामी है।

इस प्रकार से 'नमिय जिणं' से लेकर 'सामी' तक के गद्यांश द्वारा कर्मविजेता जिनेश्वर देव के नमस्कार पूर्वक यह स्पष्ट कर दिया है कि

जब तक जीव सकर्मा है, संसार में परिभ्रमण कर रहा है तब तक वह ध्रुव बन्ध, अध्रुव बंध आदि अवस्था वाले कर्मों से सहित है। अपने मन, वचन, काय प्रवृत्ति एवं काषायिक परिणामों से उनका स्वामी कहलाता है—यानी कर्मग्रहण करने का अधिकारी बना रहता है।

लेकिन जब कर्मों को निःशेष करने लिये सन्नद्ध होता है तब वह कर्म मल की सत्ता के उद्देक को शमित करने या कर्मों की सत्ता को निःशेषतया क्षय करने रूप दोनों उपायों में से किसी एक को अपनाता है। कर्मों का उपशम करना उपशम श्रेणि और क्षय करना क्षपक श्रेणि कहलाती है। इन दोनों श्रेणियों का संकेत गाथा में 'य' शब्द से किया है। उपशम या क्षपक श्रेणि पर आरोहण किये बिना जीव अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन नहीं कर पाता है। यह बात दूसरी है कि उपशम श्रेणि में अवस्थित जीव सत्तागत कर्मों के उद्वेलित होने पर आत्मदर्शन के मार्ग से भ्रष्ट होकर अपनी पूर्व दशा को प्राप्त हो जाता है किन्तु क्षपक श्रेणि वाला सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं का क्षय करके आत्मोपलब्धि द्वारा अनन्त संसार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार से गाथा में कर्ममुक्त आत्मा, कर्ममुक्ति के उपाय—मार्ग और संसारी जीव के होने वाली कर्मों की बंध, उदय आदि अवस्थाओं का संकेत किया गया है कि जब तक जीव संसार में है तब तक कर्म प्रकृतियों की अनेक अवस्थाओं से संयुक्त रहेगा। इन कर्मों से मुक्ति के लिये जीव के उपशम या क्षय रूप आत्मपरिणाम ही कारण हैं और कर्ममुक्ति के बाद आत्मा परमात्मा पद प्राप्त कर लेती है। इसीलिये इन अवस्थाओं का संकेत करने के लिये गाथा में ग्रन्थ के वर्ण्य विषय निम्न प्रकार हैं—

(१) ध्रुवबंधिनी, (२) अध्रुवबन्धिनी, (३) ध्रुवोदया, (४) अध्रु-

बोदया (५) ध्रुव सत्ताक, (६) अध्रुव सत्ताक, (७) घातिनी, (८) अघातिनी, (९) पुण्य, (१०) पाप, (११) परावर्तमाना, (१२) अपरावर्तमाना (१३) क्षेत्रविपाकी, (१४) जीवविपाकी, (१५) भवविपाकी, (१६) पुद्गलविपाकी, (१७) प्रकृतिबंध (१८) स्थितिबन्ध, (१९) अनुभागबंध, (२०) प्रदेशबंध, (२१) प्रकृतिबंध स्वामी, (२२) स्थितिबन्ध स्वामी, (२३) अनुभागबंध स्वामी, (२४) प्रदेशबंध स्वामी, (२५) उपशम श्रेणि, (२६) क्षपक श्रेणि ।

गाथा में निर्दिष्ट कुछ विषयों की परिभाषायें नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) ध्रुव-बन्धिनी प्रकृति—अपने कारण के होने पर जिस कर्म प्रकृति का बंध अवश्य होता है, उसे ध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं । ऐसी प्रकृति अपने बंधविच्छेद पर्यन्त प्रत्येक जीव को प्रतिसमय बंधती है ।

(२) अध्रुव-बन्धिनी प्रकृति—बंध के कारणों के होने पर भी जो प्रकृति बंधती भी है और नहीं भी बंधती है, उसे अध्रुव-बन्धिनी प्रकृति कहते हैं । ऐसी प्रकृति अपने बन्ध-विच्छेद पर्यन्त बंधती भी है और बंधती भी नहीं है ।

१ कर्मग्रन्थ से मिलता-जुलता निर्देश पंचसंग्रह में निम्न प्रकार है—

ध्रुवबन्धि ध्रुवोदय सव्ववाह परियत्तमाणअमुभाओ ।

पचवि सण्णहिक्खवा पगई य विवागओ चउहा ॥ ३।१४

गाथा में ध्रुवबन्धी, ध्रुवोदया, सर्वधाति, परावर्तमान, और अशुभ इन पाँच के प्रतिपक्षी द्वारों तथा चार प्रकार के विपाकों का संकेत किया है । कुल मिलाकर चौदह नाम होते हैं ।

२ नियहेउसंभवेवि तु भयणिज्जो जाण होइ पयशीणं ।

बधो ता अधुकाओ ध्रुवा अभयणिज्जबंधाओ ॥

—पंचसंग्रह ३।३५

ध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बन्धविच्छेद काल पर्यन्त प्रत्येक समय हर एक जीव को बंध होता रहता है और अध्रुवबन्धिनी प्रकृति का बंधविच्छेद काल तक में भी सर्वकालावस्थायी बंध नहीं होता है। यहां ध्रुवबन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी रूपता में सामान्य बंधहेतु की विवक्षा है विशेष बंधहेतु की नहीं। क्योंकि जिस प्रकृति के जो खास बंधहेतु हैं वे हेतु जब-जब मिलें तब तक उस प्रकृति का बंध अवश्य होता है, चाहे वह अध्रुवबन्धिनी भी क्यों न हो। इसलिये अपने सामान्य बन्धहेतु के होने पर भी जिस प्रकृति का बंध हो या न हो वह अध्रुवबन्धिनी है और अवश्य बंध हो वह ध्रुवबन्धिनी है।

(१) ध्रुवोदया प्रकृति—जिस प्रकृति का उदय अविच्छिन्न हो अर्थात् अपने उदय काल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिस प्रकृति का उदय बराबर बिना रुके होता रहता है, उसे ध्रुवोदया कहते हैं।

(४) अध्रुवोदया प्रकृति—अपने उदय काल के अंत तक जिस प्रकृति का उदय बराबर नहीं रहता है, कभी उदय होता है और कभी नहीं होता है, यानी उदयविच्छेद काल तक में भी जिसके उदय का नियम न हो उसे अध्रुवोदया प्रकृति कहते हैं।

सामान्य से संपूर्ण कर्म प्रकृतियों के पांच उदय हेतु हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव और पांचों के समूह द्वारा समस्त कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। एक ही प्रकार के द्रव्यादि हेतु समस्त कर्म प्रकृतियों के उदय में कारण रूप नहीं होते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि हेतु कारण रूप होते हैं। कोई द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उदय

१ अवोच्छिन्नो उदयो जायं पमईण ता ध्रुवोदया ।

वोच्छिन्नो वि ह संभवइ जाण अध्रुवोदया माओ ॥

में कारण रूप होती है और कोई सामग्री किसी के उदय में हेतु रूप होती है। लेकिन यह निश्चित है कि जहाँ एक भी उदय हेतु है, वहाँ अन्य सभी हेतु समूह रूप में उपस्थित रहते हैं।^१

(५) ध्रुवसत्ताक प्रकृति—अनादि मिथ्यात्वी जीव को जो प्रकृति निरंतर सत्ता में होती है, सर्वदा विद्यमान रहती है, उसे ध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते हैं।

(६) अध्रुवसत्ताक प्रकृति—मिथ्यात्व दशा में जिस प्रकृति की सत्ता का नियम नहीं यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय सत्ता में न भी हो, उसे अध्रुवसत्ताक प्रकृति कहते हैं। ध्रुवसत्ताक प्रकृतियों की विच्छेद काल तक प्रत्येक समय प्रत्येक जीव को सत्ता होती है और अध्रुवसत्ताक प्रकृतियों के लिये यह नियम नहीं है कि विच्छेद काल तक प्रत्येक समय उनकी सत्ता हो।

(७) घातिनी प्रकृति—जो कर्म प्रकृति आत्मिक गुणों—ज्ञानादि का घात करती है, उसे घातिनी प्रकृति कहते हैं। यह दो प्रकार की है सर्वघातिनी और देशघातिनी। जो कर्म प्रकृति ज्ञानादि रूप अपने विषय को सर्वथा प्रकार से घात करे उसे सर्वघातिनी और जो प्रकृति अपने विषय के एकदेश का घात करे उसे देशघातिनी प्रकृति कहते हैं।

कर्मों की कुछ प्रकृतियाँ सर्वघाति प्रतिभाग रूप होती हैं अर्थात् अघाती होने से स्वयं में तो ज्ञानादि आत्मगुणों को दबाने की शक्ति नहीं है किन्तु सर्वघाती प्रकृतियों के संसर्ग से अपना अति दारुण विपाक बतलाती हैं। वे सर्वघाती प्रकृतियों के साथ वेदन किये जाने

१ दध्वं सेत कालो भवो य भावो य हेयवो पंच ।

हेउ समासेणुदओ जायइ सव्वाण पमईणं ॥

धाले दारुण विपाक को बतलाने वाली होने से उनकी सहशता को प्राप्त करती हैं, अतः उनको सर्वधात्री प्रतिभाग प्रकृतियां कहते हैं ।

(८) अघातिनी प्रकृति—जो प्रकृति आत्मिक गुणों का धात नहीं करती है, उसे अघातिनी प्रकृति कहते हैं ।

(९) पुण्य प्रकृति—जिस प्रकृति का विपाक—फल शुभ होता है उसे पुण्य प्रकृति कहते हैं ।

(१०) पाप प्रकृति—जिसका फल अशुभ होता है वह पाप प्रकृति है ।

(११) परावर्तमाना प्रकृति—किसी दूसरी प्रकृति के बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोककर जिस प्रकृति का बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे परावर्तमाना प्रकृति कहते हैं ।

(१२) अपरावर्तमाना प्रकृति—किसी दूसरी प्रकृति के बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोके बिना जिस प्रकृति के बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं, उसे अपरावर्तमाना प्रकृति कहते हैं ।^१

(१३) क्षेत्रविपाकी प्रकृति—एक गति का शरीर छोड़कर अर्थात् पूर्व गति में मरण होने के कारण उसके शरीर को छोड़कर नई गति का शरीर धारण करने के लिये जब जीव गमन करता है, उस समय विग्रहगति में जो कर्म प्रकृति उदय में आती है, अपने फल का अनुभव कराती है उसे क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते हैं । इस प्रकृति का उदय पूर्व गति को त्यागकर अन्य गति में जाते समय अन्तरालवर्ती काल में ही होता है, अन्य समय में नहीं । इसीलिये इसको क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते हैं ।

(१४) जीवविपाकी प्रकृति—जो प्रकृति जीव में ही अपना फल देती है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते हैं । इस प्रकृति का विपाक जीव

१ विणिवारिय जा गच्छइ बंध उदयं व अन्न पगईए ।

साहु परियस्तमाणी अणिवारेति अपरियस्ता ॥ —पंचमं पृष्ठ ११४३

के ज्ञानादि स्वरूप का उपधातादि करने रूप होता है। अर्थात् चाहे शरीर हो या न हो तथा भव या क्षेत्र चाहे जो हो लेकिन जो प्रकृति अपने फल का अनुभव ज्ञानादि गृहों के उपधातादि करने के द्वारा साक्षात् जीव को ही कराती है, उसे जीवविपाकी प्रकृति कहते हैं।

(१५) सख-विपाकी प्रकृति—जो प्रकृति नरानरकादि भव में ही फल देती है उसे भवविपाकी प्रकृति कहते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान आयु के दो भाग व्यतीत होने के बाद तीसरे आदि भाग में आयु का बन्ध होने पर भी जब तक पूर्व भव का क्षय होने के द्वारा उत्तर स्वयोग्य भव प्राप्त नहीं होता है, तब तक यह प्रकृति उदय में नहीं आती है, इसीलिये इसको भवविपाकी प्रकृति कहते हैं।

(१६) पुद्गलविपाकी प्रकृति—जो कर्म प्रकृति पुद्गल में फल प्रदान करने के सन्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करे, औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों में जो कर्मप्रकृति अपनी शक्ति को दिखावे, उसे पुद्गल-विपाकी प्रकृति कहते हैं। यानी जो प्रकृति शरीर रूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं में अपना विपाक—फल देती है, वह पुद्गलविपाकी प्रकृति है।

इन सोलह प्रकृति द्वारों की परिभाषायें यहां बतलाई हैं। शेष प्रकृति, स्थिति आदि दस द्वारों की व्याख्या प्रथम, द्वितीय कर्मग्रन्थ में यथास्थान की गई है। अतः अब आगे की गाथाओं में ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों का क्रमानुसार कथन प्रारम्भ करते हैं।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियां

सर्वप्रथम क्रमानुसार ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों की संख्या व नाम बतलाते हैं—

वन्नञ्जतेयकम्मागुरुल्लह निमणोवघाय सखकुच्छा ।

मिच्छकसायावरणा विग्घं ध्रुवबन्धि सगच्छता ॥ २ ॥

शब्दार्थ—वस्त्रचतुष्क, तेज—तेजस शरीर, कर्मा—कामण शरीर, अगुरुलघु—अगुरुलघु नामकर्म, निर्माण—निर्माण नामकर्म, उपधात—उपधात नामकर्म, भय—भय मोहनीय, जुगुप्सा—जुगुप्सा मोहनीय, मिथ्या—मिथ्यात्व मोहनीय, कषाय—कषाय, आवरणा—आवरण—ज्ञानावरण पांच व दर्शनावरण नौ कुल खोदह, विघ्न—पांच अन्तराय, ध्रुवबन्धि—ध्रुवबन्धी प्रकृतियां, सैंतालीस—सैंतालीस ।

गाथार्थ—वर्णचतुष्क, तेजस कामण शरीर, अगुरुलघु नाम, निर्माण नाम, उपधात नाम, भय मोहनीय, जुगुप्सा मोहनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, और पांच अन्तराय ये सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नामों का निर्देश किया है । अपने योग्य सामान्य कारणों के होने पर जिन प्रकृतियों का बंध होता है वे ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां हैं ।

कर्म की मूल प्रकृतियां आठ हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) मोक्ष और (८) अन्तराय । इनकी बंधयोग्य उत्तर प्रकृतियां क्रमशः $५ + ६ + २ + २६ + ४ + ६७ + २ + ५ = १२०$ होती हैं । इन एकसी बीस प्रकृतियों में से सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी हैं । जिनके नाम इसप्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि मनपर्याय और केवल ज्ञानावरण ।

(२) दर्शनावरण—अक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्धि ।

(३) मोहनीय—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, भय, जुगुप्सा ।

(४) नामकर्म—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात ।

(५) अन्तराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-अंतराय ।

ऊपर बताये गई प्रकृतियों के नावों के यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियाँ जिनके क्रमशः पाँच, नौ और पाँच उत्तर भेद हैं, ध्रुवबन्धिनी हैं । मोहनीय कर्म के भेद दर्शतमोह की एक मिथ्यात्व तथा चारित्र मोह की अठारह प्रकृतियाँ और नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं । इस प्रकार ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६, मोहनीय की १६, नाम की ६ और अंतराय की ५, कुल मिलाकर सैंतालीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी हैं । इन प्रकृतियों के ध्रुवबन्धिनी होने के कारण को गाथा में कहे गये क्रम के अनुसार स्पष्ट करते हैं ।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात, नामकर्म की इन नौ प्रकृतियों को ध्रुवबन्धिनी मानने का कारण यह है कि तैजस और कार्मण शरीर तो चारों गतियों के जीवों के अवश्य होते हैं, इनका अनादि से सम्बन्ध है ।^१ एक भव का स्थूल शरीर छोड़कर भवांतर का अन्य शरीर ग्रहण करने की अन्तराल गति (विग्रह गति) में भी तैजस और कार्मण शरीर सदैव बना रहता है । औदारिक या वैक्रिय शरीरों में से किसी एक का बंध होने पर वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नामकर्मों का अवश्य बंध होता है तथा औदारिक, वैक्रिय शरीर का बंध होने पर उनके योग्य पदगुणों से उनका निर्माण होता है । अतः निर्माण नामकर्म का बंध भी अवश्यभावी है । इन औदारिक और वैक्रिय शरीर के स्थूल होने से अन्य स्थूल पदार्थों से उपघात होता ही है । औदारिक या वैक्रिय शरीर अपनी योग्य वर्गणाओं को अधिक

भी ग्रहण करें लेकिन ग्रहण करने वालों को न तो वह शरीर लोहे के समान भारी और न आक की रुई के समान हलके प्रतीत होते हैं। सदैव अगुरुलघु रूप बने रहते हैं। इसलिए नामकर्म को नौ प्रकृतियाँ अपने कारणों के होने पर अवश्य ही बंधने से ध्रुवबंधिनी कहलाती हैं। इनका बंध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के चरम समय तक होता है।

भय और जुगुप्सा यह चारित्र मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं। इनके बंध की कोई विरोधनी नहीं है। इसीलिए इन दोनों को ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में माना है, ये दोनों प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के अंत समय तक अपने बन्ध कारणों के रहने से बंधती ही रहती हैं। मिथ्यात्व, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय में अवश्य बंधती है। मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व मोहनीय का निरंतर उदय होने से मिथ्यात्व का निरंतर बंध होता रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बंध नहीं होता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायों का अपने-अपने उदय रूप कारण के होने तक अवश्य ही बंध होता है। इसीलिए इन सोलह कषायों को ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में गिना है।

ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ और अंतराय की पांच ये उन्नीस प्रकृतियाँ अपने अपने बंधविच्छेद होने के स्थान तक अवश्य बंधती हैं तथा इनकी विरोधिनी अन्य कोई प्रकृतियाँ न होने से इनको ध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ माना है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान आदि सोलह कषायों और ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की उन्नीस प्रकृतियों के ध्रुवबंधिनी

मानने का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि कर्म प्रकृतियों के बंध के लिए यह सामान्य नियम है कि जहां तक मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग इन चारों बंधहेतुओं में से जिस का सद्भाव होता है तथा 'जे वेएइ ते बंधइ' जिस प्रकृति का जिस गुणस्थान तक उदय रहता है, वहां तक उस प्रकृति का बंध अवश्य होता है। इसलिए अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और स्त्यानद्वित्रिक इन सात प्रकृतियों के बंध में अनन्तानुबंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणाम कारण हैं और इनका उदय दूसरे सासादन गुणस्थान तक होता है, उससे आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी कषाय के उदयजन्य आत्मपरिणामों का अभाव होने से बंध नहीं होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त बंध होता है, आगे के गुणस्थानों में तथाविध उदयजन्य आत्मपरिणाम नहीं होने से बंध नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का देशविरति—पांचवें गुणस्थान पर्यन्त बंध होता है। निद्रा और प्रचला का आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय तक बंध होता है। आगे उनके बंधयोग्य परिणाम असंभव होने से बंध नहीं होता है। अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान तक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का बंध होता है। क्योंकि बादर कषाय का उदय उनके बंध का हेतु है। जिसका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण तथा पांच अंतराय इन चौदह प्रकृतियों का बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के चरम समय तक होता है। इस गुणस्थान तक ही इनके बंध में हेतु-भूत कषाय का उदय होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है।

इस प्रकार से सैंतालीस प्रकृतियां जिनमें ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की उन्नीस, नामकर्म की नौ और अंत-

राय की पांच प्रकृतियां सम्मिलित हैं, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणों के होने पर सभी जीवों को अवश्य बंधती हैं, इसीलिये इसको ध्रुवबन्धिनी प्रकृति मानते हैं।

अब आगे की दो गणनाओं में अनुगच्छंसी प्रकृतियों के नाम और बन्ध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियों के भंग बतलाते हैं।

अध्रुवबंधी प्रकृतियां और बंध व उदय की अपेक्षा से प्रकृतियों के भंग

तणुसंगानिसंघयण जाइगइखगइपुर्विजिणुसासं ।
उज्जोयायवपरधा तसवीसा गोय वयणिय ॥३॥
हासाइजुयलदुगवेय आउ तेषुत्तरी अध्रुवबंधा ।
मंगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरी ॥४॥

शब्दार्थ—तणु—शरीर, (ओदारिक, वैकिय, आहारक),
उवंगा—तीन अंगोपांग, आनिइ—छह संस्थान, संघयण छह संहनन,
जाइ—पांच जाति, गइ—चार गति, खगइ—दो विहायोगति,
पुर्वि—चार आनुपूर्वी, जिण—जिन नामकर्म, उसासं—शवासोच्छ्वास नामकर्म, उज्जोय—उद्योत नामकर्म, आयव—आतप नामकर्म,
परधा—पराधात नामकर्म, तसवीसा—त्रसादि बीस (त्रस दशक और स्यावर दशक), गोय—दो गोत्र, वयणियं—दो वेदनीय ।

१ पंचसंग्रह और गो० कर्मकांड में ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों को इस प्रकार गिनाया है—

नाणंतरायदंसण ध्रुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा ।
अगुरुलधुनिमिणतेयं उवधाय वण्णवउकम्म ॥

—पंचसंग्रह २।१३

धावितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिण वण्णवओ ।

सत्तेताल ध्रुवाणं.....

—गो० कर्मकांड १२४

हासाइ—हास्यादिक, युयत्सुग—दो युगल, वेद—तीन वेद, आउ—चार आयुर्कर्म, तेषुत्तरी—तिहत्तर, अध्रुवबंधा—अध्रुवबंधी, भंगा—भंग, अणाइसाई—अनादि और सादि, अणंतसंतुत्तरा—अनन्त और सांत उत्तर पद से सहित, चउरो—चार भंग ।

गणसंख्ये—तीन शरीर, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, तीर्थंकर नामकर्म, स्वासोच्छ्वास नामकर्म, उद्योत, आतप, पराघात, त्रसादि बीस, दो गोत्र, दो वेदनीय, हास्यादि दो युगल, तीन वेद, चार आयु, ये तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी हैं । इनके अनादि और सादि अनन्त और सान्त पद से सहित होने से चार भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियां हैं । उनमें से सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी हैं और शेष रहो तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी हैं । इन दो गाथाओं में अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियों तथा इनके बनने वालों भंगों के नाम बताये हैं ।

इन अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में अधिकतर नामकर्म की तथा वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों व कुछ मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम हैं । जिनका अपने-अपने मूल कर्म के नाम सहित विवरण इस प्रकार है—

(१) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय ।

(२) मोहनीय—हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ।

(३) आयु—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु, नरकायु ।

(४) नाम—तीन शरीर—औदारिक वैक्रिय, आहारक शरीर, तीन अंगोपांग—औदारिक, वैक्रिय, आहारक अंगोपांग, छह संस्थान-

समचतुरस्र, त्र्यग्रोध, परिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्डक, छह संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलिका, सेवार्त, पांच जाति—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति—देव, मनुष्य, तिर्यंच नारक, दो विद्यायोगति—शुभ विद्यायोगति, अशुभ विद्यायोगति, चार आनुपूर्वी—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी, तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, असवीशक (वसदशक, स्थावरदशक) ।^१

(१) गोत्र—उच्च गोत्र, नीच गोत्र ।

उपर अध्रुवबन्धिनी^२ तिहत्तर प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं ।

१ तस बाधर पज्जत्तं पसेय धिरं सुमं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं यावरदसं तु इमं ॥
यावर सुहम अपज्जं साहारण अघिर असुभ दुभगाणि ।
दुस्सरइणाइज्जाअसमिय ॥

—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, गा० २६, २७.

—वस दशक—वस, बाधर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति ।

—स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ।

२ दिगम्बर साहित्य में अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के दो भेद किये हैं—सप्रतिपक्षी और अप्रतिपक्षी । इनमें ग्रहण की गई प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

सेसे तिस्याहारं परषादचउक्क सच्च आऊणि ।

अप्पडिक्कखा सेसा सप्पडिक्कखा हु वासट्ठी ॥ —गो० कर्मकांड १२५

—तीर्थंकर, बाहारकद्विक, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, चार आयु ये त्पारह प्रकृतियां अप्रतिपक्षी हैं । अर्थात् इनकी कोई विरोधिनी प्रकृति नहीं है । फिर भी इनका बंध कुछ विशेष अवस्था में होता है, अतः अध्रुवबन्धिनी कहा जाता है और शेष आसठ प्रकृतियों को सप्रतिपक्षी होने के कारण अध्रुवबन्धिनी माना है ।

इनको अध्रुवबन्धिनी मानने का कारण यह है कि बंध के सामान्य कारणों के रहने पर भी इनका बन्ध नियमित रूप से नहीं होता है अर्थात् कभी बंध होता है और कभी नहीं होता है। इन प्रकृतियों के नियमित रूप से बन्ध न होने का कारण यह है कि इनमें से कुछ प्रकृतियों का बंध तो इसलिए नहीं होता है कि उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ उनका स्थान ले लेती हैं और कुछ प्रकृतियाँ अपनी स्वभावगत विशेषता के कारण कभी बंधती हैं और कभी नहीं बंधती हैं।

इन सिद्धार प्रकृतियों का अध्रुवबन्धिनी मानने का कारण सहित स्पष्ट करते हैं।

शरीर नामकर्म के पाँच भेदों में से तँजस, कामण शरीर का संसारी जीवों के साथ अनादि संबन्ध होने से ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिना है। शेष आदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीर और इन्हीं नाम वाले अंगोपांग नामकर्म के तीन भेदों में से एक जीव को एक समय में एक शरीर और एक अंगोपांग का ही बंध होता है; दूसरे का नहीं। क्योंकि परस्पर विरोधी होने से एक के बंध के समय दूसरे का बंध नहीं हो सकता है। इसीलिए इनको अध्रुवबन्धिनी माना है।

समचतुरस्र आदि छह संस्थान भी परस्पर में विरोधी हैं। समचतुरस्र संस्थान कर्म से यदि शरीर का संस्थान—आकार समचतुरस्र रूप है तो उसमें अन्य संस्थान का बंध, उदय नहीं हो सकता है, अतः वे भी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गणित किये गये हैं।

मनुष्य और तिर्यच प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर ही वज्र-ऋषभनाराच आदि छह संहननों में से एक समय में एक ही का बंध होता है तथा देव व नारक प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर एक भी संहनन का बंध नहीं होता है। अतएव संहनन नामकर्म अध्रुवबन्धी है।

एकेन्द्रियआदि पंचेन्द्रिय जाति पर्यन्त पाँच जातियों में से एक समय में एक ही जाति का, देवगति आदि चार गतियों में से एक ही गति का बंध होने से जाति व गति नामकर्म के भेदों को अध्रुवबंधिनी कहा है। इसी प्रकार शुभ या अशुभ विहायोगति में से एक समय में एक का ही बन्ध होता है तथा देवानुपूर्वी आदि चार आनुपूर्वियों में से एक समय में एक का ही बन्ध होता है। अतः इनको अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहा है।

औदारिक आदि शरीर से लेकर आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेदों तक में गर्भित तेतीस प्रकृतियाँ अपनी-अपनी, प्रतिपक्षिणी-विरोधिनी प्रकृतियों सहित होने के कारण अध्रुवबंधिनी हैं।

तीर्थकर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व सापेक्ष है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सम्यक्त्व के होने पर इसका बंध हो ही जाये। सम्यक्त्व के होने पर भी किसी के बंध होता है और किसी के नहीं बंधता है। इसीलिये अध्रुवबंधी है। पर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर उच्छ्वास नामकर्म का बंध होता है, अपर्याप्तक-प्रायोग्य प्रकृतियों के बंध होने पर नहीं बंधता है। तिर्यचप्रायोग्य प्रकृतियों के बंध होने पर भी उद्योत नामकर्म का बंध किसी को होता है और किसी को नहीं होता है, अतएव उच्छ्वास और उद्योत नामकर्म अध्रुवबंधी हैं।

पृथ्वीकायिक प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होते रहते किसी को आतप नामकर्म का बंध होता है और किसी को नहीं होता है, अतः अध्रुवबन्धी है। पराघात नामकर्म पर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर किसी-किसी को बंधता है तथा अपर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर तो किसी को भी नहीं बंधता है, अतः वह अध्रुवबन्धी है।

वसदशक और स्थावरदशक की कुल बीस प्रकृतियाँ परस्पर विरोधिनी हैं तथा अपने-अपने प्रायोग्य प्रकृतियों के बंध होने पर बंधती हैं। इसलिये इनकी अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में गिना है।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र परस्पर में विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं। उच्च गोत्र का बंध होते हुए नीच गोत्र का और नीच गोत्र का बंध होते हुए उच्च गोत्र का बंध नहीं होता है। अतएव इन दोनों को अध्रुवबंधी कहा है। साता वेदनीय और असाता वेदनीय भी परस्पर में एक दूसरे की विरोधी हैं, जिसमें इनका अध्रुवबन्धिनी प्रकृति माना जाता है।

गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी मानने के साथ-साथ उनके बारे में यह विशेषता भी समझना चाहिये कि छठे गुणस्थान तक ही साता और असाता वेदनीय अध्रुवबंधी हैं, लेकिन छठे गुणस्थान में असाता वेदनीय का बंधविच्छेद हो जाने पर आगे सातवें आदि गुणस्थानों में साता वेदनीय कर्म ध्रुवबंधी हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान तक उच्च गोत्र और नीच गोत्र अध्रुवबन्धी हैं, किंतु दूसरे गुणस्थान में नीच गोत्र का बंधविच्छेद हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उच्च गोत्र ध्रुवबन्धी हो जाता है।

मोहनीय कर्म की 'हासाइ जुयलदुग' हास्यादि दो युगल अर्थात् हास्य-रति तथा शोक-अरति यह चार प्रकृतियाँ अध्रुवबंधिनी हैं। क्योंकि ये दोनों युगल परस्पर विरोधी हैं। जब हास्य-रति युगल का बंध होता है तब शोक-अरति युगल का बंध नहीं होता है तथा शोक-

१ प्रत्येक गुणस्थान में बंधयोग्य और बिच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के लिये दूसरा कर्मग्रन्थ गाथा ४ से १२ देखिये।

अरति युगल के बंध के समय हास्य-रति युगल का बंध संभव नहीं है। इन चार प्रकृतियों का सान्तर बंध होता है।

लेकिन यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि हास्य, रति, अरति, शोक, यह चारों प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान तक ही अध्रुवबन्धिनी हैं। छठे गुणस्थान में शोक और अरति का बन्धविच्छेद हो जाने पर आगे हास्य और रति का निरंतर बंध होता है, जिससे वे ध्रुवबन्धिनी हो जाती हैं।

स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद में से एक समय में किसी एक वेद का बंध होता है। गुणस्थान की अपेक्षा नपुंसक वेद पहले गुणस्थान में, स्त्री वेद दूसरे गुणस्थान तक बंधता है। उसके बाद आगे के गुणस्थानों में पुरुषवेद का बंध होता है।

आयुकर्म के देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और नरकायु इन चार भेदों में से एक भव में एक ही आयु का बंध होता है। इसीलिये इनको अध्रुवबन्धी कहा है।

इस प्रकार तिहत्तर प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी समझना चाहिये। जिनमें वेदनीय की दो, मोहनीय की सात, आयुकर्म की चार, नाम कर्म की अट्ठावन और गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ शामिल हैं। बन्ध-योग्य १२० प्रकृतियों में से ४७ ध्रुवबन्धिनी और ७३ अध्रुवबन्धिनी हैं। ४७ + ७३ का कुल जोड़ १२० होता है।

बंध, उदय प्रकृतियों के अनन्त-अनन्त आवि भंग

ग्रन्थलाघव की दृष्टि से क्रमप्राप्त ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियों के नामों को न बताकर कर्मबंध और कर्मोदय की कितनी दशाएँ होती हैं, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये पहले भंगों को बतलाते हैं। जो बंध के भंगों के नाम हैं, वही उदय के भंगों के भी

नाम होंगे। इसका कारण यह है कि कर्म प्रकृतियों के ध्रुवबंधिनी अध्रुवबंधिनी होने के कारण जैसे बंध की दशायें बताना आवश्यक है वैसे ही आगे ध्रुवोदया और अध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या बतलाने के पश्चात् उनकी उदय दशायें भी बतलाना होंगी। अतएव मध्यमद्वारदीपक न्याय के अनुसार बंध और उदय अवस्था में बनने वाले भंगों के यहां नाम बतलाते हैं। अर्थात् यहां दिये जाने वाले भंगों को बंध में भी लगा लेना चाहिये और उदय में भी। भंगों के नाम इस प्रकार हैं १ अनादि-अनंत, २ अनादि-सान्त, ३ सादि-अनंत, ४ सादि-सान्त।^१ यह चारों भंग बंध में भी होते हैं और उदय में भी।

उन भंगों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं --

(१) अनादि-अनंत—जिस बंध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादि काल से निराबाध गति से चला आ रहा है, मध्य में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे भी होगा, ऐसे बंध या उदय को अनादि-अनंत कहते हैं। ऐसा बन्ध या उदय अभव्य जीवों को होता है।

(२) अनादि-सान्त—जिस बंध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादि काल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है, लेकिन आगे

१ सादि-अनंत भंग विकल्प संभव नहीं होने से पंचसंग्रह में तीन भंग माने हैं—

होई अणादअणंतो अणाद-संतो य सादसंतो य ।

बंधो अभव्यभव्योवसंतजीवेषु इह तिविहो ॥

---बंध तीन प्रकार का होता है — अनादि-अनंत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। अभव्यों में अनादि-अनंत, भव्यों में अनादि-सान्त और उपशान्त-मोह गृणस्थान से च्युत हुए जीवों में सादि-सान्त बंध होता है।

च्युच्छिन्न हो जायेगा, उसे अनादि-सान्त कहते हैं। यह भय्य को होता है।

(३) सावि-अनन्त—जो आदि सहित होकर अनन्त हो। लेकिन यह भंग किसी भी बंध या उदय प्रकृति में घटित नहीं होता है। क्योंकि जो बंध या उदय आदि सहित होगा वह कभी भी अनन्त नहीं हो सकता है। इसीलिये इस विकल्प को ग्राह्य नहीं माना जाता है।

(४) सावि-सान्त—जो बंध या उदय बीच में रुक कर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तर में पुनः च्युच्छिन्न हो जाता है, उस बंध या उदय को सावि-सान्त कहते हैं। यह उपशांतमोह गुणस्थान से च्युत हुए जीवों में पाया जाता है।

इस प्रकार से चार भंगों का स्वरूप बतलाकर अब आगे की गाथा में बन्ध और उदय प्रकृतियों में उक्त भंगों को घटाते हैं।

पठमविधा ध्रुवज्वदसु ध्रुवबंधिसु तद्वअवज्जभंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिग्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअभंगा ॥५॥

शब्दार्थ—पठमविधा—पहला और दूसरा भंग, ध्रुवज्वदसु—ध्रुवोदयी प्रकृतियों में, ध्रुवबंधिसु—ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में, तद्वअवज्ज—तीसरे भंग के सिवाय, भंगतिगं—तीन भंग होते हैं, मिच्छम्मि—मिथ्यात्व में, तिग्नि—तीन, भंगा—भंग दुहावि—दोनों प्रकार की, अधुवा—अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी में, तुरिअ-भंगा—चौथा भंग।

गाथार्थ—ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला और दूसरा भंग होता है। ध्रुव-बन्धिनी प्रकृतियों में तीसरे भंग के अलावा

तीन भंग तथा मिथ्यात्व में भी तीन भंग होते हैं। दोनों प्रकार की अध्रुव प्रकृतियों में चौथा भंग होता है।

विशेषार्थ—पूर्व में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्त इन चार भंगों का सिर्फ नाम निर्देश किया है। यहां उन भंगों में से कौनसा भंग ध्रुवबन्धिनी-आदि प्रकृतियों में होता है, यह स्पष्ट करते हैं।

ये भंग ध्रुव, अध्रुव ब्रंघ और उदय प्रकृतियों में होते हैं। ध्रुव-बन्धिनी और अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नामों का निर्देश किया जा चुका है और ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों के नाम आगे की गाथा में बतलाये जायेंगे। लेकिन यहां सामान्य से तथा पुनरावृत्ति न होने देने की दृष्टि से बंध प्रकृतियों के साथ उदय प्रकृतियों से भी भंगों के होने के बारे में निर्देश कर दिया है।

सर्वप्रथम 'पदमद्विधा ध्रुवउदयसु' पद से बतलाया है कि ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला अनादि-अनन्त और दूसरा अनादि-सान्त यह दो भंग होते हैं। इसका कारण यह है कि अभव्यों के ध्रुवोदयी प्रकृतियों का कभी भी अनुदय नहीं होता है। अतएव पहला अनादि-अनंत भंग माना गया है। भव्य को उदय तो अनादि से होता है, किन्तु बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में उनका उदय नहीं हो पाता यानी उदयविच्छेद हो जाता है। इसी कारण ध्रुवोदयी प्रकृतियों में दूसरा अनादि-सान्त भंग माना है।

ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला और दूसरा भंग बतलाया है। लेकिन उनमें से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की अपनी विशेषता होने से 'मिच्छामि तन्नि भंगा'—मिथ्यात्व में तीन भंग होते हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-सान्त। ये भंग इस प्रकार होते हैं कि अभव्य को मिथ्यात्व का उदय अनादि-अनंत है। उसके न तो कभी मिथ्यात्व का

अभाव हुआ है और न होना वाला है। दूसरा अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि पहले-पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसके मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाता है। लेकिन सम्यक्त्व के छूट जाने व पुनः मिथ्यात्व का उदय होने पर और उसके बाद पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण मिथ्यात्व के उदय का अंत होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व के छूटने के बाद पुनः मिथ्यात्व का उदय होना सादि है और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण उस मिथ्यात्व का उदयविच्छेद होना सान्त है। इस स्थिति में चौथा भंग सादिसान्त मिथ्यात्व में घटित होता है।

लेकिन ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में तीसरे भंग को छोड़ शेष तीन भंग होते हैं—“ध्रुवबंधिसु तदवयवज्ज भंगतिगं।” यानी ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में पहला—अनादि-अनन्त, दूसरा अनादि-सान्त और चौथा सादि-सान्त यह तीन भंग होते हैं। ये तीन भंग इस प्रकार हैं—अभव्य को ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है और किसी समय भी अवन्धक नहीं होता है, अतः पहला अनादि-अनन्त भंग होता है तथा भव्य को भी यद्यपि ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का बन्ध अनादि का है, परन्तु गुणस्थान क्रमारोहण के साथ-साथ प्रकृतियों का विच्छेद होता जाता है जिससे दूसरा अनादि-सान्त भंग होता है तथा उसी गुणस्थान से आगे के गुणस्थान में आरोहण करते समय अवन्धक होकर अवरोहण के समय पुनः बन्धक हो जाने से सादिवन्ध और पुनः कालान्तर में गुणस्थान क्रमारोहण के समय अवन्धक होगा, इसीलिये उसको चौथा सादि-सान्त भंग होता है।

‘दुहावि अध्रुवा तुरिअभंगा’ यानी दोनों प्रकार की अध्रुव प्रकृतियों—अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों—में चौथा

सादि-सान्त भंग होता है। क्योंकि उनका बन्ध, उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नहीं होता है। अध्रुवता के कारण ही उनके बंध और उदय की आदि भी है और अन्त भी है।

गो० कर्मकांड में प्रकृतिबंध का निरूपण करते हुए बंध के चार प्रकार बतलाये हैं। सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

सादी अभ्यन्धबन्धे, सेहिअणारुद्धगे अणादी हु।

अभ्यन्धसिद्धिन् ध्रुवो भवसिद्धे अद्धवो बंधो ॥१२२॥

जिस कर्म के बंध का अभाव होकर पुनः वही कर्म बंधे, उसे सादि बंध कहते हैं। श्रेणि^१ पर जिसने पैर नहीं रखा है, उस जीव के उस प्रकृति का अनादि बंध होता है। अभव्य जीवों को ध्रुव बंध और भव्य जीवों को अध्रुव बंध होता है।

यहां ध्रुव और अध्रुव शब्द का अर्थ क्रमशः अनंत और सान्त ग्रहण किया है। क्योंकि अभव्य का बंध अनंत और भव्य का बंध सान्त होता है।

ध्रुवबन्धिनी ४७ प्रकृतियों में उक्त चारों प्रकार के बंध होते हैं तथा शेष अध्रुवबंधिनी ७३ प्रकृतियों में सादि और अध्रुव यह दो बंध हैं।

कर्मग्रन्थ में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में तीन भंग और गो० कर्मकांड में उक्त चार भंग बतलाये हैं। लेकिन इनमें मतभिन्नता नहीं है। क्योंकि कर्मग्रन्थ में संयोगी भंगों को लेकर कथन किया गया है और गो० कर्मकांड में असंयोगी प्रत्येक भंग का, जैसे अनादि, ध्रुव। इसीलिये

१ जिस गुणस्थान तक जिस कर्म का बन्ध होता है, उस गुणस्थान से आगे के गुणस्थान को यहाँ श्रेणि कहा गया है।

कर्मग्रन्थ में सादि-अनन्त भंग न बन सकने के कारण संयोगी तीन भंग माने हैं और गो० कर्मकांड में प्रत्येक भंग बन सकने से चार। इसी प्रकार कर्मग्रन्थ में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में एक सादि-सान्त भंग बताया है और गो० कर्मकांड में सादि और अध्रुव—दो भंग कहे हैं। लेकिन इसमें भी अन्तर नहीं है। क्योंकि सादि और अध्रुव यानि सान्त को मिलाने से संयोगी सादिसान्त भंग बनता है और दोनों को अलग-अलग गिनने से वे दो हो जाते हैं। प्रकृतिबंध के भंगों के बारे में कर्मग्रन्थियों में एकरूपता है, लेकिन कथनशैली की विविधता से भिन्नता-सी प्रतीत होती है।

इस प्रकार से बंध और उदय प्रकृतियों में अनादि-अनन्त आदि भंगों का क्रम जानना चाहिये। यह सामान्य से कथन किया है। विशेष कथन ध्रुवोदयी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों का नाम निर्देश करने के अनन्तर यथास्थान किया जा रहा है।

अब आगे की गाथा में ध्रुवोदय प्रकृतियों के नामों को बतलाते हैं।

ध्रुवोदय प्रकृतियाँ

निमिण धिर अथिर अगुरुय सुह्रसुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥६॥

शब्दार्थ - निमिण—निर्माण नामकर्म, धिर स्थिर नाम-
कर्म, अथिर—अस्थिर नामकर्म; अगुरुय अगुरुलघु नामकर्म,
सुह—शुभ नामकर्म, असुहं—अशुभ नामकर्म, तेय - तैजस शरीर,
कम्म—कर्मण शरीर, चउवन्ना—वर्णचतुष्क, नाणंतराय—ज्ञानावरण
अंतराय कर्म के भेद, दंसण - चार दर्शनावरण, मिच्छं—मिथ्यात्व
मोहनीय, ध्रुवउदय—ध्रुवोदयी, सगवीसा सत्ताईस।

गायार्थ—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस कर्मण शरीर, वर्णचतुष्क, पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, चार दर्शनावरण और मिथ्यात्व मोहनीय, ये ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतियां हैं।^१

विशेषार्थ—इस गाय्या में ध्रुवोदयी सत्ताईस प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं। इनको ध्रुवोदयी कहने का कारण यह है कि अपने उदय-विच्छेद काल तक इनका उदय बना रहता है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उदययोग्य १२२ प्रकृतियां हैं - ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५। इस प्रकार से ५ + ६ + २ + २८ + ४ + ६७ + २ + ५ = १२२ प्रकृतियां होती हैं। इनमें से २७ प्रकृतियां ध्रुवोदयी हैं। जिनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है --

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल ज्ञानावरण।

(२) वर्णनावरण—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण।

(३) मोहनीय—मिथ्यात्व।

१ (क) निर्माणधिराधिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं।

नायंतरायदसगं इंसणचउ मिच्छ निच्छदया।

—पंचसंग्रह ३।१६

(ख) गो० कर्मकांड में स्वोदयबन्धिनी प्रकृतियों को गिनने के संदर्भ में ध्रुवोदयी प्रकृतियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

.... मिच्छं सुहमस्स धादीओ ॥

नेअदुगं वण्णचउ धिग्गुत्तजुमलगुत्तणिमिण ध्रुवउदया ॥

—गो० कर्मकांड गा० ४०२, ४०३

(४) नामकर्म — निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ।

(५) अंतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अंतराय ।

इनका विवेचन गाथागत क्रम के अनुसार करते हैं । नामकर्म की निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण तथा वर्णचतुष्क यह बारह प्रकृतियां ध्रुवोदयो है, क्योंकि चारों पक्षियों के जीवों में इनका उदय सर्वदा रहता है । जब तक शरीर है तब तक इनका उदय अवश्य बना रहेगा । तेरहवें गुणस्थान के अंत में इन बारह प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है किन्तु वहाँ तक सभी जीवों के इन बारह प्रकृतियों का उदय बना रहता है ।

यद्यपि स्थिर, अस्थिर तथा शुभ, अशुभ ये चार प्रकृतियां परस्पर विरोधिनी कहलाती हैं । लेकिन इनका विरोधित्व बंध की अपेक्षा है, क्योंकि स्थिर नामकर्म के समय अस्थिर नामकर्म का और शुभ नाम के समय अशुभ नामकर्म का बंध नहीं हो सकता है, किन्तु उदयापेक्षा इनमें विरोध नहीं है । स्थिर और अस्थिर का उदय एक साथ हो सकता है । क्योंकि स्थिर नामकर्म के उदय से हाड, दांत आदि स्थिर होते हैं और अस्थिर नामकर्म के उदय से रुधिर आदि अस्थिर होते हैं, इसी प्रकार शुभ नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ अंग होते हैं और अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अंग । अतएव ये चारों प्रकृतियां बंध की अपेक्षा विरोधिनी होने पर भी उदयापेक्षा अविरोधिनी मानी गई हैं ।

पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों का उदय अपने क्षय होने वाले गुणस्थान तक बना रहता है । इनका क्षय बारहवें गुणस्थान के चरम समय में होता है ।^१ अतएव इन्हें

ध्रुवोदय कहा है। मोहनीय कर्म को मिथ्यात्व प्रकृति का उदयविच्छेद पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होता है। अतः पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक मिथ्यात्व का उदय ध्रुव होता है। इसीलिये यह ध्रुवोदय प्रकृति है।

इस प्रकार गाथा क्रमानुसार नामकर्म की १२, ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४ और मोहनीय की १, कुल सत्ताईस प्रकृतियां ध्रुवोदय हैं। अब आगे की गाथा में अध्रुवोदय प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

अध्रुवोदय प्रकृतियां

स्थिर-सुभियर विणु अध्रुवबंधी मिच्छ विणु मोहध्रुवबंधी ।

निद्रोवघात मीलं सम्मं पणनवइ अध्रुवदया ॥७॥

शब्दार्थ—स्थिर-सुभियर—स्थिर, शुभ तथा उनसे इतर नाम-कर्म, विणु—विना, अध्रुवबंधी—अध्रुवबंधी प्रकृति, मिच्छ विणु—मिथ्यात्व के अलावा, मोहध्रुवबंधी—मोहनीय कर्म की शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, निद्रा पांच निद्रायें, उवघात उपघात, मीलं—मिश्र मोहनीय, सम्मं—सम्यक्त्व मोहनीय, पणनवइ—पंचानवे, अध्रुवदया—अध्रुवोदया ।

गाथार्थ—स्थिर, शुभ और उनसे इतर अस्थिर और अशुभ के सिवाय शेष अध्रुवबन्धिनी (६६) प्रकृतियां, मिथ्यात्व के बिना मोहनीय कर्म की ध्रुवबन्धिनी १८ प्रकृतियां, पांच निद्रा, उपघात, मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय कुल ये ६५ प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में २७ ध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं अतः उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से उक्त २७ प्रकृतियों को कम

कर देने पर शेष ६५ प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। जिनका संकेत इस गाथा में किया गया है। इन पंचानवें प्रकृतियों को अध्रुवोदया मानने का सामान्य कारण तो यह है कि बहुत सी प्रकृतियां परस्पर विरोधी हैं और तीर्थंकर आदि कितनीक प्रकृतियों का सदैव उदय होता नहीं है तथा जिस गुणस्थान तक जितनी प्रकृतियों का गुणप्रत्यय से विच्छेद नहीं बतलाया है, वहां तक उन प्रकृतियों के रहने पर भी उसी गुणस्थान में वह प्रकृति द्रव्य आदि की अपेक्षा उदय में आये भी और न भी आये, इसीलिये उनको अध्रुवोदय प्रकृतियों में माना है। इनका विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व में अध्रुवबन्धिनी तिहत्तर प्रकृतियों के नाम बतलाये जा चुके हैं। उनमें से स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ इन चार प्रकृतियों के सिवाय शेष ६६ प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। इन उनहत्तर प्रकृतियों में से तीर्थंकर, उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराधात इन पांच प्रकृतियों का उदय किसी जीव को होता है और किसी जीव को नहीं होता है तथा शेष ६४ प्रकृतियां जैसे बन्धावस्था में विरोधिनी हैं, वैसे ही उदय दशा में विरोधनी हैं। इसीलिये इनको अध्रुवोदया कहा है।

मोहनीय कर्म की ध्रुवबन्धिनी उन्नीस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व को छोड़कर शेष सोलह कषाय, भय और जुगुप्सा ये अठारह ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। क्योंकि ये उदय में परस्पर विरोधी हैं। क्रोध का उदय होने पर मान आदि अन्य कषायों का उदय नहीं होता है, इसी प्रकार मान आदि के उदय के समय क्रोध आदि के बारे में भी जानना चाहिये। इसलिये बंध की अपेक्षा विरोधिनी नहीं होने पर भी उदय की अपेक्षा क्रोधादि कषायें विरोधिनी हैं। इसी विरोधरूपता के कारण कषायों को अध्रुवोदया कहा है। भय और जुगुप्सा का उदय भी कादाचित्क है। किसी के किसी समय इनका उदय होता है और

किसी के किसी समय नहीं भी होता है। अतएव इन दोनों को अध्रुवोदया माना है।

दर्शनावरण कर्म के भेद निद्रा आदि पांच निद्रायें अध्रुवोदया इसलिये मानी जाती हैं कि इनका उदय कभी होता है और कभी नहीं होता है तथा ये निद्रायें परस्पर में विरोधी हैं। यानी एक समय में एक ही निद्रा का उदय होता है। उपघात नामकर्म का उदय किसी जीव को कभी-कभी होता है। अतः वह अध्रुवोदयी है।

मिश्र प्रकृति को अध्रुवोदयी इसलिये माना जाता है कि इसकी उदयविरोधिनी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय है, जिनके काल में इसका उदय नहीं होता है। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय वेदक (आयोपशमिक) सम्यग्दृष्टि को होता है और वेदक सम्यक्त्व का उदय काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागर अधिक चार पूर्व कोटि है। अतः यह अध्रुवोदया है। इस प्रकार ६५ प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। इनके उदय का विच्छेद होने पर भी पुनः उदय हो सकता है।

मिथ्यात्व मोहनीय को अध्रुवोदया प्रकृति न मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में सतत रहता है, एक क्षण के लिये भी नहीं रुकता है। जबकि अध्रुवोदया प्रकृतियों का उदयविच्छेद न होने तक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त से कभी उदय होता है और कभी नहीं होता है। इसीलिये उनकी अध्रुवोदया संज्ञा है।

बंध एवं उदय प्रकृतियों में अनादि-अनन्त आदि सगों का स्पष्टीकरण

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से ४७ ध्रुवबंधिनी और ७३ अध्रुवबंधिनी तथा उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से २७ ध्रुवोदया तथा ६५ अध्रुवोदया हैं। इस प्रकार से बंध एवं उदय प्रकृतियों के ध्रुव, अध्रुव दो

रूप होने से प्रश्न होता है कि ध्रुव प्रकृतियों का सदैव अनादि से अनन्त काल तक बंध, उदय होता रहेगा और अध्रुव प्रकृतियों का सादिसान्त बंध, उदय होता है। इसलिये अनादि-अनंत और सादि-सान्त यह दो भंग मानना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि संसारी जीव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। अनादि से अनन्तकाल तक यह क्रम चलता है। लेकिन जो जीव भव्य हैं—मुक्तिप्राप्ति की योग्यता वाले हैं तथा अभव्य—मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता वाले नहीं हैं, उनकी अपेक्षा से अनादि-अनंत आदि चार भंग होते हैं। जिनका बंध और उदय प्रकृतियों में स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

कर्म प्रकृतियों में होने वाले चार भंगों के नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं। उनमें से ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में तीसरे भंग के सिवाय शेष अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि-सांत यह तीन भंग होते हैं—जो इस प्रकार हैं—

पहला अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से होता है। क्योंकि अभव्य जीवों के ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंध अनादि-अनंत होता है। अनादि-सान्त दूसरा भंग भव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों के बंध की अनादि सन्तान जब दसवें गुणस्थान में विच्छिन्न हो जाती है तब अनादि-सान्त भंग होता है तथा ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में उक्त चौदह प्रकृतियों का बंध न करके मरण हो जाने अथवा ग्यारहवें गुणस्थान का समय पूरा हो जाने के कारण कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जब पुनः उक्त चौदह प्रकृतियों का बंध करता है और दसवें गुणस्थान में पुनः उनका बंध-विच्छेद करता है तब सादि-सान्त नामक चतुर्थ भंग घटित होता है।

संज्वलन कषाय के बंध का निरोध जब कोई जीव नीवें गुणस्थान में करता है तब अनादि-सान्त भंग घटित होता है और जब वही जीव नीवें गुणस्थान से च्युत होकर पुनः संज्वलन कषाय का बंध करता है तथा पुनः नीवें गुणस्थान को प्राप्त करने पर उसका निरोध करता है तब सादि-सान्त चौथा भंग होता है ।

निद्रा, प्रचला, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, भय और जुगुप्सा ये तेरह प्रकृतियां आठवें गुणस्थान में विच्छिन्न हो जाती हैं तब इनका अनादि-सान्त भंग होता है और आठवें गुणस्थान से पतन होने के बाद जब उनका बंध होता है तो वह सादि बंध है तथा पुनः आठवें गुणस्थान में पहुँचने पर जब उनका बंध-विच्छेद हो जाता है तो वह बंध सान्त कहलाता है । इस प्रकार उनमें सादि-सान्त यह चौथा भंग घटित होता है ।

प्रत्याख्यानारण कषाय चतुष्क का बंध पांचवें गुणस्थान तक अनादि है किन्तु छठे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाने से सान्त होता है । अतः अनादि-सान्त भंग होता है । छठे गुणस्थान से गिरने पर जब पुनः बंध होने लगता है और छठे गुणस्थान के प्राप्त करने पर उसका अभाव हो जाता है तब चौथा सादि-सान्त भंग घटित होता है । अप्रत्याख्यानारण कषाय चतुष्क का बंध चौथे गुणस्थान तक अनादि है, लेकिन पांचवें गुणस्थान में उसका अन्त हो जाता है अतः दूसरा अनादि-सान्त भंग बनता है तथा पांचवें गुणस्थान से गिरने पर पुनः बन्ध और जब पांचवें गुणस्थान के प्राप्त होने पर अबंध करने लगता है तब सादि-सान्त चौथा भंग होता है ।

मिथ्यात्व, स्त्यानद्वित्रिक, अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का अनादि बंधक मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्त्व को प्राप्ति होने पर उनका बंध नहीं करता है तब दूसरा अनादि-सान्त भंग और पुनः मिथ्यात्व में गिर

कर उक्त प्रकृतियों का बंध करने और पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर बंध नहीं करने पर चौथा सादि-सान्त भंग होता है। इस प्रकार ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में तीसरे सादि-अनंत भंग के सिवाय शेष अनादि-अनंत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन भंग होते हैं।

अब ध्रुवोदया प्रकृतियों में भंगों को घटित करते हैं। ध्रुवोदया प्रकृतियों में पहला अनादि-अनंत और दूसरा अनादि-सान्त यह दो भंग होते हैं। ध्रुवोदया २७ प्रकृतियों के नाम यथास्थान बतलाये जा चुके हैं। उनमें से मिथ्यात्व प्रकृति में विशेषता है। इसलिए उसके भंगों के बारे में अलग से कल्पन किये जाने से शेष छब्बीस प्रकृतियों के बारे में स्पष्टीकरण करते हैं।

निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तेजस, कामण, वर्णचतुष्क, पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन छब्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों में पहला अनादि-अनंत भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। क्योंकि अभव्य जीवों के ध्रुवोदया प्रकृतियों के उदय का न तो आदि है और न अंत ही होता है।

दूसरा अनादि-सान्त भंग भव्य जीवों की अपेक्षा घटित होता है। पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक तो जीवों को अनादि काल से है, लेकिन बारहवें गुणस्थान के अंत में जब इनका विच्छेद हो जाता है तब वह उदय अनादि-सान्त कहा जाता है। इसी प्रकार निर्माण, स्थिर, अस्थिर आदि शेष बची हुई बारह प्रकृतियों का अनादि उदय-तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान के अंत में विच्छिन्न हो जाता है तब उनका उदय अनादि-सान्त कहलाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के सिवाय शेष ध्रुवोदया प्रकृतियों में केवल दो ही भंग घटित होते हैं—अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनंत

और भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त । शेष दो भंग—सादि-अनंत और सादि-सान्त घटित नहीं होते हैं । क्योंकि किसी प्रकृति के उदय का विच्छेद होने के पश्चात् पुनः उदय होने लगता हो तो वह उदय सादि कहलाता है । लेकिन उक्त ध्रुवोदयी प्रकृतियों का उदयविच्छेद बारहवें, तेरहवें गुणस्थान के अंत में हो जाने पर पुनः उनका उदय नहीं होता है और उन गुणस्थानों के प्राप्त हो जाने के बाद जीव नीचे के गुणस्थानों में नहीं आकर मुक्ति को ही प्राप्त करता है । अतः उक्त प्रकृतियों का सादि उदय नहीं होता है । इसलिए शेष दो भंग भी नहीं होते हैं ।

छब्बीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों में आदि के दो भंग होते हैं, लेकिन मिथ्यात्व में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त यह तीन भंग होते हैं । अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से, अनादि-सान्त भंग अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों की अपेक्षा से घटित होता है । अनादि-अनन्त भंग अभव्य जीवों की अपेक्षा से मानने का कारण यह है कि उनके मिथ्यात्व के उदय का अभाव न तो कभी हुआ है और न होगा । भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त भंग इसलिए माना जाता है कि पहले पहल सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर उनके अनादि-कालीन मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है । चौथा सादि-सान्त भंग भी उस भव्य जीव की अपेक्षा घटित होता है जो सम्यक्त्व के छूट जाने के पश्चात् पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त करके भी पुनः सम्यक्त्व को पाकर उसका अभाव कर देता है । इस प्रकार ध्रुवोदया मिथ्यात्व प्रकृति में तीन भंग घटित होते हैं ।

अध्रुवबन्धिनी और अध्रुवोदयी प्रकृतियों में केवल सादि-सान्त भंग ही घटित होता है । क्योंकि उनका बंध और उदय अध्रुव है, कभी होता है और कभी नहीं होता है । इस प्रकार बंध और उदय प्रकृतियों में भंगों का क्रम समझना चाहिए ।

बंध एवं उदय प्रकृतियों के उक्त ध्रुव, अध्रुव जेदों में भंगों को घटित करने का सारांश यह है कि मिथ्यात्व को छोड़कर शेष उदय प्रकृतियों में पहले दो—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त भंग तथा मिथ्यात्व में तीन—अनादि-अनंत, अनादि-सान्त तथा सादि-सान्त भंग होते हैं। ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त यह तीन भंग घटित होते हैं। अध्रुव बंध व उदय प्रकृतियों में सिर्फ सादि-सान्त यह एक भंग होता है। यह भंग भव्य और अभव्य जीवों की पारिणामिक स्थिति के कारण बनते हैं। ग्रन्थकार ने सूत्र रूप में प्रकृतियों में घटित होने वाले भंगों का संकेत गाथा ५ में कर ही दिया है कि—

पद्मबिम्बा ध्रुवउदयसु ध्रुवबंधिसु तद्व्यवच्छेद भंगतिगं ।

मिच्छामि तिस्रि भंगा बुहावि अधुवा सुरिअ भंगा ॥

इस प्रकार से ध्रुव-अध्रुव बंध, उदय प्रकृतियों के नाम और उनमें घटित होने वाले भंगों की संख्या का कारण सहित स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब दो गाथाओं में ध्रुव, अध्रुव सत्ता प्रकृतियों को गिनाते हैं।

ध्रुव-अध्रुव सत्ता प्रकृतियां—

तसवन्नवीस सगतेय-कम्म ध्रुवबंधि सेस वेयतिगं ।

आगिइतिग वेयणियं बुजुयल सगउरल सासचऊ ॥८॥

लगइतिरिदुग नीयं ध्रुवसंता सम्म धीस मणुयदुगं ।

विउयिक्कार जिणाऊ हारसगुच्चा अध्रुवसंता ॥९॥

शब्दार्थ—तसवन्नवीस—अस आदि बीस व वर्ण आदि बीस प्रकृतियां, सगतेयकम्म नैजय कामेण सप्तक, ध्रुवबंधि—ध्रुवबंधिनी, सेस—बाकी को, वेयतिगं—वेदत्रिक, आगिइतिग—आकृतित्रिक—छह

संस्थान, छह संहनन और पांच जाति, वेदणियं—वेदनीय, कुजुयल—
दो युगल, सगउरस—औदारिक-सप्तक, सासचऊ—श्वासचतुष्क ।

खगईतिरिबुग खतिद्विक और तियंचद्विक, नीयं—नीच
गोत्र, ध्रुवसंता—ध्रुवसत्ता सम्म—सम्यक्त्व मोहनीय, मीस—मिश्र
मोहनीय, मणुयबुगं मनुष्यद्विक, बिउबिक्कार—वैकिय एकादश,
जिन—जिन नामकर्म, आऊ—चार आयु, हारसग—आहारकसप्तक,
उच्छा—उच्च गोत्र, अध्रुव संता—अध्रुव सत्ता ।

गाथायं—तिसवीशक और वर्णवीशक, तैजस-कर्मण
सप्तक, बाकी की ध्रुववन्धिनी प्रकृतियां, तीन वेद, आकृति-
त्रिक, वेदनीय, दो युगल, औदारिक सप्तक, उच्छ्वास चतुष्क
तथा—

विहायोगतिद्विक, तियंचद्विक, नीच गोत्र, ये सब ध्रुव-
सत्ता प्रकृतियां हैं । सम्यक्त्व, मिश्र, मनुष्यद्विक, वैकिय-
एकादश, तीर्थकर नामकर्म, चार आयु, आहारक-सप्तक और
उच्च गोत्र ये अध्रुव सत्ता प्रकृतियां जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—बंध एवं उदय प्रकृतियों का ध्रुव व अध्रुव के भेद से
वर्गीकरण करने के पश्चात् इन दोनों गाथाओं में ध्रुव सत्ता और
अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की संख्या बतलाई है । कुछ प्रकृतियों के
तो नाम बतलाये हैं और कुछ प्रकृतियों का संज्ञाओं द्वारा निर्देश
किया है ।

बंध-योग्य प्रकृतियां १२० हैं और उदययोग्य १२२ प्रकृतियां हैं,
लेकिन सत्ता प्रकृतियों की संख्या १५८ है ।^१ जिनके नाम प्रथम कर्म-

१. बंध की अपेक्षा उदय, सत्ता प्रकृतियों के अन्तर का कारण परिशिष्ट
में देखिये ।

ग्रन्थ में स्पष्ट किये गये हैं और संख्या इस प्रकार है—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नामकर्म १०३, गोत्र २, अंतराय ५। कुल मिलाकर (५ + ६ + २ + २८ + ४ + १०३ + २ + ५) १५८ भेद हो जाते हैं।

इन १५८ प्रकृतियों का ध्रुव और अध्रुव सत्ता रूप में कथन करने के लिये निम्नलिखित संज्ञाओं का उपयोग किया गया है। संज्ञाओं और उनमें गभित प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

त्रसदशक—तस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति।^१

वर्णदशक—पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श।^२

तैजस कार्मण सप्तक—तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजसतैजस बंधन, तैजसकार्मण बंधन, कार्मण-कार्मण बन्धन, तैजस संघातन, कार्मण संघातन।

आकृतित्रिक—छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि वृज्ज, वामन, हुंड। छह संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त। पाँच जाति—(जाति नामकर्म के भेद) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

युगलद्विक—हास्य और रति का युगल तथा शोक व अरति का युगल।

औदारिकसप्तक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, औदा-

१. तस से लेकर यशःकीर्ति तक की प्रकृतियाँ त्रसदशक और स्थावर से अयशःकीर्ति तक की प्रकृतियाँ स्थावरदशक कहलाती हैं।

२. वर्ण चतुष्क में गभित नामों को प्रथम कर्मग्रन्थ में देखिये।

रिक संघात, औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक-कर्मण बंधन, औदारिक-तैजस-कर्मण बंधन ।

उच्छ्वास चतुष्क—उच्छ्वास, आतप, उद्योत, पराधात ।

खगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति ।

तिर्य्यचद्विक—तिर्य्यचगति तिर्य्यचानुपूर्वी ।

मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी ।

वैक्रियएकादश—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, वैक्रिय संघात, वैक्रियवैक्रिय बंधन, वैक्रियतैजस बंधन, वैक्रियकर्मण बंधन, वैक्रिय-तैजस-कर्मण बंधन ।

आहारकसप्तक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक-संघातन, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बंधन, आहारक-कर्मण बंधन, आहारक-तैजस-कर्मण बंधन ।

इन संज्ञाओं में गृहीत प्रकृतियों तथा कुछ प्रकृतियों के नाम निर्देश पूर्वक ध्रुव-अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की अलग अलग संख्या बतलाई है । तसवन्नवीस से लेकर नीयं ध्रुवसत्ता पद तक ध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों के नाम हैं तथा सम्ममीस मणुयदुगं से लेकर हार-सभृच्चा पद तक अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के नाम हैं । कुल मिलाकर ये १५८ प्रकृतियां हो जाती हैं ।

बंध और उदय में ध्रुवबंधिनी और ध्रुवोदया प्रकृतियों की संख्या अध्रुवबंधिनी और अध्रुवोदया की अपेक्षा कम है, लेकिन इसके विपरीत सत्ता में ध्रुवसत्ता प्रकृतियों की संख्या अधिक और अध्रुवसत्ता प्रकृतियों की संख्या कम है । इसका स्पष्टीकरण यह है कि बंध के समय ही किसी प्रकृति का उदय हो जाये और किसी प्रकृति के उदय के समय ही उस प्रकृति का बंध भी हो जाये यह आवश्यक नहीं

है। किन्तु जो बंधदशा में है और जिसका उदय हो रहा है, उसकी सत्ता अवश्य होती है। इसी कारण ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की संख्या अधिक और अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों की संख्या कम है।

वसादि बीस से लेकर नीच गोत्र पर्यन्त की प्रकृतियों को ध्रुव-सत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

वसादि बीस, वर्णादि बीस और तैजस-कर्मण सप्तक की सत्ता सभी संसारी जीवों के रहती है। समस्त ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां ध्रुव सत्ता वाली होती हैं। क्योंकि जिनका बंध सर्वदा हो रहा है उनकी अवश्य ही ध्रुव सत्ता होगी। लेकिन वर्णबीशक में वर्णचतुष्क और तैजस-कर्मण सप्तक में तैजस, कर्मण शरीर का अलग से निर्देश कर दिये जाने से सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में से इन छह प्रकृतियों को कम करके शेष ४१ प्रकृतियों का संकेत किया है। तीनों वेदों का बंध और उदय अध्रुव बतलाया है किन्तु उनकी सत्ता ध्रुव है। क्योंकि वेदों का बंध क्रम-क्रम से होता है लेकिन उनके एक साथ रहने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। परस्पर दलों की संक्रांति होने की अपेक्षा वेदनीयद्विक को ध्रुवसत्ता माना है। हास्य-रति और शोक-अरति इन दोनों युगलों की सत्ता नौवें गुणस्थान तक सदैव रहती है अतः इनकी सत्ता को ध्रुव माना है। औदारिक सप्तक की सत्ता भी सदा रहती है। क्योंकि मनुष्य व तिर्यञ्च गति में इनका उदय रहता है तथा देव व नरक गति में इनका बंध होता है। इसीलिये इनको ध्रुवसत्ता माना है। इसी प्रकार उच्छ्वास चतुष्क, विहायोगति युगल, तिर्यचद्विक, नीच गोत्र की सत्ता भी सदैव रहती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से पहले सभी जीवों में ये प्रकृतियां सदा रहती हैं। इसीलिए इनको ध्रुवसत्ता कहा जाता है।

ध्रुवसत्ता प्रकृतियों के ध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब शेष प्रकृतियों को अध्रुवसत्ता वाली मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

सम्यक्त्व और मिथ्र मोहनीय की सत्ता अभव्यों के तो होती ही नहीं है किन्तु भव्यों में भी बहुतों को नहीं होती है। तेजस्काय और वायुकाय के जीव जब मनुष्यद्विक की उद्वलना कर देते हैं तब मनुष्यद्विक की सत्ता नहीं होती है, इसीलिये मनुष्यद्विक को अध्रुवसत्ता माना है। वैक्रिय एकादश प्रकृतियों की सत्ता अनादि निगोदिया जीव के नहीं होती है तथा जिसने वस पर्याप्त प्राप्त नहीं की हो, उसके बंध का अभाव होने से अथवा बंध करके स्थावर में जाने पर उनकी स्थिति का क्षय होने से तथा एकेन्द्रिय में जाकर उनकी उद्वलना करने वाले जीव के भी सत्ता नहीं रहने से वैक्रिय एकादश की सत्ता अध्रुव मानी है।

सम्यक्त्व के होते हुए भी तीर्थंकर नामकर्म किसी को होता है और किसी को नहीं होता है तथा स्थावरों के देवायु और नरकायु का, अहमिन्द्रों (नव ग्रंथेयक और पाँच अनुत्तर के देव) के तिर्यचायु का, तेजस्काय व वायुकाय और सप्तम नरक के नारकों के मनुष्यायु का सर्वथा बंध न होने के कारण उनकी सत्ता नहीं रहती है। इसीलिए इन प्रकृतियों की गणना अध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों में की जाती है।

आहारकसप्तक की सत्ता संयम के होने पर भी किसी के होती है और किसी के नहीं होती है। सभी संयमधारियों को आहारक शरीर होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। उच्च गोत्र भी अनादि निगोदिया जीवों के नहीं होता है, उद्वलन हो जाने पर तेजस्काय और वायुकाय के जीवों के उच्च गोत्र नहीं होता है। इसीलिये अट्ठाईस प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ता हैं।

इस प्रकार से सत्ता प्रकृतियों के १५८ भेदों में से कितनी और कौन-कौन सी प्रकृतियां ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता हैं, इसका कथन करने के बाद अब आगे की तीन गाथाओं में कुछ प्रकृतियों की गुणस्थानों की अपेक्षा ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता का निरूपण करते हैं।

पहमतिगुणेषु मिच्छं नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
 सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइवसगे वा ॥१०॥
 सासणमीसेसु धुवं मीसं मिच्छाइवससु भयणाए ।
 आइवुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥
 आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वित्तिगुणे विणा तित्थं ।
 नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ॥१२॥

शब्दार्थ—पहमतिगुणेषु—पहले तीन गुणस्थानों में, मिच्छं—मिथ्यात्व, नियमा—निश्चित रूप से, अजयाइ—अविरति आदि, अट्ठगे—आठ गुणस्थानों में, भज्जं—भजना से (विकल्प से), सासाणे—सासादन गुणस्थान में, खलु—निश्चय से, सम्मं—सम्यक्त्व मोहनीय, संतं—विद्यमान होती है, मिच्छाइवसगे—मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों में, वा—विकल्प से।

सासणमीसेसु—सासादन और मिश्र गुणस्थान में, धुवं—नित्य, मीसं—मिश्र मोहनीय, मिच्छाइनवसु—मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानों में, भयणाए—विकल्प से, आइवुगे—आदि के दो गुणस्थानों में, अण—अनन्ताशुबंधी, नियमा—निश्चय से, भइया—विकल्प से, मीसाइनवगम्मि—मिथ्यादि नौ गुणस्थानों में।

आहारसत्तगं—आहारक सत्तक, सव्वगुणे—सभी गुणस्थानों में, वा—विकल्प से, वित्तिगुणे—दूसरे तीसरे गुणस्थान में, विणा—बिना, तित्थं—तीर्थकर नामकर्म, न—नहीं होता है, उभयसंते—

दोनों की सत्ता, मिच्छो—मिथ्यात्वी, अन्तर्मुहूर्त—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, अवे—होती है, तित्थे—तीर्थंकर नामकर्म के होने पर भी ।

गाथा—पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य होती है और अविरति आदि आठ गुणस्थानों में भजनीय है, सासादन गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता निश्चित रूप से होती है और मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों में विकल्प से होती है ।

सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की सत्ता निश्चित रूप से रहती है । मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थानों में विकल्प से है । पहले दो गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता अवश्य होती है और मिश्र आदि नौ गुणस्थानों में भजनीय है ।

आहारक सप्तक सभी गुणस्थानों में विकल्प से है । दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों में तीर्थंकर नामकर्म विकल्प से होता है और दोनों (आहारक सप्तक व तीर्थंकर नामकर्म) की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं आता है । यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्तावाला कोई जीव मिथ्यात्व में आता है तो सिर्फ अन्तर्मुहूर्त तक के लिये आता है ।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं द्वारा गुणस्थानों में कुछ प्रकृतियों की सत्ता विषयक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है कि कौन-सी प्रकृति किस गुणस्थान तक निश्चित व विकल्प होती है ।

मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता का नियम

मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता के बारे में बतलाया है कि 'पठमति-गुणेषु मिच्छं नियमा' पहले तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व मोहनीय

प्रकृति की सत्ता अवश्य होती है। साथ ही यह भी कहा है कि 'सासाणे खलु सम्मं संतं' सासादन गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति निश्चित रहा है। यानी मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के निश्चित अस्तित्व का कथन किया गया है।

इस प्रकार से मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की गुणस्थानों में निश्चित सत्ता बतलाने के साथ-साथ इन दोनों प्रकृतियों की विकल्पसत्ता वाले गुणस्थानों का संकेत क्रमशः 'अजयाइअट्ठगे भज्जं' व 'मिच्छाइदसगे वा' पदों से किया है कि मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि आदि आठ गुणस्थानों में भजनीय है तथा सम्यक्त्व प्रकृति सासादन के सिवाय पहले मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों में विकल्प से होती है। इसके कारण को स्पष्ट करते हैं।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता इसलिये मानी जाती है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तो मिथ्यात्व की सत्ता रहती ही है। उपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिका काल शेष रहने पर कोई-कोई जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उस समय उन जीवों के मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता अवश्य रहती है। इसीलिये दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की सत्ता बतलाने के साथ सम्यक्त्व की भी सत्ता बतलाई है।

१. उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।

सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्मि छावलिय ॥

—विशे० भाष्य ५३४

उपशम सम्यक्त्व के काल में अधिक से अधिक ६ आवलिका शेष रहने पर अनंतानुबंधी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक जीव मिथ्यात्व में नहीं आता तब तक वह उस समयावधि के लिये सासादन सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख होता है तब करणलब्धि के बल से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व मोहनीय के दलिको के तीन रूप हो जाते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध दलिक सम्यक्त्व, अर्धशुद्ध मिश्र और अशुद्ध मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते हैं। उपशम सम्यक्त्व के अंत में उक्त तीन पुंजों में से यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय हो जाता है तो पहला गुणस्थान, यदि मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय का उदय होता है तो तीसरा मिश्र गुणस्थान हो जाता है। इस प्रकार पहले और तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की सत्ता रहती है। इसीलिये पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की सत्ता मानी गई है।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय चौथे अविरति आदि आठ गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता होने और न होने का कारण यह है कि यदि उन गुणस्थानों में मिथ्यात्व का क्षय कर दिया जाता है यानी क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती है और यदि मिथ्यात्व का उपशम किया जाता है तो मिथ्यात्व की सत्ता अवश्य रहती है। मिथ्यात्व की सत्ता रहने के कारण ही उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होता है।

दूसरे सासादन गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि दस गुणस्थानों में सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता विकल्प से मानने यानी होती भी है और नहीं भी होती है, का कारण यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जिसने कभी भी मिथ्यात्व के शुद्ध, अर्धशुद्ध, अशुद्ध यह तीन पुंज नहीं किये तथा जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीव ने सम्यक्त्व (शुद्ध पुंज) की उद्वलना कर दी है, उसके सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता नहीं होती है, शेष मिथ्यादृष्टि जीवों के उसकी सत्ता होती है। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व की उद्वलना करके

मिश्र गुणस्थान में आने वाले जीव के सम्यक्त्व की सत्ता नहीं रहती है, शेष जीवों के रहती है ।

चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति को सत्ता नहीं होती है किन्तु क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि को उसकी सत्ता अवश्य रहती है ।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की प्रकृति मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की सत्ता का विचार आदि के ग्यारह गुणस्थानों में किया गया । अन्त के तीन गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है अतः इनकी सत्ता नहीं रहती है । अब आगे मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय की सत्ता का विचार करते हैं ।

मिश्र मोहनीय और अनन्तानुबन्धी की सत्ता का नियम

मिश्र मोहनीय की निश्चित रूप से किस गुणस्थान में सत्ता होती है, इसके लिये कहा है—‘सासणमोसेमु ध्रुवं मीसं—सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) मोहनीय की सत्ता नियम से होती है । इसका कारण यह है कि ‘प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जो मिथ्यात्व के तीन पुंज हो जाते हैं और उस सम्यक्त्व के काल में जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलिका काल शेष रह जाता है तब सासादन गुणस्थान की प्राप्ति होती है । उस समय उस जीव के परिणाम निश्चित रूप से न तो सम्यक्त्व रूप होते हैं और न मिथ्यात्व रूप किन्तु सम्यक्त्वांश भी होता है और मिथ्यात्वांश भी । इसीलिये मिश्र प्रकृति की सत्ता रहती है । इसीलिये दूसरे गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की सत्ता मानने का विधान किया है ।

तीसरा मिश्र गुणस्थान मिश्र मोहनीय के उदय के बिना होता नहीं है । इसीलिये तीसरे गुणस्थान में मिश्र प्रकृति की ध्रुवसत्ता कही

है और विकल्प से पाये जाने वाले गुणस्थानों के बारे में कहा है कि 'मिच्छाइनवसु भयणाए' यानी दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले मिथ्यासत्ता चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें, इन नौ गुणस्थानों में अध्रुवसत्ता है। क्योंकि जिस मिथ्यादृष्टि जीव ने मिश्र प्रकृति की उद्वलना की है, उसके व अनादि मिथ्यात्वा की मिश्र प्रकृति की सत्ता नहीं है। चौथे आदि आठ गुणस्थानों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के मिश्र प्रकृति की सत्ता नहीं होती है, शेष जीवों के इसकी सत्ता होती है।

मिश्र मोहनीय प्रकृति की सत्ता का कथन करने के पश्चात् अब अनन्तानुबंधी की सत्ता के बारे में बतलाते हैं।

अनन्तानुबंधी के निश्चित गुणस्थानों के बारे में कहा है—'आइदुगे अण निममा' आदि के दो—पहले, दूसरे गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी की ध्रुवसत्ता है। क्योंकि दूसरे गुणस्थान तक अनन्तानुबंधी का बंध होता है, इसीलिये उसकी सत्ता अवश्य रहेगी। शेष तीसरे आदि नौ गुणस्थानों में उसकी सत्ता अध्रुव है—'अइया मीसाइनवगम्मि।' क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने वाले के अनन्तानुबंधी की सत्ता नहीं होती है।

अनन्तानुबंधी की अध्रुवसत्ता के विषय में ऊपर कर्म-ग्रन्थिक्रम का उल्लेख किया गया है कि तीसरे आदि नौ गुणस्थानों में विकल्प से सत्ता है। लेकिन कर्मप्रकृति^१ और पंच-

१ संजोयणा उ निममा दुसु पंचसु होइ अइयव्व ।

—कर्मप्रकृति (सत्ताधिकार)

दो गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी नियम से होती है और पाँच गुणस्थानों में भजतीय है।

संग्रह^१ में तीसरे से लेकर सातवें तक पाँच गुणस्थानों में सत्ता मानी है।

कर्मग्रन्थ में म्यारहवें गुणस्थान तक और कर्मप्रकृति व पंचसंग्रह में सातवें गुणस्थान तक अनंतानुबंधी कषाय की सत्ता मानने के अन्तर का कारण यह है कि कर्मप्रकृति व पंचसंग्रहकार उपशमश्रेणि में अनंतानुबंधी का सत्त्व नहीं मानते हैं और कर्मप्रकृतिकार उसका सत्त्व स्वीकार करते हैं। कर्मप्रकृतिकार के मतव्य का सारांश यह है कि चारित्र मोहनीय के उपशम का प्रयास करने वाला अनंतानुबंधी का अवश्य विसंयोजन करता है।

आहारक सप्तक और तीर्थकर प्रकृति की सत्ता का नियम

आहारक सप्तक की गुणस्थानों में सत्ता बतलाने के लिये कहा है—
आहारसत्तगं वा सव्वगुणे । यानी आहारक सप्तक की सत्ता विकल्प से सभी गुणस्थानों में है। ऐसा कोई गुणस्थान नहीं कि जिसके बारे में आहारक सप्तक की सत्ता नियम से होने का कथन किया जा सके अर्थात् सभी गुणस्थानों में इसकी अध्रुव सत्ता है।

इसका कारण यह है कि आहारक शरीर नामकर्म प्रशस्त प्रकृति है और इसका बंध किसी-किसी विशुद्ध चारित्रधारक अप्रमत्त संयमी को होता है।^२ जब कोई अप्रमत्त संयमी आहारक शरीर का बंध

१ सासायणसंनियमा पंचसु भजता अधो पदमः । —पंचसंग्रह ३४२

गो० कर्मकांड शाखा ३९१ में उक्त मतभेद का 'गत्थि अणं उवसमगे' पद द्वारा उल्लेख किया है तथा दोनों मतों को स्थान दिया है।

२ (क) शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारक चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।

—तत्त्वार्थसूत्र २।४६

(ख) आहारक शरीर और तीर्थकर प्रकृति के बंध के कारण का संकेत पंचसंग्रह में किया है

नित्ययराहारणं बंधे सम्मतसंजमा हेऊ । —पंचसंग्रह २०४

तीर्थकर प्रकृतिक बंध में सम्यक्त्व और आहारक के बंध में संयम कारण है।

करके शुद्ध परिणामों के कारण ऊपर के गुणस्थानों में जाता है तब अथवा अशुद्ध परिणामों के कारण ऊपर के गुणस्थानों से नीचे के गुणस्थानों में आता है तब उसके आहारक सप्तक की सत्ता बनी रहती है। लेकिन जो अप्रमत्त संयमी मुनि आहारक सप्तक का बंध किये बिना ही ऊपर के गुणस्थानों में जाता है अथवा नीचे के गुणस्थानों में आता है, उसके उन गुणस्थानों में आहारक सप्तक की सत्ता नहीं पायी जाती है। इसी विभिन्नता के कारण आहारक सप्तक की सत्ता सभी गुणस्थानों में विकल्प से मानी गई है।

आहारक सप्तक के समान ही तीर्थंकर नामकर्म भी प्रशस्त प्रकृति है। क्योंकि उसका बंध सम्यक्त्व के सद्भाव में होता है और वह भी चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक किसी-किसी विशुद्ध सम्यग्दृष्टि को होता है। लेकिन गुणस्थानों में इसकी सत्ता के सम्बन्ध में गाथा में संकेत किया है कि 'वित्तिगुणे विष्णो तित्थं'—दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों में सत्ता विकल्प से होती है। इसका कारण यह है कि किसी जीव के चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने पर जब वह शुद्ध परिणामों के कारण ऊपर के गुणस्थानों में जाता है तो उनमें तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता पाई जाती है। लेकिन वह जीव जिसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है, अशुद्ध परिणामों के कारण ऊपर से नीचे के गुणस्थानों में भी आता है तो मिथ्यात्व गुणस्थान में भी आता है, लेकिन दूसरे और तीसरे गुणस्थान में नहीं हो आता है, इसीलिये दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष बारह गुणस्थानों में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रह सकती है। किन्तु कोई जीव विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं

करता है तो उसके सभी गुणस्थानों में तीर्थकर प्रकृति की सत्ता नहीं पाई जाती है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तो तीर्थकर प्रकृति की सत्ता नहीं पाई जाती है और शेष गुणस्थानों में उसका बंध करने वालों के संभव है लेकिन जिसने बंध ही नहीं किया उसके सत्ता होती ही नहीं। इसीलिये तीर्थकर प्रकृति की सत्ता अध्रुव मानी है।

नीचे में मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति के बंधक को आने का कारण यह है कि किसी जीव ने पूर्व में नरकायु बांधी हो और उसके बाद क्षाप्रोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तथाविध अध्यवसायों के फलस्वरूप तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर दिया हो तो अंत समय में सम्यक्त्व का वसन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त कर नरक में जन्म लेता है। इसी कारण तीर्थकर प्रकृति के बंधक को मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति का कथन किया जाता है।

तीर्थकर प्रकृति वाले को मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति होने पर भी वह अन्तर्मुहूर्त समय तक ही वहाँ ठहरता है—अंतर्मुहूर्त भवे तित्थे। इसका कारण यह है कि पहले जिस जीव ने नरकायु का बंध किया हो और बाद में वेदक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थकर प्रकृति का बंध कर ले तो वह जीव मरण काल आने पर सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है और मिथ्यात्व दशा में नरक में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह कथन निकाचित तीर्थकर नामकर्म की अपेक्षा से है। क्योंकि निकाचित तीर्थकर नामकर्म की सत्ता वाला अन्तर्मुहूर्त से अधिक मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं ठहरता है और पर्याप्त होकर तुरन्त सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सिर्फ आहारक सप्तक अथवा सिर्फ तीर्थकर प्रकृति को सत्ता वाला पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। लेकिन जिसके आहारक सप्तक और तीर्थकर प्रकृति दोनों का अस्तित्व है, उसके मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होने को स्पष्ट करते हैं कि 'मोक्षयसंते मिच्छे' उभय की सत्ता वाला जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता है। अर्थात् जिस जीव के आहारक व तीर्थकर दोनों प्रकृति की सत्ता है, उसका पतन नहीं होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं आता है।

इस प्रकार ध्रुवसत्ताक और अध्रुवसत्ताक प्रकृतियों का निरूपण करने के साथ मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबंधी चतुष्क तथा तीर्थकर व आहारक सप्तक इन पन्द्रह प्रकृतियों की गुणस्थानों में सत्ता का विचार किया गया। इनमें से आदि की सात अप्रशस्त और शेष आठ प्रशस्त प्रकृतियों में प्रधान हैं।

मिथ्यात्व आदि उक्त पन्द्रह प्रकृतियों की गुणस्थानों में सत्ता का कथन विशेष कारण से किया गया है। क्योंकि मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का जीव के उत्थान-पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक इन प्रकृतियों की सत्ता रहती है तब तक जीव अपने लक्ष्य—मोक्ष के कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता है। इनके सद्भाव में जीव यथार्थ लक्ष्य को नहीं समझकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन जब इन प्रकृतियों को निष्क्रिय, निस्सत्त्व बना डालता है तो संसार के बंधनों को तोड़कर अनन्त काल के लिये आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है।

जैसे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियाँ अप्रशस्त प्रकृतियों में मुख्य हैं वैसे ही आहारक सप्तक और तीर्थकर नामक ये आठ प्रकृतियाँ प्रशस्त प्रकृतियों में प्रधान हैं। क्योंकि आहारक सप्तक का बंध विरले ही तपस्वियों को होता है और तीर्थकर प्रकृति तो उनकी अपेक्षा भी

किसी-किसी को बंधती है। इसीलिये अप्रशस्त और प्रशस्त प्रकृतियों में प्रधान प्रकृतियों के गुणस्थानों का विवेचन किया है। अब आगे घाति और अधाति प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

घाति-अधाति प्रकृतियाँ

केवलजुयलावरणा पणनिहा बारसाइमकसाया ।
 मिच्छं ति सध्वघाइ चउणाणतिवसंणावरणा ॥१३॥
 सज्जलण नोक्कसाया विग्घं इय देसघाइय अधाई ।
 पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसा गोयबुग वन्ना ॥१४॥

शब्दार्थ -- केवलजुयल—केवलद्विक - केवलज्ञान, केवलदर्शन, आवरणा—आवरण, पण—पांच, निहा—निद्रायें बारस—बारह, आइमकसाया—आदि की कषायें, मिच्छं—मिथ्यात्व, ति—इस प्रकार, सध्वघाइ—सर्वघाति, चउ—चार, णाण—ज्ञान, ति वसंण—तीन दर्शन, आवरणा—आवरण।

संजलण संज्वलन, नोक्कसाया—नौ कषायें, विग्घं—पांच अंतराय, इय—ये, देसघाइ—देशघाति य—और, अधाइ—अधाति पत्तेयतणुट्ठ—प्रत्येक आदि आठ व शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ, आऊ आयु, तसवीसा—ससवीषक, गोयबुग—गोत्रद्विक, वेदनीय-द्विक, वन्ना—वर्णचतुष्क।

शब्दार्थ—केवलद्विक आवरण, पांच निद्रायें, आदि की बारह कषाय और मिथ्यात्व ये सर्वघाति प्रकृतियाँ हैं। चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण तथा --

संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ नौ कषायें और पांच अंतराय ये देशघाती प्रकृतियाँ जानना चाहिये। आठ प्रत्येक

प्रकृतियां, शरीरादि अष्टक, चार आयु, दसबीशक, गोत्रद्विक,

वेदनीयद्विक और वर्णचतुष्क ये प्रकृतियां अघातिनी हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में कर्म प्रकृतियों का घाति और अघाति की अपेक्षा वर्गीकरण किया गया है कि कितनी प्रकृतियों की संख्या कितनी है और वे कौन-कौन हैं और अघाति प्रकृतियों की संख्या कितनी और उनमें कौन-कौन-सी प्रकृतियों को ग्रहण किया गया है ।

यद्यपि सामान्य तौर पर तो सभी कर्म संसार के कारण हैं और जब तक कर्म का लेशमात्र है तब तक आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित नहीं कहलाती है । आत्मविकास की पूर्णता में कुछ न्यूनता बनी रहती है । लेकिन उनमें से कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो आत्मगुणों की अभिव्यक्ति को रोकते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो अभिव्यक्ति में व्यवधान नहीं डालकर संसार में बनाये रखते हैं । इसी दृष्टि से कर्मों के घाति और अघाति यह दो प्रकार माने जाते हैं । ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घाती और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघाती हैं । घातिकर्म की उत्तरप्रकृतियां घातिनी और अघातिकर्म की उत्तर प्रकृतियां अघातिनी कहलाती हैं ।

जो प्रकृतियां आत्मा के मूलगुणों का घात करती हैं, वे घातिनी कहलाती हैं और जो उनका घात करने में असमर्थ हैं, वे अघातिनी हैं । घाति प्रकृतियों में भी दो प्रकार हैं—सर्वघातिनी, देशघातिनी । जो सर्वघातिनी हैं वे आत्मा के गुणों को पूरी तरह घातती हैं अर्थात् जिनके रहने पर यथार्थ रूप में आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो पाते हैं और देशघातिनी प्रकृतियां यद्यपि आत्मगुणों की घातक अवश्य हैं लेकिन उनके अस्तित्व में भी अल्पाधिक रूप में आत्मगुणों का प्रकाशन

होता रहता है। गाथाओं में घाती और अघाती के रूप में प्रकृतियों के नाम बतलाने के साथ-साथ विज्ञेय रूप से घाति कर्म प्रकृतियों के देशघाती और सर्वघाती यह दो उपभेद और बतलाये हैं। जिससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि समस्त घाती कर्म प्रकृतियां कितनी और कौन-कौन सी हैं तथा उनमें से अमुक प्रकृतियां सर्वघातिनी और अमुक प्रकृतियां देशघातिनी हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

‘केवलजुगलावरणा पणनिद्रा बारसाइमकसाया मिच्छं ति सव्वघाई’ इस गाथांश में सर्वघातिनी प्रकृतियों के नाम व संख्या का निर्देश किया गया है कि—

(१) ज्ञानावरण—केवलज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण—केवलदर्शनावरण, पांच निद्रायें—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानद्धि।

(३) मोहनीय—अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व।^१

कुल मिलाकर ये २० हैं। इनमें ज्ञानावरण की १, दर्शनावरण की ६ और मोहनीय की १३ प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है जो जीव के मूल गुणों को सर्वांश में घात करने से सर्वघातिनी कहलाती हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण आत्मा के केवल-ज्ञान गुण को आवृत करता है। जब तक केवलज्ञानावरण दूर न हो तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। इसीलिये केवलज्ञानावरण को सर्वघाती कहा जाता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि

१. केवलिय नाणदंसण आवरण बारसाइमकसाया।

मिच्छलं निद्राओ इय वीमं सव्वघाईओ॥

जैसे मेघपटल के द्वारा सूर्य के पूरी तरह आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का उतना अंश अनावृत रहता है जिससे दिन-रात्रि का अंतर ज्ञात हो, वैसे ही सब जीवों के केवलज्ञान का अनन्तवां भाग अनावृत ही रहता है। क्योंकि यदि केवलज्ञानावरण उस अनन्तवें भाग को भी आवृत कर ले तो जीव और अजीव में कोई अंतर ही नहीं रह सकेगा। इसका फलितार्थ यह हुआ कि केवलज्ञानावरण के रहने तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, लेकिन उसके सहभागी में भी ज्ञान का अनन्तवां भाग अनावृत रहता है। जिसको आच्छादित करने की शक्ति केवलज्ञानावरण तक में भी नहीं है। ज्ञान के अनन्तवें भाग के अतिरिक्त केवलज्ञान का सर्वात्मना आवरक होने से केवलज्ञानावरण को सर्वधाती कहा जाता है।

केवलदर्शनावरण केवलदर्शन को पूरी तरह आवृत करता है। फिर भी उसका अनन्तवां भाग अनावृत ही रहता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन सहभागी हैं, अतः आत्मा के दर्शनगुण के अनन्तवें भाग के अनावृत रहने के कारण को केवलज्ञानावरण की तरह समझ लेना चाहिए।

निद्रा-पंचक भी जीव को वस्तुओं के सामान्य प्रतिभास को नहीं होने देती हैं। इन्द्रियों के अवबोध में रुकावट डालती हैं। इसीलिये उनको सर्वधातिनी प्रकृतियों में ग्रहण किया है। बारह कषायों में से अनन्तानुबन्धी कषाय जीव के सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के मूल कारण सम्यक्त्व का ही घात करती है और बिना सम्यक्त्व के जीव को सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अप्रत्याख्यानवरण और प्रत्याख्यानवरण कषायें जीव के स्वरूपलाभ के हेतु चारित्र्य गुण का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानवरण कषाय देशचारित्र्य का और प्रत्याख्यानवरण कषाय सर्वविरति चारित्र्य का घात करती है। मिथ्यान्व के रहने

पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव ही है, वह सम्यक्त्व गुण का सर्वात्माना धात करती है, इसीलिये उसे सर्वधाती में ग्रहण किया है।

सर्वधातिनी प्रकृतियों का कथन करने के बाद अब देशधातिनी प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं—‘चटणाणतिदंसणावरणा मंजलण नो-कसाया विग्घं इय देसघाडयं’—चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, संज्वलन कषाय चतुष्क, नौ नौ कषाय और पांच अन्तराय कर्म यह देशधाति प्रकृतियां हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण—चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण।

(३) मोहनीय—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगृप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद।

(४) अंतराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय।^१

इनमें ज्ञानावरण की ४, दर्शनावरण की ३, मोहनीय की १३ और अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियां हैं। जो कुल मिलाकर २५ होती हैं। ये प्रकृतियां आत्मा के गुणों का एकदेश धात करने से देशधातिनी कहलाती हैं। इनको देशधाती मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं कि मतिज्ञानावरण आदि चारों ज्ञानावरण केवल ज्ञानावरण द्वारा आच्छादित नहीं हुए ऐसे ज्ञानांश का आवरण करने हैं। यदि कोई छद्मस्थ जोव मत्यादि ज्ञानचतुष्क के विषयभूत अर्थ को न जाने तो वही मतिज्ञानादि के आवरण का उदय समझना चाहिए। किन्तु मति आदि चारों ज्ञान के अविषयभूत (केवलज्ञान के

१. नाणावरणचतुष्क दंसणातिग नोकसाय विग्घपणं।

संजलण देसघाड, तइयविगप्पो इमो अन्नो ॥

विषयभूत) अनन्त गुणों को जानने में जो उसकी असमर्थता है, उसे केवलज्ञानावरण का उदय समझना चाहिये ।

चक्षुदर्शनावरण, अन्तर्क्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण भी केवलदर्शनावरण से अनावृत केवलदर्शन के एकदेश को घातते हैं । इनके उदय में जीव चक्षुदर्शन आदि के विषयभूत विषयों को पूरी तरह नहीं देख सकता है, किन्तु उनके अविषयभूत अनन्तगुणों को केवलदर्शनावरण के उदय होने के कारण ही देखने में असमर्थ होता है ।

संज्वलन कषाय चतुष्क और हास्यादि नौ नौ कषायें चारित्र्य गुण का सर्वात्मना घात करने में तो सक्षम नहीं हैं किन्तु मूल गुणों और उत्तर गुणों में अतिचार लगाती हैं । इसीलिये इनको देशघातिनी माना है । जबकि अन्य कषायों का उदय अनाचार का जनक है ।^१

अन्तराय कर्म की दानान्तराय आदि पाँचों प्रकृतियाँ देशघातिनी इसलिये मानी जाती हैं कि दान, लाभ, भोग और उपभोग के योग्य जो पुद्गल हैं वे समस्त पुद्गल द्रव्य के अनन्तवें भाग हैं । यानी सभी पुद्गल द्रव्य इस योग्य नहीं हैं कि उनका लेन-देन आदि किया जा सके, लेन-देन और भोगने में आने योग्य पुद्गल बहुत थोड़े हैं । साथ ही यह भी जानना चाहिये कि भोग्य पुद्गलों में भी एक जीव सभी पुद्गलों का दान, लाभ, भोग, उपभोग नहीं कर सकता है । सभी जीव अपने अपने योग्य पुद्गल अंश का ग्रहण करते रहते हैं । अतः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय देशघाति हैं । वीर्यान्तराय

१ सव्वेधि य अड्यारा संजलणार्ण तु उदयओ होति ।

मूलच्छेज्जं पुण होइ वारसण्हं कसायाणं ।

—पंचाशक ८४४

संज्वलन कषाय के उदय से समस्त अतिचार होते हैं, किन्तु शेष बारह कषाय के उदय से बत के मूल का ही छेदन हो जाता है ।

को भी देशघाती मानने का कारण यह है कि वीर्यान्तराय का उदय होने हुए भी सूक्ष्म निगोदिया जीव के इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है जिससे आहार परिणमन, कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण, गत्यन्तर गमन रूप वीर्यलब्धि होती है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की तरतमता के कारण ही सूक्ष्म निगोदिया से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के वीर्य (शक्ति, सामर्थ्य) की हीनाधिकता पाई जाती है। यह सब केवली के वीर्य का एकदेश है। यदि वीर्यान्तराय कर्म सर्वघाती होता तो जीव के समस्त वीर्य को आवृत करके उसे जड़वत् निश्चेष्ट कर देता। इसीलिये वीर्यान्तराय कर्म देशघाती है।

यहाँ सर्वघाती को २० और देशघाती की २५ प्रकृतियाँ बतलाई हैं जो कुल मिलाकर ४५ हैं, सो बंध की अपेक्षा से समझना चाहिये। जब उदय की अपेक्षा विचार करते हैं तो सम्यक्त्व और मिथ्य मोहनीय को मिलाने पर ४७ प्रकृतियाँ होती हैं। इन दोनों में सम्यक्त्व मोहनीय का देशघाती में और मिथ्य मोहनीय का सर्वघाती प्रकृतियों में समावेश होता है।^१ तब सर्वघाती २१ और देशघाती २६ प्रकृतियाँ हैं।

१ गो० कर्मकांड में बंध व उदय की अपेक्षा सर्वघाती और देशघाती प्रकृतियों को गिनाया है—

केवलज्ञानावरणं दमणश्चकं कसायबारसयं ।

मिच्छा च मज्जसादी सम्मामिच्छं अबंधमिह ॥३६॥

केवलज्ञानावरण, छह दर्शनावरण (केवलदर्शनावरण, पांचनिद्रा) बारह कषाय (अवन्तानुबन्धी, अप्रत्याक्षयानावरण, प्रत्याक्षयानावरण क्रोध मान, माया, लोभ) मिथ्यात्व मोहनीय ये २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी उदय व मत्ता अवस्था में सर्वघाती है। परंतु यह सर्वघाती जूदी ही जानि की है।

णाणावरणचतुष्कं त्रिदमणं मम्मगं च संजलणं ।

णव णोकसाय विगधं छव्वीसा देसघादीओ ॥४०॥

ज्ञानावरण चतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, सम्यक्त्व, मज्जसलन क्रोधादि चार, नौ नो कषाय, पांच अंतराय ये छव्वीस भेद देशघाती हैं।

सर्वधातो और देशधातो प्रकृतियों का विशेष स्पष्टीकरण

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का सर्वथा घात करने वाली होने से केवलज्ञानावरण अर्द्ध बीस प्रकृतियां सर्वधाती और शेष पच्चीस प्रकृतियां ज्ञानादि गुणों का देशघात करने वाली होने से देशधाती हैं ।^१

केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां अपने द्वारा ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और चारित्र्य गुण का सर्वथा घात करती हैं । मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क सम्यक्त्व का सर्वथा घात करती हैं । क्योंकि उनके उदय होने से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है । केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण अनुक्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन को पूर्ण रूप से आवृत करते हैं । निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि पांच निद्रायें दर्शनावरण कर्म के अयोपशम से प्राप्त दर्शनलब्धि को सर्वथा आच्छादित करती हैं तथा अप्रत्याख्यानवरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क अनुक्रम से देशचारित्र्य और सकलचारित्र्य का सर्वथा घात करती हैं ।

इस प्रकार उक्त सभी प्रकृतियां सम्यक्त्व आदि गुणों का सर्वथा घात करने वाली होने से सर्वधाती कहलाती हैं । उक्त सर्वधाती बीस प्रकृतियों के सिवाय चार घाति कर्मों की मतिज्ञानावरण आदि पच्चीस प्रकृतियां ज्ञानादि गुणों के एकदेश का घात करने वाली होने से देशधाती हैं । जिसका स्पष्टीकरण यहां किया जाता है ।

केवलज्ञानावरण कर्म ज्ञानस्वरूप आत्मगुण को पूर्ण रूप से आवृत करने की प्रवृत्ति करे तो भी वह जीव के स्वभाव को सर्वथा ढकने में

१ सम्मतनाणदंभण चरित्तघाडत्तणाउ घाईओ ।

नइमेम देमणइत्तणाउ पूण देशघाडओ ॥

समर्थ नहीं होता है। यदि सर्वथा सम्पूर्ण रूप में ढक ले तो जीव अजीव हो जाये और उससे जड़ और चेतन के बीच रहने वाले भेद का अभाव हो जायेगा। यानी जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। जिस प्रकार सघन बादलों के द्वारा सूर्य, चन्द्र का प्रकाश आच्छादित किये जाने पर भी उनके प्रकाश का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता है। वे उनके प्रकाश को पूर्णरूप से आच्छादित नहीं कर पाते हैं। यदि सम्पूर्णतया आच्छादित कर ले तो रात्रि दिन के भेद का भी अभाव हो जाये। शास्त्रों में कहा भी है कि गाढ़ मेघ का उदय होने पर भी चन्द्र, सूर्य का कुछ प्रकाश होता है, वैसे ही केवलज्ञानावरण कर्म के द्वारा पूर्णतया केवलज्ञान के आवृत होने पर भी जो कुछ भी तत्सम्बन्धी मंद, तीव्र या अति तीव्र प्रकाश रूप ज्ञान का एकदेश जिसको मति ज्ञानादि कहा जाता है, उस एकदेश को यथायोग्य रीति से मति, श्रुत, अवधि और मनःप्राप्य ज्ञानावरण के द्वारा आच्छादित किये जाने से वे देशघाती कहलाते हैं। इसी प्रकार केवलदर्शनावरण कर्म द्वारा सम्पूर्ण रूप से केवलदर्शन के आच्छादित किये जाने पर भी तत्सम्बन्धी मंद, अति मंद या विशिष्ट आदि रूप जो प्रभा जिसकी चक्षुदर्शन आदि संज्ञा है, उस प्रभा को यथायोग्य रीति से चक्षु, अचक्षु या अवधि दर्शनावरण कर्म ढांक लेते हैं। अतएव वे भी दर्शन के एकदेश को आवृत करने वाले होने से देशघाती हैं तथा निद्रा आदि पांच प्रकृतियाँ यद्यपि केवलदर्शनावरण द्वारा अनावृत केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभा रूप दर्शन के सिर्फ एकदेश का घान करती हैं तो भी दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली दर्शनलब्धि का सम्पूर्ण रूप से आच्छादन करने वाली होने से सर्वघाती कही जाती है।

संज्वलन कषाय चतुष्क और हास्यादि नौ नौ कषायों आदि को बारह कषायों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्र्यलब्धि को देश से आच्छादित करने वाली हैं। क्योंकि वे सिर्फ अतिचार लगाती हैं। जो

कषायें अनाचार स्थिति की जनक हैं यानी जिनके उदय से सम्यक्त्व आदि गुणों का विनाश होता है, वे सर्वघाती कहलाती हैं और जो कषायें मात्र अतिचार उत्पन्न करती हैं वे देशघाती कहलाती हैं। संज्वलन कषाय के उदय से सिर्फ अतिचार लगते हैं और आदि की बारह कषायों के उदय से मूल का नाश होता है अर्थात् व्रतों से पतन होता है। लेकिन संज्वलन कषायों के रहने से व्रतों में अतिचार तो अवश्य लग जाते हैं, किन्तु व्रतों का समूलोच्छेद नहीं होने से देशघाती हैं।

ग्रहण, धारण योग्य जिस वस्तु को जीव दे नहीं सके, प्राप्त नहीं कर सके अथवा भोगोपभोग नहीं कर सके आदि यह सब दानान्तराय आदि कर्मों का विषय है और ग्रहण, धारण आदि करने योग्य वस्तुयें जगत में विद्यमान सब द्रव्यों के अनन्तवें भाग प्रमाण ही हैं। इसलिये तथारूप सर्वद्रव्यों के एकदेश के दानादि का विघात करने वाली होने से—दानान्तराय आदि देशघाती हैं। ज्ञान के एक देश को आच्छादित करने वाली होने से जैसे मतिज्ञानावरण आदि देशघाती हैं, वैसे ही सर्वद्रव्यों के एकदेश विषयक दानादि का विघात करने वाली होने से दानान्तराय आदि देशघाती हैं।

घाती प्रकृतियों की संख्या, नाम आदि बतलाने के बाद अब अघाती प्रकृतियों का कथन करते हैं।

अघाती प्रकृतियाँ

संध्योग्य १२० और उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से क्रमशः ४५ और ४७ घाती प्रकृतियों को कम करने पर शेष ७५ प्रकृतियाँ अघाती हैं। जिनके नामों का संकेत गाथा में इस प्रकार किया है—

अघाद पत्तयेतण्डुल तसवीसा गोयदुग वन्ना—आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ, शरीर आदि आठ पिंड प्रकृतियों के भेद तथा त्रसवीशक और गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, वर्णचतुष्क—ये सब अघाती प्रकृतियाँ हैं। ये सभी नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुर्कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ हैं। ये अपने अस्तित्व तक जीव को संसार में टिकाये रखने के सिवाय

किसी गुण का घात करने वाली नहीं होने से अघातो कहलाती हैं ।
इतके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) वेदनीय कर्म—साता वेदनीय, आमाता वेदनीय ।

(२) आयु कर्म—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु ।

(३) नाम कर्म—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थकर, निमणि, उपघात, पांच शरीर—औदारिक, वैश्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, तीन अंगोपांग—औदारिक अंगोपांग, वैश्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, छह संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरि-मंडल, स्वाति, वामन, कुब्जक, हुण्डक, छह संहनन—वज्रशृषभ-नाराच, शृषभनाराच, अर्धनाराच, कीटिका, सेवार्त, पांच लक्ष्मि—एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, चार गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, विहायोगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, आनुपूर्वी चतुष्क—नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, त्रसदशक व स्यावर दशक), वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ।

(४) गोत्र—उच्च गोत्र, नीच गोत्र ।

उक्त प्रकृतियों के नामोल्लेख में वेदनीय की २, आयु की ४, नाम की ६७ और गोत्र कर्म की २ प्रकृतियां हैं । कुल मिलाकर $२ + ४ + ६७ + २ = ७५$ होती हैं ।

इस प्रकार से घाति और अघाती की अपेक्षा प्रकृतियों का वर्गीकरण करते के पश्चात् अब पुण्य, पाप (शुभ, अशुभ, प्रशस्त, अप्रशस्त) के रूप में उनका विभाजन करते हैं ।

पुण्य-पाप प्रकृतियां -

सुरनरतिगुच्च साय तसदस सणुबंगवहरचउरंसं ।

परधासग तिरिअइकं वभनचउ पणिवि सुचकगइ ॥१५॥

बायालपुन्नपगई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरियदुग असायनीयोषधाय इगविगल निरयत्तिगं ॥१६॥
थावरवस वन्नचउक्क छाइपण लसहिय आसीई ।
पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

शब्दार्थ—सुरनरतिग देवत्रिक, मनुष्यत्रिक, उक्क—उच्च
गोत्र, सायं साता वेदनीय, तसदस तसदशक, तणु—पांच शरीर,
उवंग—तीन अंगोपांग, वइर—वज्रऋषभनाराच सहनन,
चउरंसं—समचतुरस्र संस्थान, परघासिग—पराघात सप्तक,
तिरिआउं—तिर्यचायु, वन्नचउ—वर्ण चतुष्क पणिंन—पंचेन्द्र
जाति, सुमणगइ—शुभ विहायोगति ।

बायाल—बयालीस, पुन्नपगई—पुण्य प्रकृति, अपढम—पहले
को छोड़कर, संठाण—संस्थान, खगइ संघयणा—विहायोगति और
सहनन, तिरियदुग—तिर्यचद्विक, असाय असाता वेदनीय, नीय—
नीच गोत्र, उवधाय—उपघात नाम, इगविगल—एकेन्द्रिय और
विकलेन्द्रिय, निरयत्तिगं—नरकत्रिक ।

थावरवस—स्थावर दशक, वन्नचउक्क—वर्ण चतुष्क छाइ—
घाती, पणवाल—पैतालीस, सहिय—सहित, युक्त, आसीई—
बियासी, पावपयडि—पाप प्रकृतिर्घा, सि—इस प्रकार, दोसुवि—
दोनों में, वन्नाइगहा—वर्णादि का ग्रहण करने से, सुहा—शुभ,
असुहा—अशुभ ।

वाच्यार्थ—देवत्रिक, मनुष्यत्रिक, उक्क गोत्र, साता वेद-
नीय, तसदशक, पांच शरीर, तीन अंगोपांग, वज्रऋषभ-
नाराच सहनन, समचतुरस्र संस्थान, पराघात सप्तक,
तिर्यचायु, वर्ण चतुष्क, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति—

ये बयालीस पुण्य प्रकृतियां हैं । पहले को छोड़कर शेष

पाँच नस्थान, दूसरी विहायोगति और पाँच संहनन, तिर्यचद्विक, अमातावेदनीय, नीच गोत्र, उपधात, एकेन्द्रिय त्रिकलेन्द्रियत्रिक, नरकविक तथा—

स्थावर दशक, वर्ण चतुष्क, पैंतालीस घाति प्रकृतियाँ, कुल मिलाकर ये बयासी पाप प्रकृतियाँ हैं। वर्ण चतुष्क को पुण्य और पाप प्रकृतियों दोनों में ग्रहण किया है। अतः पुण्य प्रकृतियों में शुभ और पाप प्रकृतियों अशुभ समझना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में पुण्य प्रकृतियों के बयालीस तथा पाप प्रकृतियों के बयासी नाम बतलाये हैं। पुण्य और पाप प्रकृतियों के रूप में किया गया यह वर्गीकरण १२० बंध प्रकृतियों का है। यद्यपि बयालीस और बयासी का कुल जोड़ १२४ होता है और जबकि बंध प्रकृतियाँ १२० हैं तो इसका कारण स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि 'दोसुवि बन्नाइगहा सुहा असुहा' वर्ण चतुष्क वर्ण, गंध, रस, स्पर्श प्रकृतियाँ शुभ भी हैं और अशुभ रूप भी हैं, अतः ये चार प्रकृतियाँ शुभ रूप पुण्य और अशुभ रूप पाप प्रकृतियों में ग्रहण की जाती हैं, इसी कारण पुण्य और पाप प्रकृतियों की संख्या क्रमशः ४२ और ८२ बतलाई गई हैं। यदि वर्ण चतुष्क को दोनों वर्गों में न गिनें तब पुण्य और पाप प्रकृतियों की संख्या क्रमशः ३८ और ७८ होगी और जब वर्ण चतुष्क प्रकृतियों को किसी एक वर्ग में मिलाया जायेगा तब ४२ और ७८ अथवा ३८ और ८२ होगी। इस स्थिति में कुल जोड़ १२० होगा जो बंध प्रकृतियों का है।

बंध प्रकृतियों के घाती और अघाती के भेद से गणना करने के पश्चात् पुण्य और पाप के रूप में भेद गणना करने का कारण यह है कि जिस प्रकृति का रस—अनुभाग, विपाक आनन्ददायक होता है, उसे पुण्य और जिस प्रकृति का रस दुःखदायक होता है वह पाप प्रकृति

है ।^१ पुण्य प्रकृति को शुभ या प्रशस्त प्रकृति तथा पाप प्रकृति को अशुभ या अप्रशस्त प्रकृति भी कहते हैं । जिन-जिन कर्मों का बंध होता है, उन सभी का विपाक केवल शुभ या अशुभ ही नहीं होता है, लेकिन जीव के अध्यवसाय रूप कारण का शुभाशुभता के निमित्त से शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के विपाक निमित्त होते हैं । शुभ अध्यवसाय से निमित्त विपाक शुभ और अशुभ अध्यवसाय से निमित्त विपाक अशुभ होता है । अध्यवसायों की शुभाशुभता का कारण संक्लेश की न्यूनाधिकता है अर्थात् जिस परिणाम में संक्लेश जितना कम होगा वह परिणाम उतना अधिक शुभ और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा वह परिणाम उतना अधिक अशुभ होगा । कोई भी एक परिणाम ऐसा नहीं जिसे निश्चित रूप से शुभ या अशुभ कहा जा सके । फिर भी जो शुभ और अशुभ का व्यवहार होता है, वह गौण और मुख्य भाव की अपेक्षा से समझना चाहिये । अतः जिस शुभ परिणाम से पुण्य प्रकृतियों में शुभ अनुभाग बंधता है, उसी परिणाम से पाप प्रकृतियों में अशुभ अनुभाग भी बंधता है । इसी प्रकार जिस परिणाम से पाप प्रकृतियों में अशुभ अनुभाग बंधता है, उसी परिणाम

१ बौद्धदर्शन में भी कर्म के दो भेद किये हैं—कुशल अथवा पुण्यकर्म और अकुशल अथवा अपुण्यकर्म । जिसका विपाक इष्ट होता है, वह कुशल कर्म और जिसका विपाक अनिष्ट होता है, वह अकुशल कर्म है । सुख का वेदन कराने वाला पुण्य कर्म और पाप का वेदन कराने वाला अपुण्य कर्म है—कुशलं कर्म क्षेमम्, इष्ट विपाकत्वात्, अकुशलं कर्म अक्षेमम्, अनिष्ट विपाकत्वात् । पुण्यं कर्म मुखवेदनीयम्, अपुण्यं कर्म दुःख-वेदनीयम् ।

—अभिधर्म कोष

योगदर्शन में भी पुण्य और पाप भेद किया है—कर्माशयः पुण्यापुण्यरूपः ।

से पुण्य प्रकृतियों में शुभ अनुभाग भी वंशता है। लेकिन इसमें अन्नर यह है कि शुभ परिणाम से होने वाला अनुभाग प्रकृष्ट होता है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट तथा अशुभ परिणाम से वंशने वाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है। कर्म प्रकृतियों के पुण्य और पाप रूप भेद करने का यही कारण है।

पुण्य और पाप के रूप में वर्गीकृत प्रकृतियों में घाती और अघाती दोनों प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ हैं। उनमें से ४५ घाती प्रकृतियाँ तो आत्मा के मूल गुणों को क्षति पहुँचाने के कारण पाप प्रकृतियाँ ही हैं लेकिन अघाती प्रकृतियों में से भी तेतीस प्रकृतियाँ पाप रूप हैं तथा वर्णादि चार प्रकृतियाँ अच्छी होने पर पुण्य प्रकृतियों में और बुरी होने पर पाप प्रकृतियों में ग्रहण की जाती हैं। अतः पुण्य रूप से प्रसिद्ध ४२ और पाप रूप से प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियाँ निम्न प्रकार हैं—

४२ पुण्य प्रकृतियाँ—

सुरत्तिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु), मनुष्यत्तिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, त्रस दशक (त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, मुभग, सुस्वर, अदिय, यशःकीर्ति), औदारिक आदि पांच शरीर, अंगोपांगत्तिक (औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग), वज्ररूपभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, पराघात सप्तक (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुल्लघु, तीर्थकर, निर्माण), तिर्यचायु, वर्णचतुष्क, पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहायोगति, साता वेदनीय।

८२ पाप प्रकृतियाँ—

४५ घाती प्रकृतियाँ (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, मोहनीय २६, अन्तराय ५), पहले को छोड़कर पांच संस्थानन या पांच संहनन, अशुभ विहायोगति, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकानु-

पूर्वी, नरकायु, स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अन्तर्देय, अयशःकीर्ति) वर्ण चतुष्क ।^१

इस प्रकार से पुण्य-पाप प्रकृतियों^२ का कथन करने के बाद क्रम प्राप्त परावर्तमान और अपरावर्तमान प्रकृतियों को बतलाते हैं । लेकिन अपरावर्तमान प्रकृतियों की संख्या कम होने से पहले उनका विवेचन किया जा रहा है ।

अपरावर्तमान प्रकृतियाँ

नामधुवबधिनवगं दंसेण पणमाणविग्घ परघायं ।

भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणसीसा अपरियत्ता ॥१८॥

१ पंचसंग्रह में पुण्य और पाप प्रकृतियों के बजाय प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृतियों के रूप में गणना की है—

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुभनं ।

विहगइ वण्णाइ सुभं तसाइ दस तित्थ निम्माणं ॥

चउरंसउसभआवव पराघाय पणिदि अगुहसाउच्चं ।

उज्जीय च पसस्था सेसा वासीइ अपसत्ता ।

—पंचसंग्रह ३।२१, २२

२ गो० कर्मकांड गा० ४१, ४२ में पुण्य प्रकृतियाँ और ४३, ४४ में पाप प्रकृतियाँ गिनाई हैं । दोनों ग्रन्थों की गणना बराबर है । लेकिन कर्मकांड में इतनी विशेषता है भेद विवक्षा से ६८ और अभेद विवक्षा से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ तथा पाप प्रकृतियाँ बन्ध दशः में भेद विवक्षा से ६८ और अभेद विवक्षा से ८२ बतलाई हैं । उदय दशा मे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को मिलाकर भेद विवक्षा से १०० और अभेद विवक्षा से ८४ बतलाई हैं । पाच बंधन, पांच संघात और वर्णादि २० में से १६ इस प्रकार २३ प्रकृतियों के भेद और अभेद से पुण्य प्रकृतियों में तथा वर्णादि २० में से १६ प्रकृतियों के भेद और अभेद से पाप प्रकृतियों में अंतर पड़ता है ।

शब्दार्थ—नाम - नामकर्म की, ध्रुवबंधिनी - ध्रुवबंधिनी
 नौ प्रकृतियाँ, दंष्ट्रा - दर्शनावरण, पण - पाँच, ज्ञान - ज्ञानावरण,
 विषय - अन्तराय, पराधाय - पराधात, भयकुष्ठमिच्छ - भय,
 जुगुप्सा और मिथ्यात्व, सास - उच्छ्वास नामकर्म, जिण तीर्थकर
 नामकर्म, गुणतीसा - उनतीस, अपराधिसा - अपरावर्तमान ।

गाथा - नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियाँ, चार
 दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय, पराधात, भय,
 जुगुप्सा, मिथ्यात्व, उच्छ्वास और तीर्थकर ये उनतीस प्रकृ-
 तियाँ अपरावर्तमान प्रकृतियाँ हैं ।

वित्तेषां - गाथा में उनतीस प्रकृतियों के नाम गिनाये हैं, जो
 अपरावर्तमान है । ये उनतीस प्रकृतियाँ किसी दूसरी प्रकृति के बंध,
 उदय अथवा बंध-उदय दोनों को रोक कर अपना बन्ध, उदय और
 बंध-उदय को नहीं करने के कारण अपरावर्तमान कहलाती हैं, जिनके
 नाम इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरण - मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवलज्ञानावरण ।

(२) दर्शनावरण - चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण ।

(३) मोहनीय - भय, जुगुप्सा, मिथ्यात्व ।

(४) नामकर्म - वर्ण चतुष्क, तैजस, कर्मण शरीर, अगुरुलघु,
 निर्माण, उपधात, पराधात, उच्छ्वास, तीर्थकर ।

(५) अन्तराय - दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय ।

मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति मानते पर जिज्ञासु का प्रश्न है
 कि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के उदय में मिथ्यात्व का उदय
 नहीं होता है । ये दोनों ही मिथ्यात्व के उदय की विरोधिनी प्रकृतियाँ
 हैं । अतः मिथ्यात्व को अपरावर्तमान प्रकृति नहीं मानना चाहिये ।

इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व का बंध और उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है, किन्तु वहां मिश्र मोहनीय व सम्यक्त्व मोहनीय का उदय व बंध नहीं होता है। यदि ये दोनों प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान में रहकर मिथ्यात्व के उदय को रोकतीं और स्वयं उदय में आतीं तो अवश्य ही विरोधिनी कही जा सकती थीं। लेकिन इनका उदयस्थान अलग-अलग है, यानी मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में और मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में होता है। अतः एक ही गुणस्थान में रहकर परस्पर में एक दूसरे के बंध अथवा उदय का विरोध नहीं करती हैं। इसीलिये मिथ्यात्व को अपरावर्तमान माना है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के बारे में समझना चाहिये कि उनका बंध, उदय स्थान या बंधोदयस्थान भिन्न-भिन्न है।

अब आगे की गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां बतलाते हैं।

परावर्तमान व क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां

तणुअद्दु वेय वुज्जुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।

तसवीसाउ परिस्ता खित्तविवागाऽणुपुब्बोओ ॥१६॥

शब्दार्थ—तणुअद्दु—शरीरादि अष्टक की तेतीस प्रकृतियां, वेय - तीन वेद, वुज्जुयल—दो युगल, कसाय—सोलह कषाय, उज्जोयगोयदुग—उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, निद्दा—पाँच निदामें, तसवीस—त्रसवीशक, आउ—चार आयु, परिस्ता—परावर्तमान, खित्तविवागा—क्षेत्रविपाकी आणुपुब्बोओ—चार आनुपूर्वी ।

गाथार्थ—शरीरादि अष्टक, तीन वेद, दो युगल, सोलह कषाय, उद्योतद्विक, गोवद्विक, वेदनीयद्विक, पाँच निद्रात्रै, वस-वीशक और चार आयु ये परावर्तमान प्रकृतियाँ हैं। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है।

विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों का कथन किया है।

परावर्तमान प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा बंधो-दय दोनों को रोक कर अपना बंध, उदय या बंधोदय करने के कारण परावर्तमान कहलाती हैं। इनमें अधाती—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्मों की अधिकांश प्रकृतियों के साथ घाती कर्म दर्शनावरण व मोहनीय की भी प्रकृतियाँ हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं -

(१) दर्शनावरण—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्थानाद्वि।

(२) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(३) मोहनीय—अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानारण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानारण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, हास्य, रति, शोक, अरति, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद।

(४) आयुकर्म—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(५) नामकर्म—शरीराष्टक की ३३ प्रकृतियाँ (औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर, औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पाँच जाति, नरकगति आदि चार गति, शुभ-अशुभ विहायोगति, चार आनुपूर्वी), आनप, उद्योत, वस दशक, स्थावर दशक।

(६) गोत्रकर्म—उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

इस प्रकार $५ + २ + २३ + ४ + ५५ + २ = ९१$ प्रकृतियां परावर्तमान हैं। इनमें से अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क आदि सोलह कषाय और पांच निद्राये ध्रुवबंधिनी होने से तो बंधदशा में दूसरी प्रकृतियों का उपरोध नहीं करती हैं लेकिन उदयकाल में सजातीय प्रकृति को रोक कर प्रवृत्त होती हैं, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ में से एक जीव को एक समय में एक कषाय का उदय होता है। इसी प्रकार पांच निद्राओं में किसी एक का उदय होने पर शेष चार निद्राओं का उदय नहीं होता है। अतः परावर्तमान हैं।

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ ये चार प्रकृतियां उदयदशा में विरोधिनी नहीं हैं किन्तु बन्धदशा में विरोधिनी हैं। क्योंकि स्थिर के साथ अस्थिर का और शुभ के साथ अशुभ का बंध नहीं होता है। इसलिए ये चारों प्रकृतियां परावर्तमान हैं। शेष ६६ प्रकृतियां बंध और उदय दोनों स्थितियों में परस्पर विरोधिनी होने से परावर्तमान हैं।

इस प्रकार से परावर्तमान कर्म प्रकृतियों का वर्णन करने के साथ ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट ध्रुवबन्धि आदि अपरावर्तमान पर्यन्त बारह द्वारों का विवेचन किया जा चुका है। जिनका विवरण पृ० ७२ पर दिये गये कोण्टक में देखिये।

अब कर्म प्रकृतियों का विपाक की अपेक्षा निरूपण करते हैं।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब पक कर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियां भी जब अपना फल देने के अभिमुख होती हैं तब उनका विपाककाल कहलाना है।

कर्म प्रकृति	ध्रुव बंधी	अध्रुव बंधी	ध्रुवोदय	अध्रुवोदय	ध्रुव सत्ता	अ० सत्तः	सर्व घाति	देश घा.	अघाति	परा व.	अपरा व०	पुण्य	पाप
ओष १५८	४७	७३	२७	६५	१३०	२८	२०	२५	७५	६१	२६	४२	८२
ज्ञाना० ५	५	०	५	०	५	०	१	४	०	०	५	०	५
दर्शना० ६	६	०	४	५	६	०	६	३	०	५	४	०	६
वेद० २	०	२	०	२	२	०	०	०	२	२	०	१	१
मोह० २८	१६	७	१	२७	२६	२	१३	१३	०	२३	३	०	२६
आयु ४	०	४	०	४	०	४	०	०	४	४	०	३	१
नाम १०३	६	५८	१२	५५	८२	२१	०	०	६७	५५	१२	३७	३४
गोत्र २	०	२	०	२	१	१	०	०	२	२	०	१	१
अंत० ५	५	०	५	०	५	०	०	५	०	०	५	०	५

• मोहनीय कर्म में सम्यक्त्व देशघाती और मिश्र मोहनीय सर्वघाती हैं तथा ये दोनों परावर्तमान और पाप प्रकृतियां हैं, इतना विशेष समझना चाहिये ।

यह विपाक दो प्रकार का है—हेतुविपाक और रसविपाक ।^१ पुद्गल-
लादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक—फलानुभव होता
है, वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है तथा रस के आश्रय अर्थात् रस
की मुख्यता से निदिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति
रसविपाकी कहलाती है । इन दोनों प्रकार के विपाकों में से भी
प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद हैं । पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव रूप हेतु
के भेद से हेतुविपाकी के चार भेद हैं यानी पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-
विपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी । इसी प्रकार से रसविपाक
के भी एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रीस्थानक और चारस्थानक ये चार
भेद हैं । यहाँ कर्म प्रकृतियों के रसोदय के हेतुओं^२—स्थानों के आधार
से होने वाले पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीव-
विपाकी भेदों का वर्णन करते हैं, यानी कौन-सी कर्म प्रकृतियां पुद्गल-
विपाकी आदि हैं ।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां

उक्त चार प्रकार के विपाकों में से यहाँ पहले क्षेत्रविपाकी प्रकृ-
तियों को बतलाया है कि—‘खित्तविवागाऽणुपुब्बीओ’—आनुपूर्वी
नामकर्म क्षेत्रविपाकी है । यानी आनुपूर्वी नामकर्म की नरकानुपूर्वी,
तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी—ये चारों प्रकृतियां क्षेत्र-
विपाकी हैं ।

- १ दुविहा विवागओ पुण हेउविवागओ रसविवागओ ।
एक्केक्कावि य चउहा जओ चसदो विगप्पेणं ॥

—पंचसंग्रह ३।४४

- २ जा जं समेच्च हेउं विवाग उदयं उव्वेति पगईओ ।
ता तव्विवागसत्ता ससभिहाणाइं मुगमाइं ॥

—पंचसंग्रह ३।४५

आकाश को क्षेत्र कहते हैं। जिन प्रकृतियों का उदय क्षेत्र में ही होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कही जाती हैं। यों तो सभी प्रकृतियों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा को लेकर होता है। लेकिन जिसकी मुख्यता होती है, वहां उसकी मुख्यता से उसका नामकरण किया जाता। आनुपूर्वियों को क्षेत्रविपाकी मानने का कारण यह है कि इनका उदय क्षेत्र में ही होता है। क्योंकि जब जीव परभव के लिये गमन करता है तब विग्रहगति के अन्तराल क्षेत्र में आनुपूर्वी अपना विपाक—उदय दिखानी हैं।^१ उसे उत्पत्तिस्थान के अभिमुख रखती हैं।

क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब जीव और भव-विपाकी प्रकृतियों का कथन करते हैं।

जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियां

घणघाड दुगोय जिणा तसियरसिग सुभगदुभगज्जुड सासं ।

जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

१. श्वेताम्बर और विगम्बर दोनों संप्रदायों में आनुपूर्वी को क्षेत्रविपाकी माना है। लेकिन स्वरूप को लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर संप्रदाय में एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव जाता है तब आनुपूर्वी कर्म श्रेणि के अनुसार गमन करते हुए उस जीव को उसके विश्रेणि में स्थित उत्पत्तिस्थान तक ले जाता है। आनुपूर्वी का उदय तब ही विग्रहगति में होता है—‘पूर्वी उदयो वक्के ।’

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा ४२

लेकिन विगम्बर संप्रदाय में आनुपूर्वी कर्म पूर्व शरीर को छोड़ने के बाद और नया शरीर धारण करने के पहले अर्थात् विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखा है और उसका उदय कज्जु व वक्क दोनों गतियों में होता है।

शब्दार्थ—घणघाट—घातिकर्मों की प्रकृतियां, दुगोय—
गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, जिणा—तीर्थंकर नामकर्म, तसियरतिग—
वसनश्रिक और इतर—स्थावरत्रिक, सुभगदुभगचउ—सुभग चतुष्क,
दुर्भग चतुष्क, सासं—उच्छ्वास, जाइतिग—जातित्रिक, जिय-
विवागा—जीवविपाकी, आऊ चउरो—चार आयु, भवविवागा—
भवविपाकी ।

गथाबं—सैंतालोस घाति प्रकृतियां, गोत्रद्विक, वेदनीय-
द्विक, तीर्थंकर नामकर्म, तसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुभग चतुष्क,
दुर्भग चतुष्क, उच्छ्वास, जातित्रिक, ये जीवविपाकी प्रकृतियां
हैं और चार आयु भवविपाकी हैं ।

विशेषार्थ—गथा में जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियों के
नाम बतलाये हैं ।

जो प्रकृतियां जीव में ही साक्षात् फल दिखाती हैं अर्थात् जीव
के ज्ञान आदि स्वरूप का घात आदि करती हैं वे जीवविपाकी प्रकृ-
तियां कहलाती हैं तथा भवविपाकी प्रकृतियां वे हैं जिनका बंध वर्तमान
भव में हो जाने पर भी वर्तमान भव का त्याग करने के पश्चात् अपने
उस योग्य भव की प्राप्ति होने पर विपाक दिखलाती हैं ।

गथा में जीवविपाकी प्रकृतियों के नाम और संख्या इस प्रकार
बतलाई है—

४७ घाति प्रकृतियां (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, मोहनीय २८,
अंतराय ५), दो गोत्र, दो वेदनीय, तीर्थंकर नामकर्म, तसत्रिक (तस,
वादर, पर्याप्त), स्थावरत्रिक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त), सुभग चतुष्क
(सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), दुर्भग चतुष्क (दुर्भग, दुःस्वर,
अनादेय, अयशःकीर्ति), उच्छ्वास नामकर्म, जातित्रिक (एकेन्द्रिय आदि

पांच जाति, नरक आदि चार गति, शुभ-अशुभ विहायोगति), कुल मिलाकर ये ७८ प्रकृतियां जीवविपाकी हैं ।

इनको जीवविपाकी मानने का कारण यह है कि क्षेत्र आदि की अपेक्षा के बिना ही जीव को ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों तथा इन्द्रिय, उच्छ्वास आदि में अनुग्रह, उपघात रूप साक्षात् फल देती हैं । जैसे कि ज्ञानावरण की प्रकृतियों के उदय से जीव अज्ञानी होता है, दर्शनावरण के उदय से जीव के दर्शनगुण का घात होता है, मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उदय से जीव के सम्यक्त्व और चारित्र्यगुण का घात होता है तथा पांच अन्तराश्यों के उदय से जीव दान आदि दे या ले नहीं सकता है । साता और असाता वेदनीय के उदय से जीव ही सुखी और दुःखी होता है इत्यादि । अतः गान्धर्व में बतलाई गई ७८ प्रकृतियां जीवविपाकी हैं ।

‘आऊ चउरो भवविवागा’ यानी नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु ये चारों आयु भवविपाकी हैं । क्योंकि परभव की आयु का बंध हो जाने पर भी जब तक जीव वर्तमान भव को त्याग कर अपने योग्य भव को प्राप्त नहीं करता है, तब तक आयु कर्म का उदय नहीं होता है । अतः परभव में उदय योग्य होने से आयुकर्म की प्रकृतियां भवविपाकी हैं ।

इस प्रकार से जीवविपाकी और भवविपाकी प्रकृतियों का कथन करने के बाद अब आगे की गाथा में पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के नाम व बंधद्वार का वर्णन करने के लिये बंध के भेदों को बतलाते हैं ।

पुद्गलविपाकी प्रकृतियां और बंध के भेद

नामधुवोदय चउतणु वघामसाहारनियर जोयतिगं ।

पुगलविवागि बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

शब्दार्थ—नामध्वोदय—नामकर्म की ध्रुवोदय शक्ति प्रकृतियाँ, चतुष्क, तनुचतुष्क उपघात—उपघात, साधारण—साधारण, इतर—इतर—प्रत्येक, जोयतिगं—उद्योतत्रिक, पुगल-विवागि—पुद्गलविपाकी, बंधो—बंध, पयइतिह—प्रकृति और स्थितिबंध, रसपण—रसबंध और प्रदेशबंध, सि—इस प्रकार ।

गाथार्थ—नामकर्म की ध्रुवोदयी बारह प्रकृतियाँ, शरीर चतुष्क, उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक ये छत्तीस प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं । प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध ये बंध के चार भेद हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में पुद्गलविपाकी प्रकृतियों को बताने के अलावा बंध के चार भेदों को बतलाया है । जिनमें आगे की गाथाओं में भूयस्कार बंध आदि विशेषताओं का वर्णन किया जाने वाला है ।

सर्वप्रथम पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंको गिनाया है कि 'नामध्वोदय ... पुगलविवागि' नामकर्म की बारह ध्रुवबंधिनी प्रकृतियाँ (निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क) तथा तनुचतुष्क (तैजस, कार्मण शरीर को छोड़ कर औदारिक आदि तीन शरीर, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन), उपघात, साधारण, प्रत्येक, उद्योतत्रिक (उद्योत, आतप, पराघात) ये प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं । जिनकी कुल संख्या छत्तीस है ।

उक्त प्रकृतियाँ शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं में ही अपना फल देती हैं, अतः पुद्गलविपाकी हैं । जैसे कि निर्माण नामकर्म के उदय से शरीर रूप परिणत पुद्गल परमाणुओं में अंग-उपांग का नियमन होता है । स्थिर नामकर्म के उदय से दांत आदि स्थिर तथा अस्थिर नामकर्म के उदय से जीभ आदि अस्थिर होते हैं । शुभ

नामकर्म के उदय से मस्तक आदि शुभ और अशुभ नामकर्म के उदय से पैर आदि अशुभ अवयव कहलाते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्रहीत पुद्गल शरीर रूप बनते हैं और अंगोपांग नाम-कर्म के द्वारा शरीर में अंग-उपांग का विभाग होता है। संस्थान नामकर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है और संहनन नामकर्म के उदय से हड्डियों का बन्धनविशेष होता है। इसी प्रकार उपघात, साधारण, प्रत्येक आदि प्रकृतियां भी शरीर रूप परिणत पुद्गलों में अपना फल देती हैं। इसीलिये निर्माण आदि पराघात पर्यन्त छत्तीस प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं।^१

इस प्रकार से क्षेत्र, जीव, भव, पुद्गल विपाकी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब कुछ प्रकृतियों के विपाक भेदों के बारे में विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

यद्यपि सभी कर्मप्रकृतियां जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति होने के कारण किसी न किसी रूप में जीव में ही अपना फल देती हैं। जैसे आयुकर्म का भवधारण रूप विपाक जीव में ही होता है, क्योंकि आयुकर्म का उदय होने पर जीव को ही भव धारण करना पड़ता है और क्षेत्रविपाकी आनुपूर्वी कर्म भी श्रेणि के अनुसार गमन

- १ गो० कर्मकांड गा० ४७—४९ में भी विपाकी प्रकृतियों को गिनाया है। दोनों में इसका अंतर है कि कर्मकांड में पुद्गलविपाकी प्रकृतियों की संख्या ६२ बतलाई है और कर्मसूत्र में २६। इस अंतर का कारण यह है कि कर्मसूत्र में बंधन और संघात प्रकृतियों को छोड़ दिया है और वर्णचतुष्क के सिर्फ मूल ४ भेद लिये हैं, उत्तर २० भेद नहीं लिये हैं। इस प्रकार $१० + १६ = २६$ प्रकृतियों को कम करने से $६२ - २६ = ३६$ प्रकृतियां शेष रहती हैं।

करने रूप जीव के स्वभाव को स्थिर रखता है । पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ जीव में ऐसी शक्ति पैदा करती हैं कि जिससे जीव अमुक प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है । तथापि क्षेत्रविपाकी आदि प्रकृतियाँ क्षेत्र आदि की मुख्यता, विशेषता से अपना फल देने के कारण क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी आदि कहलाती हैं ।^१ लेकिन कुछ प्रकृतियों के वर्गीकरण को लेकर जिज्ञासु के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है ।

रति-अरति मोहनीय संबंधो स्पष्टीकरण

रति और अरति मोहनीय कर्म जीवविपाकी है । लेकिन इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उक्त दोनों प्रकृतियों का उदय पुद्गलों के आश्रय से होने के कारण पुद्गलविपाकी है । कंटकादि अनिष्ट पुद्गलों के संसर्ग से अरति का विपाकोदय और पुष्पमाला, चन्दन आदि इष्ट पदार्थों के संयोग से रति मोहनीय का उदय होता है । इस प्रकार पुद्गल के संबंध से दोनों का उदय होने से उनको पुद्गल-विपाकी मानना चाहिये । जीवविपाकी कहना योग्य नहीं है ।

इसका समाधान यह है कि पुद्गल के संबंध के बिना भी इनका उदय होता है । क्योंकि कंटकादि के संबंध के बिना भी प्रिय, अप्रिय वस्तु के दर्शन-स्मरण आदि के द्वारा रति-अरति के विपाकोदय का अनुभव होता है । पुद्गलविपाकी तो उसे कहते हैं जिसका उदय पुद्गल के संबंध के बिना होता ही नहीं है । लेकिन रति और अरति का उदय जैसे पुद्गलों के संसर्ग से होता है, वैसे ही उनके संसर्ग के बिना भी होता है । अतः रति और अरति को पुद्गल के संयोग के बिना भी

१ संपन्न जीवकाले उदय काओ न जंति पगईओ ।

एवमिणमोहहेड' आसज्ज विमेषयं नन्धि ॥

उदय में आने के कारण जीवविपाकी माना गया है, न कि पुद्गल-विपाकी ।

इसी प्रकार क्रोध आदि कषायों को भी जीवविपाकी समझना चाहिये कि तिरस्कार करने वाले शब्दों जो कि पौद्गलिक हैं, को सुनकर जैसे क्रोध आदि का उदय होता है वैसे ही पुद्गलों का संबन्ध हुए बिना स्मरण आदि के द्वारा भी उनका उदय होता है । अतः क्रोध आदि कषायें पुद्गलविपाकी न होकर जीवविपाकी हैं ।

गति नामकर्म संबंधी स्पष्टीकरण

गति नामकर्म जीवविपाकी है । इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि जैसे आयुकर्म जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसी भव में उसका उदय होता है अन्यत्र नहीं । वैसे ही गति नामकर्म का भी अपने-अपने भव में उदय होता है । अपने भव के सिवाय अन्य भव में उसका उदय नहीं होता है । अतः आयुकर्म की तरह गति नामकर्म को भी भवविपाकी मानना युक्तिसंगत है ।

इसका उत्तर यह है कि आयुकर्म और गति नामकर्म के विपाक में अन्तर है । क्योंकि जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसके सिवाय अन्य किसी भी भव में विपाकोदय द्वारा उसका उदय नहीं होता है । स्तिबुकसंक्रम द्वारा भी उदय नहीं होता है । जैसे कि मनुष्यायु का उदय मनुष्य भव में ही होता है, इतर भव में नहीं । अतः अपने उदय के लिये स्व-निश्चित भव के साथ अव्यभिचारी होने से आयुकर्म भवविपाकी माना जाता है यानी किसी भी भव के योग्य आयुकर्म का बंध हो जाने के पश्चात् जीव को उसी भव में अवश्य जन्म लेना पड़ता है । किन्तु गति नामकर्म के उदय के लिये यह बात नहीं है । क्योंकि अपने भव के बिना भी अन्य भव में स्तिबुकसंक्रम

द्वारा उदय होता है। अर्थात् विभिन्न परभवों के योग्य बांधी हुई गतियों का उस ही भव में संक्रमण आदि द्वारा उदय हो सकता है। जैसे कि चरम शरीरी जीव के परभव के योग्य बांधी हुई गतियां उसी भव में क्षय हो जाती हैं। अतः गति नामकर्म भव का नियामक नहीं होने से भवविपाकी नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्वभव में ही उदय होने से आयुकर्म भवविपाकी है और गति नामकर्म अपने भव में विपाकोदय द्वारा और परभव में स्तिबुकसंक्रम द्वारा इस प्रकार स्व और पर दोनों भवों में उदय संभव होने से भवविपाकी नहीं है।

आनुपूर्वी कर्मसम्बन्धो स्पष्टीकरण

आनुपूर्वी कर्म क्षेत्रविपाकी है। लेकिन यहां जिज्ञासु प्रश्न उपस्थित करता है कि विग्रहगति के बिना दो संक्रमण के द्वारा आनुपूर्वी का उदय होता है अतः उसे क्षेत्रविपाकी न मानकर गति की तरह जीवविपाकी माना जाना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि आनुपूर्वियों का स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र भी संक्रमण द्वारा उदय होने पर भी जैसे उसका क्षेत्र की प्रधानता से विपाक होता है, वैसा अन्य किसी भी प्रकृति का नहीं होता है। इसलिये आनुपूर्वियों के रसोदय में आकाश प्रदेश रूप क्षेत्र असाधारण हेतु है। जिससे उसको क्षेत्रविपाकी माना गया है।

प्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेदों का प्रदर्शक यंत्र इस प्रकार है—

कर्म प्रकृतियों के क्षेत्रविपाकी आदि भेद

कर्मप्रकृति	क्षेत्रविपाकी	भवविपाकी	जीवविपाकी	पुद्गलविपाकी
बोध १२२	४	४	७८	३६
ज्ञाना० ५	०	०	५	०
दर्शना० ६	०	०	६	०
वेदनीय २	०	०	२	०
मोहनीय २८	०	०	२८	०
आयु ४	०	४	०	०
नाम ६७	४	०	२७	३६
गोत्र २	०	०	२	०
अंतराय ५	०	०	५	०

बंध के भेद और उनके लक्षण

इस प्रकार से ध्रुवबंधी आदि पुद्गलविपाकी पर्यन्त सोलह वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण करने के पश्चात् प्रकृतिबंध आदि का वर्णन करने के लिये सबसे पहले बंध के भेद बतलाते हैं कि 'बंधो पश्यतिइ-रसपएस ति' प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये बंध के चार भेद हैं। जिनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

आत्मा और कर्म परमाणुओं के संबधविशेष को अथवा आत्मा

और कर्मप्रदेशों के एक क्षेत्रावगाह होने को बंध कहते हैं। आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म-परमाणु चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं। ये कर्म परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाले होने से पौद्गलिक हैं। जो पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं, वे अत्यन्त सूक्ष्म रज—धूलि के समान हैं, जिनको इन्द्रियां नहीं जान सकती हैं, किन्तु केवलज्ञानी अथवा परम अवधिज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा उनको जान सकते हैं।

जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूलि में लींटे तो वह धूलि उसके सर्वांग शरीर में चिपट जाती है, वैसे ही संसारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—हलन-चलन होने से अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध होने लगता है। जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला प्रति समय अपने सर्वांग से जल को खींचता है, उसी प्रकार संसारी जीव अपनी योग-प्रवृत्ति द्वारा प्रतिक्षण कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता रहता है और दूध-पानी व अग्नि तथा गर्म लोहे के गोले का जैसा सम्बन्ध होता है, वैसे ही जीव और कर्म परमाणुओं का संबंध हो जाता है। इस प्रकार के संबंध को ही बंध कहते हैं।

जीव द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण किये जाने पर यानी बंध होने पर उनमें चार अंशों का निर्माण होता है, जो बंध के प्रकार कहलाते हैं। जैसे कि गाय-भेंस आदि द्वारा खाई गई घास आदि दूध रूप में परिणत होती है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है, उस स्वभाव के अमुक समय तक उसी रूप में बने रहने की कालमर्यादा आती है, उस मधुरता में तीव्रता-मंदता आदि विशेषतायें भी होती हैं और उस दूध का कुछ परिमाण (वजन) भी होता है। इसी प्रकार

जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशों के साथ संश्लिष्ट कर्म-पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है, जिनको क्रमशः प्रकृति-बंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध कहते हैं।^१ उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) प्रकृतिबंध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों—स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिबंध कहते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है।^२ दूसरी परिभाषा के अनुसार स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध के समुदाय को प्रकृतिबंध कहते हैं।^३ अर्थात् प्रकृतिबंध कोई स्वतंत्र बंध नहीं है किन्तु वेश तीन बंधों के समुदाय का ही नाम है।

१ (क) चउव्विहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा—पणइबंधे, ठिइबंधे, अणुभावबन्धे, पएसबंधे ।
—समवायार्थं, समवाय ४

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।४

२. दिगम्बर साहित्य में प्रकृति शब्द का सिर्फ स्वभाव अर्थ माना है—
प्रकृति स्वभावः, प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।२ (सर्वार्थसिद्धि, राजवातिक टीका)

पयडी सील सहावो.....

—गो० कर्मकांड ३

३ ठिईबंधो वल्लभ ठिइ पएसबंधो पएसगहणं जं ।

नाथ रसो अणुभागो तस्समुदाओ पणइबंधो ॥

—धम्मसंगह ४३२

यहाँ यह जातव्य है कि स्वभाव अर्थ में अनुभाग बंध का मतलब कर्म की फलजनक शक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता-मंदता से ही है, परन्तु समुदाय अर्थ में अनुभाग बंध से कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मंदता इतना अर्थ विवक्षित है।

खेताम्बर साहित्य में प्रकृति शब्द के स्वभाव और समुदाय दोनों अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

(२) स्थितिबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अपने स्वभाव को न त्यागकर जीव के साथ रहने के काल की मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं ।

(३) रसबन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति के होने को रसबन्ध कहते हैं ।

रसबन्ध को अनुभागबन्ध^१ या अनुभावबन्ध भी कहते हैं ।

(४) प्रदेशबन्ध—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का संबन्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है ।^२

सारांश यह है कि जीव के योग और कषाय रूप भावों का निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरी स्थिति, तीसरी फल देने की शक्ति और चौथी अमुक परिमाण में उनका जीव के साथ सम्बन्ध होना । इन चार बातों को ही बन्ध के प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश ये चार प्रकार कहते हैं ।

इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध जीव की योगशक्ति पर तथा स्थिति और फल देने की शक्ति कषाय भावों पर निर्भर है ।^३ अर्थात् योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी, बन्ध को प्राप्त कर्म पुद्गलों का

१ दिगम्बर साहित्य में अनुभाग बन्ध ही विशेषतया प्रचलित है ।

२ स्वभावः प्रकृति प्रोक्तः स्थितिः कालावधारणम् ।

अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

—स्वभाव को प्रकृति, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलों की संख्या को प्रदेश कहते हैं ।

३ पयडिपएसबन्धा जोगेहि कसायओ इयरे ।

स्वभाव और परिमाण भी वैसा ही तीव्र या मंद होगा । इसी प्रकार जीव के कषाय भाव जैसे तीव्र या मंद होंगे, बंध को प्राप्त परमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मंद होगी । इसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने हैं—

जीव की योगशक्ति को हवा, कषाय को चिपकाने वाली गोंद और कर्म परमाणुओं को धूलि मान लें । जैसे हवा के चलने पर धूलि के कण उड़-उड़ कर उन स्थानों पर जमा हो जाते हैं जहाँ कोई चिपकाने वाली वस्तु गोंद आदि लगी होती है । इस प्रकार जीव के प्रत्येक शारीरिक, वाचनिक और मानसिक क्रियान्वयन से कर्म पुद्गलों का आत्मा में आस्रव होता है जो जीव के संक्लेश परिणामों की सहायता पाकर आत्मा से बंध जाते हैं । हवा मंद या तीव्र जैसी होती है, धूलि उसी परिमाण में उड़ती है और गोंद वगैरह जितनी चिपकाने वाली होती है, धूलि भी उतनी ही स्थिरता के साथ वहाँ ठहर जाती है । इसी तरह योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्म परमाणुओं की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है तथा कषाय की तीव्रता के अनुरूप कर्म परमाणुओं में उतनी ही अधिक स्थिति और उतना ही अधिक अनुभाग का बंध होता है ।

प्रकृतिबंध आदि चारों बंधों के स्वरूप को समझाने के लिये प्रथम कर्मग्रन्थ में मोदक (लड्डुओं) का दृष्टान्त दिया गया है ।^१ जिसका सारांश इस प्रकार है—

जैसे कि वातनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव वायु को नाश करने का है, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए मोदक का स्वभाव पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थों से बने मोदक का

१ पद्महट्टिहरस्यैसा तं चउहा मोदकस्य विद्वता ।

स्वभाव कर्म को नष्ट करने का है । वैसे ही आत्मा के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञान गुण को घात करने की, कुछ में दर्शन गुण को आच्छादित करने की, कुछ में आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दबाने आदि की शक्तियाँ पैदा होती हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के, शक्तियों के बंध को, स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिबंध कहते हैं ।

उक्त लङ्घुओं में से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन आदि तक अपनी शक्ति—स्वभाव रूप में बने रहने की कालमर्यादा होती है । इस कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं । स्थिति के पूर्ण होने पर लङ्घू अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं, अर्थात् बिगड़ जाते हैं, नीरस हो जाते हैं । इसी प्रकार कोई कर्मदलित आत्मा के साथ सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक, कोई बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक आदि रहते हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म परमाणुओं में पृथक्-पृथक् स्थितियों का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल मर्यादाओं का बन्ध होना स्थितिबंध कहलाता है । स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं, यानी आत्मा से अलग हो जाते हैं ।

जैसे कुछ लङ्घुओं में मधुर रस अधिक, कुछ में कम, कुछ में कटुक रस अधिक, कुछ में कम आदि इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि की न्यूनाधिकता देखी जाती है । इसी प्रकार कुछ कर्म परमाणुओं में शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ में कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभ-अशुभ रसों का कर्म-पुद्गलों में उत्पन्न होना रसबंध है ।

कुछ लङ्घुओं का वजन दो तोला, कुछ का छटांक आदि होता है । इसी प्रकार किन्हीं कर्मस्क्ंधों के परमाणुओं की संख्या अधिक और

किन्ही की कम होनी है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न कर्म परमाणुओं की संख्याओं से युक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश-बन्ध है।

इस प्रकार से प्रकृतिबंध आदि चारों बंध प्रकारों का स्वरूप समझना चाहिए। अब आगे की गाथा में पहले प्रकृतिबंध का वर्णन करते हुये मूल प्रकृतियों के बंध के स्थान और उनमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बंधों को बतलाते हैं।

मूल प्रकृतियों के भूयस्कार आदि बंध

मूलपयडीण अट्टससछेगबंधेषु तिस्रि भूगारा ।

अल्पतरा तिय चउरो अवट्टिया ण हु अवक्तव्वो ॥२२॥

शब्दार्थ—मूलपयडीण - मूल प्रकृतियों के, अट्टससछेगबंधेषु -- आठ, सात, छह और एक के बंधस्थान में, तिस्रि—तीन, भूगारा—भूयस्कार बंध, अल्पतरा—अल्पतर बंध, तिय—तीन, चउरो—चार, अवट्टिया—अवस्थित बंध, ण हु—नहीं, अवक्तव्वो—अवक्तव्य बंध।

गाथार्थ—मूल प्रकृतियों के आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और एक प्रकृतिक बंध स्थानों में तीन भूयस्कार बंध होते हैं। अल्पतर बंध तीन और अवस्थित बंध चार होते हैं। अवक्तव्य बंध नहीं होता है।

विशेषार्थ—गाथा में मूल कर्म प्रकृतियों के बंधस्थानों को बतलाने के साथ-साथ उनके भूयस्कार आदि बंधों की संख्या का कथन किया है।

एक समय में एक जीव के जितने कर्मों का बंध होता है, उनके समूह को एक बंधस्थान कहते हैं। बंधस्थान का विचार मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियों दोनों में किया जाता है। कर्म के जाना-वरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल भेद हैं और उनकी बंध प्रकृतियाँ

एक सौ बीस हैं। इस गाथा में सिर्फ मूल प्रकृतियों में बंधस्थान बसलये हैं।

सामान्य तौर पर प्रत्येक जीव आयुर्कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का प्रत्येक समय बंध करते हैं। क्योंकि आयुर्कर्म का बंध प्रतिसमय न होकर नियत समय पर होता है। अतः आयु कर्म के बंध के नियत समय के अलावा सात कर्मों का बंध होता ही रहता है। जब कोई जीव आयुर्कर्म का भी बंध करता है तब उसके आठ कर्मों का बंध होता है। इस प्रकार से सात और आठ दो बंधस्थानों को समझना चाहिये।

दसवें गुणस्थान में पहुँचने पर आयु और मोहनीय कर्मों के सिवाय शेष छह कर्मों का ही बंध होता है। क्योंकि आयुर्कर्म का बंध सातवें गुणस्थान तक ही होता है और मोहनीय का बंध नौवें गुणस्थान तक ही। दसवें गुणस्थान से आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सात वेदनीय का बंध होता है।^१ शेष कर्मों के बंध का निरोध दसवें गुणस्थान में हो जाता है। यह छह और एक कर्म-बंध के स्थान के बारे में स्पष्टीकरण किया गया है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि मूल कर्म प्रकृतियों के चार बंध-स्थान हैं— आठ प्रकृति का, सात प्रकृति का, छह प्रकृति का, एक प्रकृति

१ आ अपभक्तो सत्तद्वन्धगा सुहृम छण्हमेगस्स।

उवसंतखीणजोगी सत्तण्हं नियट्ठी मोस अनियट्ठी। --पंचसंगह २०६

— अप्रमत्त गुणस्थान तक सात या आठ कर्मों का बंध होता है। सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान में छह कर्मों का और उपशान्तमोह, क्षीणमोह एवं सयोगि केवली गुणस्थान में एक वेदनीय कर्म का बंध होता है। निवृत्ति-करण, मिथ्य और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आयु के बिना सात कर्मों का ही बंध होता है।

का । अर्थात् कोई जीव एक समय में आठों कर्मों का, कोई सात कर्मों का, कोई छह कर्मों का और कोई जीव एक समय में एक प्रकृति का ही बंध करता है । इसके सिवाय ऐसी कोई स्थिति नहीं जहाँ एक साथ दो या तीन या चार या पांच कर्मों का बंध होता हो ।

इन चार बंधस्थानों में 'तिन्नि भूगारा' तीन भूयस्कार, 'अप्पतरा तिय' तीन अल्पतर और 'चत्तरो अवट्ठिया' चार अवस्थित बंध होते हैं किन्तु 'णं तु अवत्तव्वो' अवक्तव्य बंध नहीं होता है ।^१ इनका स्पष्टीकरण यहां किया जा रहा है ।

भूयस्कार बन्ध

पहले समय में कम प्रकृतियों का बंध करके दूसरे समय में उससे अधिक कर्म प्रकृतियों के बन्ध को भूयस्कार बंध कहते हैं । मूल प्रकृतियों में इस प्रकार के बंध तीन-हो जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

कोई जीव ग्यारहवें—उपशान्तमोह गुणस्थान में एक—साता वेदनीय का बंध करके वहां से गिरकर जब दसवें गुणस्थान में आता है तब वहां छह कर्मों का बंध करता है । यह पहला भूयस्कार बंध है । वही जीव दसवें गुणस्थान से व्युत्त होकर जब नीचे के गुणस्थानों में आता है तब वहां सात कर्मों का बंध करता है । यह दूसरा भूयस्कार बन्ध

१ गो० कर्मकांड में भी मूल प्रकृतियों के बंधस्थान और उनमें भूयस्कार जिसे वहां भुजाकार कहा है, आदि बन्ध इस प्रकार बतलाये हैं—

चत्तारि तिण्णि तिय चउ पयड्ढिणाणि मूलपयडीणं ।

भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिणाणि कमे होति ॥

—गो० कर्मकांड ४५३

—मूल प्रकृतियों के बन्धस्थान चार हैं, इन स्थानों में भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित ये तीन प्रकार के बन्ध होते हैं । 'य' शब्द से चौथा अवक्तव्य बन्ध समझना चाहिये किन्तु वह चौथा बन्ध मूल प्रकृतियों में नहीं होता है ।

है। वही जीव आयुर्कर्म का बंध काल आने पर जब आठों कर्मों का बंध करता है तब तीसरा भूयस्कार बंध होता है। इस प्रकार एक से छह, छह से सात और सात से आठ कर्मों का बंध होने के कारण चार बंधस्थानों में भूयस्कार बंध तीन होते हैं।

उक्त चार बंधस्थानों में इन तीन भूयस्कार बंधों के सिवाय विकल्प से अन्य तीन भूयस्कार बंधों की कल्पना की जाये तो वे संभव नहीं हैं। विकल्प से अन्य तीन भूयस्कार बंधों की कल्पना इस प्रकार की जाती है—पहला एक को बांध कर सात कर्मों का बंध करना, दूसरा—एक को बांध कर आठ कर्मों का बंध करना, तीसरा—छह को बांधकर आठ कर्मों का बंध करना।

इन तीन भूयस्कार बंधों के विकल्पों में से आदि के दो भूयस्कार बंध दो तरह से हो सकते हैं—१. गिरने की अपेक्षा से, २. मरण की अपेक्षा से। किन्तु गिरने की अपेक्षा से आदि के दो भूयस्कार बंध इसलिये नहीं हो सकते हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान से पतन क्रमशः होता है, अक्रम से नहीं होता है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव दसवें गुणस्थान में आता है और दसवें से नीचे में आता है आदि। यदि जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर सीधा नीचे में या सातवें गुणस्थान में आता है तो एक को बांध कर सात का या आठ कर्मों का बंध कर सकने से पहला, दूसरा भूयस्कार बंध बन सकता था। किन्तु पतनः क्रमशः होता है अतः ये दो भूयस्कार बंध पतन की अपेक्षा तो बन नहीं सकते हैं। इसी प्रकार छह को बांधकर आठ कर्मों का बन्ध रूप तीसरा भूयस्कार बंध भी नहीं बनता है क्योंकि छह कर्मों का बंध दसवें गुणस्थान में होता है और आठ कर्मों का बंध सातवें और उसके नीचे के गुणस्थान में होता है। यदि जीव दसवें गुणस्थान से एकदम सातवें गुणस्थान में आ सकता तो वह छह को बांध कर आठ का बन्ध कर सकता था, किन्तु पतन क्रमशः होता है अर्थात्

दसवें गुणस्थान से गिरकर जीव नौवें गुणस्थान में ही आता है, जिससे तीसरा भूयस्कार बन्ध भी नहीं बन सकता है ।

उक्त कथन का सारांश यह है कि ऊपर के गुणस्थान से पतन एक-दम न होकर क्रमशः ग्यारहवें, दसवें, नौवें आदि में होता है, अतः पतन की अपेक्षा एक को बांधकर सात का बन्ध करना, एक को बांधकर आठ कर्मों का बन्ध करना, छह को बांधकर आठ कर्मों का बन्ध करना यह तीनों भूयस्कार बंध नहीं बनते हैं ।

अब रहा मरण की अपेक्षा आदि के दो भूयस्कार बंधों का हो सकना । सो ग्यारहवें गुणस्थान में मरण करके जीव देवगति में ही जन्म लेता है^१ और वहां वह सात ही कर्मों का बंध करता है, क्योंकि देवगति में छह मास की आयु शेष रहने पर ही आयु का बन्ध होता है । अतः मरण की अपेक्षा से एक का बन्ध करके आठ का बन्ध कर सकना संभव नहीं है । इसलिये यह भूयस्कार बंध नहीं हो सकता है । किन्तु एक को बांधकर सात का बंध रूप भूयस्कार संभव है, लेकिन उसके बारे में यह ज्ञातव्य है कि जो एक को बांधकर सात कर्मों का बन्ध करता है तो बन्धस्थान सात का ही रहता है, इसलिये उसको जुदा नहीं गिना जाता है ।^२ यदि बंधस्थान का भेद होता तो

१ बद्धाऊ पडिवणो सेडिगओ व पसंतमोहो वा ।

जइ कुणइ कोइ कालं वच्चइ तोऽणुत्तरसुरेसु ॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३११

यदि कोई बद्धायु जीव उपशम श्रेणि चढ़ता है और श्रेणि के मध्य के किसी गुणस्थान में अथवा ग्यारहवें गुणस्थान में यदि मरण करता है तो नियम से अनुत्तरवासी देवी में उत्पन्न होता है ।

२ तेनो उत्तर कहे छे के जो पण एक बंध थुी सातकर्म बंध करे तो पण बंधस्थानक सातनुं एकज छे ते धणी जुदो न लेक्यो, बन्धस्थानकनो भेद होय तो जुदो भूयस्कार सेबवास । —संक्षम कर्मप्रस्थ का टिप्पण

भूयस्कार भी अलग से माना जाता । इसका आशय यह है कि उक्त तीन भूयस्कारों में छह को बांधकर सात का बंधरूप एक भूयस्कार बतला आये हैं । एक को बंध कर सात के बन्ध रूप भूयस्कार में भी सात का ही बंधस्थान होता है अतः उसे पृथक् नहीं गिनाया गया है । इस प्रकार उपशम श्रेणि से उतरने पर तीन ही भूयस्कार बन्ध होते हैं ।

अल्पतर बन्ध

भूयस्कार बन्ध से नितान्त उलटा अल्पतर बंध होता है । अधिक कर्मों का बंध करके कम कर्मों के बंध करने को अल्पतर बंध कहते हैं । अल्पतर बंध भी भूयस्कार बंध की तरह तीन ही होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

आयु कर्म के बंध काल में आठ कर्मों का बंध करके जब जीव सात कर्मों का बंध करता है तब पहला अल्पतर बंध होता है । नौवें गुणस्थान में सात कर्मों का बंध करके दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में जब जीव मोहनीय के बिना शेष छह कर्मों का बंध करता है तब दूसरा अल्पतर बंध होता है तथा दसवें गुणस्थान में छह कर्मों का बंध करके ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में एक कर्म का बंध करता है तब तीसरा अल्पतर बंध होता है । यहाँ भी आठ का बंध करके छह तथा एक का बंध रूप तथा सात का बंध करके एक का बंध रूप अल्पतर बंध नहीं हो सकते हैं । क्योंकि अप्रमत्त और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से जीव एकदम ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जा सकता है और न अप्रमत्त से एकदम दसवें गुणस्थान में जाता है । अतः अल्पतर बंध भी तीन ही जानना चाहिए ।

भूयस्कार और अल्पतर बंधों में इतना अन्तर है कि गुणस्थान में पतन के समय भूयस्कार बंध और आरोहण के समय अल्पतर बन्ध होते हैं । लेकिन गुणस्थानों में आरोहण और अवरोहण क्रम-क्रम से

होता है, एकदम नहीं, अतः दोनों बंधों के तीन-तीन भेद होते हैं। अन्य विकल्पों की संभावना नहीं है।

मूल कर्मों में भूयस्कार और अल्पतर बंधों का कथन करने के पश्चात् अब अवस्थित बंध को कहते हैं।

अवस्थित बन्ध

पहले समय में जितने कर्मों का बंध किया है, दूसरे समय में भी उतने ही कर्मों के बंध करने को अवस्थित बंध कहते हैं। अर्थात् आठ को बांध कर आठ का, सात को बांध कर सात का, छह को बांध कर छह का और एक को बांध कर एक का बंध करने को अवस्थित बंध कहते हैं। बंधस्थान चार हैं, अतः अवस्थित बंध भी चार होते हैं।

अवक्तव्य बन्ध

एक भी कर्म को न बांधकर पुनः कर्म बंध को अवक्तव्य बंध कहते हैं। यह बंध मूल कर्मों के बंधस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक तो बराबर कर्मबंध होता रहता है लेकिन चौदहवें गुणस्थान में ही किसी कर्म का बंध नहीं होता है और चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के बाद जीव लौटकर नीचे के गुणस्थान में नहीं आता है जिससे एक भी कर्म का बन्ध नहीं करने से पुनः कर्मबंध करने का अवसर ही नहीं आता है। इसीलिये मूल कर्म प्रकृतियों में अवक्तव्य बंध भी नहीं होता है।^१

इस प्रकार से मूल कर्म प्रकृतियों में बंधस्थानों और उनके भूयस्कार आदि बन्धों को बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में भूयस्कार आदि बंधों के लक्षणों को कहते हैं।

भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण

एगादहिगे भूओ एतईअणगकिम अप्पतरो :

तम्मसोअट्टियओ बडमे समए अवत्तव्वो ॥२६॥

१ अवध्रगो न बंधइ इह अवत्तो अओ नत्थि ।

शब्दार्थ—एगादहिगे—एकादि अधिक प्रकृतियों का बंध होने से, **भूओ**—भूयस्कार बंध, **एगाईऊणगम्मि**—एकादि प्रकृति के द्वारा हीन बंध होने से, **अप्पतरो**—अल्पतर बंध, **तम्मसो**—उतनी प्रकृतियों का बंध होने से, **अवट्ठियओ**—अवस्थित बंध, **पढमेसमए**—अबन्धक होने के बाद पुनर्बन्ध के पहले समय में, **अवस्तव्वो**—अवस्तव्य बन्ध ।

गाथार्थ—एकादि अधिक प्रकृतियों का बन्ध होने से भूयस्कार बन्ध होता है । एकादि प्रकृतियों के द्वारा हीन बंध होने पर अल्पतर बन्ध और उतनी ही प्रकृतियों का बन्ध होने से अवस्थित बन्ध होता है तथा अबन्धक होने के बाद पुनः बंध के पहले समय में बन्ध हो, उसे अवस्तव्य बंध कहते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवस्तव्य बंध के लक्षण बतलाये हैं ।

भूयस्कार बंध का लक्षण बतलाने हुए कहा है कि—‘एगादहिगे भूओ’—एक, दो आदि अधिक प्रकृतियों के बांधने पर भूयस्कार बंध होता है । अर्थात् जैसे एक को बांधकर छह को बांधना, छह को बांधकर सात को बांधना और सात को बांधकर आठ को बांधना भूयस्कार बंध है ।

लेकिन अल्पतर बंध भूयस्कार बंध से उलटा है । यानी ‘एगाई-ऊणगम्मि अप्पतरो’—एक, दो आदि हीन प्रकृतियों का बंध करने पर अल्पतर बंध होता है । अर्थात् जैसे आठ को बांधकर सात को बांधना, सात को बांधकर छह को बांधना और छह को बांधकर एक को बांधना अल्पतर बन्ध कहलाता है ।

अवस्थित बंध उस कहते हैं—**तम्मसोऽवाट्ठियओ**—जिसमें प्रति-समय समान प्रकृतियों का बंध हो अर्थात् पहले समय में जितने कर्मों का बन्ध किया हो, आगे के समयों में भी उतने ही कर्मों का बन्ध

करना अवस्थित बन्ध कहलाता है। जैसे आठ कर्म को बांधकर आठ का, सात को बांधकर सात का, छह को बांधकर छह का, एक को बांधकर एक का बन्ध करना अवस्थित बन्ध है और किसी भी कर्म का बन्ध न करके पुनः कर्म बन्ध करने पर पहले समय में अवक्तव्य बन्ध होता है—'पहले समए अवत्ताव्वो ।'

भूयस्कार आदि बंधों विषयक विशेष स्पष्टीकरण

भूयस्कार आदि उक्त चार प्रकार के बंधों के संबन्ध में यह विशेष जानना चाहिए कि भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बन्ध केवल पहले समय में ही होते हैं और अवस्थित बंध द्वितीय आदि समयों में होता है। जैसे कोई छह कर्मों का बंध करके सात का बंध करता है तो यह भूयस्कार बंध है लेकिन दूसरे समय में यही भूयस्कार नहीं हो सकता है क्योंकि प्रथम समय में सात का बंध करके यदि दूसरे समय में आठ का बंध करता है तो भूयस्कार बदल जाता है और छह कर्म का बंध करता है तो अल्पतर हो जाता है तथा सात का करता है तो अवस्थित हो जाता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि प्रकृतिसंख्या में परिवर्तन हुए बिना अधिक बांधकर कम बांधना, कम बांधकर अधिक बांधना और कुछ भी न बांधकर पुनः बांधना केवल एक बार ही संभव है, जबकि पहली बार बांधे हुए कर्मों के बराबर पुनः उतने ही कर्मों को बांधना पुनः संभव है। अतः एक ही अवस्थित बन्ध लगातार कई समय तक हो सकता है, किन्तु शेष तीन बंधों में यह संभव नहीं है।

इस प्रकार के भूयस्कार आदि बंधों के लक्षण और मूल कर्मों में उनकी होने वाली संख्या बतलाकर उत्तर प्रकृतियों में विशेष रूप से कथन करने के पूर्व सामान्य से उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि चारों बंधों को स्पष्ट करते हैं।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों के उनतीस बंधस्थान होते हैं। जो

इस प्रकार हैं—एक, सत्तह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, छब्बीस, तिरेपन, चौवन, पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ, साठ, इकसठ, तिरेसठ, चौंसठ, पँसठ, छियासठ, सड़सठ, अड़सठ, उनहत्तर, सत्तर, इकहत्तर, बहत्तर, तिहत्तर और चौहत्तर। ये उनतीस बंधस्थान हैं, जिनमें भूयस्कार बन्ध अट्ठाईस होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

उपशान्तमोह गुणस्थान में एक वेदनीय का बंध कर गिरते समय दसवें गुणस्थान में ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार, अंतराय पांच, उच्च गोत्र और यशःकीर्ति के साथ वेदनीय का बन्ध करने से सत्तह प्रकृति के बंध से प्रथम समय में पहला भूयस्कार बंध होता है।

दसवें गुणस्थान से पतित होने पर नौवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ के साथ अठारह प्रकृति का बंध करने पर दूसरा भूयस्कार बंध होता है। संज्वलन माया के साथ उन्नीस प्रकृतियों को बांधने से तीसरा भूयस्कार बन्ध और संज्वलन मान के साथ बीस को बांधने से चौथा भूयस्कार बन्ध, संज्वलन क्रोध के साथ इक्कीस का बंध करने से पांचवां भूयस्कार बंध तथा पुरुष वेद के साथ बाईस का बंध करने से छठा भूयस्कार और उसके साथ ह्राम्य, रति, भय और जुगृप्सा इन चार प्रकृतियों का अधिक बन्ध करने से अपूर्वकरण के सातवें भाग में छब्बीस का बंध करने से सातवां भूयस्कार बन्ध होता है। उसके मध्य आठवें गुणस्थान के छठे भाग में देवप्रायोग्य नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियों का बंध करने से तिरेपन का बंध, यह आठवां भूयस्कार, पुनः तीर्थकर नामकर्म सहित देवप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधने पर चौवन के बंध का नौवां भूयस्कार बन्ध तथा आहारकद्विक सहित तीस का बंध करने से पचपन का बंध करने पर दसवां भूयस्कार और इन पचपन को तीर्थकर नामकर्म सहित बांधने से छप्पन

का बंध होने से ग्यारहवां भूयस्कार, अपूर्वकरण के प्रथम भाग में छप्पन को जिन नामकर्म रहित तथा निद्रा और प्रचला सहित बांधने से सत्तावन के बंध में बारहवां भूयस्कार तथा जिननाम सहित अट्ठावन का बंध होने पर तेरहवां भूयस्कार, अप्रमत्त गुणस्थान में उक्त अट्ठावन को देवायु सहित उनसठ का बंध करने पर चौदहवां भूयस्कार, देशविरति गुणस्थान में देवप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करने के साथ ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण छह, वेदनीय एक, मोहनीय तेरह, देवायु एक, नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इस प्रकार साठ प्रकृतियों के बांधने से पन्द्रहवां भूयस्कार, इन साठ के साथ तीर्थंकर नाम का भी बंध करने से इक्कसठ के बंध का सोलहवां भूयस्कार, (यहां किसी भी तरह एक जीव को एक समय में बासठ प्रकृतियों का बंध संभव नहीं, अतः उसका भूयस्कार भी नहीं कहा है ।) चौथे गुणस्थान में आयु के अबन्धकाल में देवप्रायोग्य नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधने पर ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की छह, वेदनीय की एक, मोहनीय की सत्रह, गोत्र की एक, नामकर्म की अट्ठाईस और अंतराय की पांच इन तिरसठ प्रकृतियों का बंध करने से सत्रहवां भूयस्कार, देवायु के बंध के साथ चौसठ प्रकृतियों को बांधने से अठाहरवां भूयस्कार, जिन नामकर्म सहित पैंसठ को बांधने पर उन्नीसवां भूयस्कार, चौथे गुणस्थान में देव हो और उसके द्वारा मनुष्यप्रायोग्य तीस प्रकृतियों के बांधने पर छियासठ के बंध में बीसवां भूयस्कार, मिथ्यात्व गुणस्थान में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की एक, मोहनीय की बाईस, आयु की एक, नाम की तेईस, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इन सड़सठ प्रकृतियों का बंध करने पर इक्कीसवां भूयस्कार, इनमें नामकर्म की पच्चीस और आयु रहित अड़सठ के बांधने पर

बाईसवां भूयस्कार, आयु सहित उनहत्तर का बंध करने से तेईसवां भूयस्कार तथा नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियों के साथ सत्तर प्रकृतियों को बांधने से चौबीसवां भूयस्कार तथा आयु रहित और नामकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों के साथ इकहत्तर को बांधने पर पन्चीसवां भूयस्कार, नामकर्म की उनतीस प्रकृतियों के साथ वहत्तर के बंध में छब्बीसवां भूयस्कार, आयु सहित तिहत्तर का बंध करने पर सत्ताईसवां भूयस्कार और नामकर्म की तीस बांधते ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की एक, मोहनीय की बाईस, आयु की एक, नाम की तीस, गोत्र की एक और अंतराय की पांच, इस प्रकार चौहत्तर का बंध करने से अट्ठाईसवां भूयस्कार होता है।

यहां प्रकारान्तर से अनेक बंधस्थानक संभव हैं, जिनका स्वयं विचार कर लेना चाहिए।, इसी प्रकार से अट्ठाईस अल्पतर बंध भी विपरीतपत्ते (आरोहण) से होते हैं और अवस्थित बंध उनतीस समझना चाहिए। अवक्तव्य बंध संभव नहीं है। सर्व उत्तर प्रकृतियों का अवन्धक अयोगि गुणस्थान में जीव होता है, उस गुणस्थान से पतन नहीं होने के कारण अवक्तव्य बंध नहीं होता है।

सामान्य से उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंधों का कथन करने के बाद अब आगे की गाथाओं में प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों में बंधों को बतलाते हैं।

उत्तर प्रकृतियों के भूयस्कार आदि बंध

नव छ चउ दसे बुदु तिदु पांहे दु इगबीस सत्तरस ।

तेरस नव पण खउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस बुझि ॥२४॥

शब्दार्थ—नव—नौ प्रकृति का, छ—छह प्रकृति का, चउ—चार प्रकृति का बंधस्थान, दसे—दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों का, बु—दो भूयस्कार बंध, दु—दो अल्पतर बंध, ति—तीन

अवस्थित बंध, बु—दो अवक्तव्य बंध, मोहे—मोहनीय कर्म में, बुझबीस—बाईस, इक्कीस प्रकृतियों का बंधस्थान, सत्तरस—सत्रह प्रकृतियों का बंधस्थान, तेरस—तेरह प्रकृतियों का बंध - नौ का, पण—पांच का, चउ—चार का, ति—तीन का, बु—दो का, इक्की—एक प्रकृति का बंधस्थान, नव—नौ भूयस्कार बंध, अट्ठ—आठ अल्पतर बंध, दस—दस अवस्थित बंध, बुधि—दो अवक्तव्य बंध ।

साधारण—दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नौ, छह और चार प्रकृतियों के तीन बंधस्थान हैं और उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं । मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप दस बंधस्थान होते हैं तथा उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध होते हैं ।

विशेषार्थ—मूल कर्मप्रकृतियों के बंधस्थान और उनमें भूयस्कार आदि बन्धों की संख्या बतलाने के बाद इस गाथा से प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान और भूयस्कार आदि बन्धों का कथन प्रारम्भ किया गया है ।

सबसे पहले दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के बंधस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बंधों को गिनाया है ।

मूल कर्मप्रकृतियों के पाठक्रम के अनुसार सबसे पहले ज्ञानावरण कर्म के बंधस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बंधों को न बतलाकर दर्शनावरण और मोहनीय कर्म से इस प्रकरण को प्रारम्भ करने का कारण यह है कि भूयस्कार आदि बंध दर्शनावरण, मोहनीय और नाम

कर्म इन तीन कर्मों को उत्तर प्रकृतियों में होते हैं, शेष पांच कर्मों^१ में उनकी संभावना नहीं है। क्योंकि जानावरण और अंतराय कर्म की पांचों प्रकृतियाँ एक साथ हो बंधती हैं और एक साथ रुकती है। जिससे दोनों कर्मों का पंच प्रकृति रूप एक ही बन्धस्थान होता है और जब एक ही बन्धस्थान है तो उसमें भूयस्कार आदि बंध संभव नहीं हैं। इस दशा में तो सर्वदा अवस्थित बन्ध रहता है। इसी प्रकार वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। अतः इनमें भी भूयस्कार आदि बंध नहीं होते हैं।^२

दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के बंधस्थानों व उनमें भूयस्कार आदि बंधों की संख्या नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

दर्शनावरण कर्म के बंधस्थान आदि की संख्या

दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरण आदि नौ प्रकृतियाँ हैं और

१ जानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अंतराय।

२ (क) तिणिण दस अट्ठ ठाणाणि दसणावरणमोहणामाणं।

एस्येव य भुजगारा सेसेसेय हवे ठाण ॥

—श्री० कर्मकांड ४५८

—दर्शनावरण, मोहनीय और नाम कर्म में क्रमशः तीन, दस और आठ बन्धस्थान होते हैं और इन्हीं में भुजाकार बंध आदि भी होते हैं। शेष कर्मों में केवल एक ही बन्धस्थान होता है।

(ख) बन्धट्ठाणा तिदसट्ठ दसणावरणमोहणामाणं।

सेसाणेगमवट्ठियबन्धो सच्चत्थ ठाण समो ॥

—पंचसंग्रह २२२

—दर्शनावरण के तीन बन्धस्थान हैं, मोहनीय के दस बन्धस्थान और नामकर्म के आठ बन्धस्थान हैं तथा शेष कर्मों का एक-एक ही बन्धस्थान है। जितने बन्धस्थान होते हैं, उतने ही अवस्थित बन्ध होते हैं।

उनमें नौ, छह और चार प्रकृतियों के इस प्रकार से तीन बन्धस्थान होते हैं—नव छ चउ दंसे । दर्शनावरण कर्म के तीन बन्धस्थान मानने का कारण यह है कि दूसरे मासादन गुणस्थान तक तो सभी प्रकृतियों का बंध होने से नौ प्रकृतिक बंधस्थान होता है । सासादन गुणस्थान के अंत में स्त्यानाद्विद्वक के बंध की समाप्ति हो जाती है अतः तीसरे मिश्र गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक शेष छह प्रकृतियों का ही बन्धस्थान है और अपूर्वकरण के प्रथम भाग के अन्त में निद्रा और प्रचला के बंध का निरोध हो जाने से आगे दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक शेष चार प्रकृतियों का ही बन्धस्थान होता है । इस प्रकार दर्शनावरण के नौ प्रकृति रूप, छह प्रकृति रूप और चार प्रकृति रूप ये तीन बन्धस्थान हैं ।^१ इनमें भूयस्कर आदि बंध क्रमशः 'दुदु तिदु' दो, दो, तीन, दो हैं, यानी दो भूयस्कर, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध होते हैं । जो इस प्रकार हैं—

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थान में चार प्रकृतियों का बन्ध करके जब कोई जीव अपूर्वकरण गुणस्थान के द्वितीय भाग से नीचे आकर छह प्रकृतियों का बन्ध करता है तब पहला भूयस्कार बन्ध होता है और वहां से भी गिरकर जब नौ प्रकृतियों का बंध करता

१ पंचसंग्रह के सप्ततिका अधिकार में भी दर्शनावरण के तीन बंधस्थान इसी प्रकार बतलाये हैं—

नवछस्वउहा वधमई दुगह्ठ दसमेण वंसणावरणं ॥१०

दर्शनावरण के तीन बन्धस्थान हैं । उनमें से पहले, दूसरे गुणस्थान में नौ का, उनमें आगे आठवें गुणस्थान तक छह प्रकृति का और आगे दसवें गुणस्थान तक चार प्रकृति का बन्धस्थान होता है ।

है तब दूसरा भूयस्कार बंध होता है। इस प्रकार से दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों में दो भूयस्कार बन्ध समझना चाहिये।

भूयस्कार बंध की तरह दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों में अल्पतर बंध भी दो समझना चाहिये। क्योंकि अल्पतर बंध भूयस्कार बंध से विपरीत होते हैं। इसीलिये जब कोई जीव तोबे के गुणस्थानों में नौ प्रकृतियों का बंध करके तीसरे आदि गुणस्थानों में छह प्रकृतियों का बंध करता है तब पहला अल्पतर बन्ध होता है और जब छह का बन्ध करके चार का बन्ध करता है तब दूसरा अल्पतर बंध होता है। लेकिन अवस्थित बन्ध तीन होते हैं। क्योंकि दर्शनावरण कर्म के बन्धस्थान तीन ही हैं और दो अवक्तव्य बन्ध इस प्रकार समझना चाहिये कि ग्यारहवें गुणस्थान में दर्शनावरण का बिल्कुल बन्ध न करके जब कोई जीव वहाँ से गिरकर दसवें गुणस्थान में चार प्रकृतियों का बन्ध करता है तब पहला अवक्तव्य बन्ध होता है और जब ग्यारहवें गुणस्थान में मरण करके अनुत्तर देवों में उत्पन्न होता है तब वहाँ प्रथम समय में दर्शनावरण कर्म की छह प्रकृतियों का बन्ध करता है, जो दूसरा अवक्तव्य बन्ध है।

इस प्रकार से दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थानों और उनमें दो भूयस्कार, दो अल्पतर, तीन अवस्थित और दो अवक्तव्य बंधों का कथन करने के बाद अब मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थानों और भूयस्कारादि बंधों की बतलाते हैं।

मोहनीय कर्म के बंधस्थान आदि की संख्या

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियाँ हैं। लेकिन उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय का बंध न होने से बंधयोग्य छब्बीस प्रकृतियाँ हैं। इनमें बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति का, इस प्रकार से कुल दस बंधस्थान होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीन वेदों में से एक समय में एक ही वेद का तथा हास्य-रति व शोक-अरति में से एक समय में एक ही युगल का बंध होता है। अतः मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा तीन वेदों में से कोई दो वेद और हास्य-रति, अरति-शोक, इन दोनों युगलों में से कोई एक युगल को कम करने से कुल छह प्रकृतियों को कम कर देने पर शेष बाईस प्रकृतियां ही एक समय में बन्ध को प्राप्त होती हैं। यह पहला बंधस्थान है। इस बंधस्थान की बाईस प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, एक वेद, एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस बाईस प्रकृति रूप बंधस्थान का बन्ध केवल पहले गुणस्थान में होता है।

दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियों का, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के सिवाय शेष सत्रह का, पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बंध न होने से शेष तेरह प्रकृतियों का बंध होता है। ये क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे बंधस्थान हैं। इसके अनन्तर छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बन्ध न होने के कारण शेष नौ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान के अन्त में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बन्धविच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में पांच प्रकृतियों का ही बंध-स्थान होता है। दूसरे भाग में वेद का अभाव हो जाने से चार का, तीसरे भाग में संज्वलन क्रोध के बंध का अभाव हो जाने के कारण तीन ही प्रकृतियों का बंध होता है। चौथे भाग में संज्वलन मान का बन्ध न होने से दो प्रकृतियों का बन्धस्थान है। पांचवें भाग में संज्वलन माया का भी बन्ध न होने से केवल एक संज्वलन लोभ का

ही बन्ध होता है। इसके आगे बादर कषाय का अभाव हो जाने से संवलन लोभ प्रकृति का भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान जानना चाहिये। इन दस बन्धस्थानों में नी भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवस्थित बंध होते हैं।^१ जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

मोहनीय कर्म के भूयस्कार आदि बंध—एक को बांध कर दो का बंध करने पर पहला भूयस्कार बंध और दो को बांधकर तीन का बंध करने पर दूसरा भूयस्कार बंध होता है। इसी प्रकार तीन को बांध कर चार का बंध करने पर तीसरा, चार को बांधकर पांच का बन्ध करने पर चौथा, पांच का बंध करके नौ का बंध करने पर पांचवां, नौ का बंध करके तेरह का बन्ध करने पर छठा, तेरह का बंध करके सत्रह का बंध करने पर सातवां, सत्रह का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध करने पर आठवां और इक्कीस का बन्ध करके बाईस का बन्ध करने पर नौवां भूयस्कार बन्ध होता है।

आठ अल्पतर^२ बंध इस प्रकार हैं—बाईस का बंध करके सत्रह

१ गो० कर्मकांड में मोहनीय कर्म के भूजाकारादि बंधों में कुछ अन्तर है, उसमें अधिक माने गये हैं, जिनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

२ मोहनीय कर्म के आठ अल्पतर बन्ध होते हैं। बाईस का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध रूप अल्पतर बन्ध नहीं बताने का कारण यह है कि बाईस का बन्ध पहले गुणस्थान में होता है और इक्कीस का बन्ध दूसरे गुणस्थान में। लेकिन पहले गुणस्थान से जीव दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता है। दूसरा गुणस्थान अवक्रान्ति की अपेक्षा से है, उत्क्रान्ति की अपेक्षा से नहीं। यदि जीव पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जा सकता तो इक्कीस का अल्पतर बन्ध बन सकता था। लेकिन मिथ्यादृष्टि सासा-

(अगले पृष्ठ पर देखें)

का बन्ध करने पर पहला अल्पतर और सत्रह का बन्ध करके तेरह का बन्ध करने पर दूसरा अल्पतर होता है । इसी प्रकार तेरह का बन्ध करके नौ का बन्ध करने पर तीसरा, नौ का बन्ध करके पांच का बन्ध करने पर चौथा, पांच का बन्ध करके चार का बन्ध करने पर पांचवां, चार का बन्ध करके तीन का बन्ध करने पर छठा, तीन का बन्ध करके दो का बन्ध करने पर सातवां और दो का बन्ध करके एक का बन्ध करने पर आठवां अल्पतर बन्ध होता है ।

बंधस्थान दस होने से अवस्थित बंध भी दस ही होते हैं ।

दो अवक्तव्य बन्ध निम्न प्रकार हैं—ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का बन्ध न करके जब कोई जीव वहां से व्युत्त होकर नीवें गुणस्थान में आता है और वहां संज्वलन लोभ का बन्ध करता है तब पहला अवक्तव्य बन्ध होता है और यदि ग्यारहवें गुणस्थान में आयु का क्षय हो जाने के कारण मरकर के कोई जीव अनुत्तरवासी देवों में जन्म लेता है और वहां सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है तो दूसरा अवक्तव्य बन्ध होता है ।

दस सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है, उपशम सम्यग्दृष्टि ही सासादन गुणस्थान को प्राप्न होता है

छान्निगमेसा परं आसाणं कोइ गच्छेज्जा । २३।

उवसंसत्तद्धातो पडमाणो छावनिगमेसाए उवसमसंसत्तद्धाते परति उक्कोसाते, जहन्नेण एकसमयसेसाए उवसमसंसत्तद्धाए सासायणसम्मत्तं कोनि गच्छेज्जा, णो सक्वे गच्छेज्जा ।

—कर्मप्रकृति (उपशम क०) चूर्णि

—उपशम सम्यक्त्व के काल में कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवली जोष रहने पर कोई-कोई उपशम सम्यग्दृष्टि सासादन सम्यक्त्व को प्राप्त होता है ।

अतः बाईस का बन्ध करके इक्कीस का बन्ध रूप अल्पतर बन्ध संभव नहीं है ।

इस प्रकार से मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान और नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बन्ध बतलाने के बाद अब नामकर्म तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों के बन्धस्थान व भूयस्कार आदि बन्धों का निरूपण करते हैं ।

तिपणछअट्टनवहिया बीसा तीसेगतीस इग नामे ।

छस्सगअट्टतिबन्धा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२३॥

शब्दार्थ—तिपणछअट्टनवहिया तीन, पांच, छह, आठ और नौ अधिक, बीसा- बीस, तीस तीस, एगतीस इकतीस, इग- एक, नामे—नामकर्म छ-- छह भूयस्कार बंध, स्सग—सात अल्पतर बन्ध, अट्ट—आठ अवस्थित बंध, तिबन्धा—तीन अवक्तव्य बन्ध, सेसेसु—बाकी के ज्ञानावरण आदि पांच कर्मों में, ठाण—बन्धस्थान इक्किक्कं—एक-एक ।

भावार्थ—नामकर्म में तीन, पांच, छह, आठ और नौ अधिक बीस तथा तीस, इकतीस, एक प्रकृति रूप बंधस्थान होते हैं तथा इनमें छह भूयस्कार बंध, सात अल्पतर बन्ध, आठ अवस्थित बन्ध और तीन अवक्तव्य बन्ध हैं । दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के सिवाय शेष पांच कर्मों में एक-एक बन्धस्थान है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में नामकर्म के बन्धस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बन्धों की संख्या तथा शेष पांच कर्मों के बन्धस्थानों को बतलाया है ।

नामकर्म के आठ बन्धस्थान हैं, उनमें से कुछ की संख्या संकेत द्वारा बतलाई है । जैसे कि 'तिपणछअट्टनवहिया बीसा' तीन अधिक बीस, पांच अधिक बीस, छह अधिक बीस, आठ अधिक बीस, नौ अधिक बीस, जिनसे क्रमशः तेईस प्रकृति रूप, पच्चीस प्रकृति रूप, छब्बीस प्रकृति

रूप, अट्ठाईस प्रकृति रूप और उनतीस प्रकृति रूप ये पाँच स्थान बन जाते हैं और तीन बन्धस्थान क्रमशः तीस प्रकृति रूप, इकतीस प्रकृति रूप और एक प्रकृति रूप हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नामकर्म की बन्धयोग्य ६७ प्रकृतियाँ हैं। एक समय में एक जीव को सभी प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। किन्तु उनमें से एक समय में एक जीव के तेईस, पच्चीस आदि प्रकृतियाँ ही बन्ध को प्राप्त होती हैं। इसीलिये नामकर्म के आठ बन्धस्थान माने गये हैं।

पूर्व में जिन कर्मों के बन्धस्थानों को बतलाया गया है वे कर्म जीवविपाको हैं—जीव के आत्मिक गुणों पर ही उनका असर पड़ता है। किन्तु नामकर्म का बहुभाग पुद्गलविपाकी है और उसका अधिकतर उपयोग जीवों की शारीरिक रचना में ही होता है। अतः भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से एक ही बन्धस्थान की अवान्तर प्रकृतियों में अन्तर पड़ जाता है।

वर्ण चतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात, नामकर्म की ये नौ प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी है। चारों गति के सभी जीवों के आठवें गुणस्थान के छोटे भाग तक इनका बन्ध अवश्य होता है। इनके साथ तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, हृण्ड संस्थान, स्थावर, अपर्याप्त, अस्थिर, अणुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, सूक्ष्म-बादर में से कोई एक, साधारण-प्रत्येक में से कोई एक, इन चौदह प्रकृतियों को ध्रुवबन्धिनी नौ प्रकृतियों के साथ मिलाने पर (१४+६) तेईस प्रकृति का बन्धस्थान होता है। ये तेईस प्रकृतियाँ अपर्याप्त एकेन्द्रियप्रयोग्य हैं, जिनको एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय मिथ्यात्वी बाधता है। अर्थात् इस स्थान का बन्धक जीव मरकर एकेन्द्रिय अपर्याप्त में ही जन्म लेता है।

इन तेईस प्रकृतियों में से अपर्याप्त प्रकृति को कम करके पर्याप्त,

उच्छ्वास और पराघात प्रकृतियों को मिलाने से एकेन्द्रिय पर्याप्त सहित पञ्चीस का बन्धस्थान होता है। उनमें से स्थावर, पर्याप्त एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात को घटाकर त्रस, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जाति, सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग के मिलाने से द्वीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीस का स्थान होता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति के स्थान में त्रीन्द्रिय जाति के मिलाने से त्रीन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीस का स्थान, त्रीन्द्रिय जाति के स्थान में चतुरिन्द्रिय जाति के मिलाने से चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीस का स्थान और चतुरिन्द्रिय जाति के स्थान में पंचेन्द्रिय जाति के मिलाने से पंचेन्द्रिय अपर्याप्त सहित पञ्चीस का स्थान होता है। इसमें तिर्यन्व-गति के स्थान में मनुष्यगति के मिलाने से मनुष्य अपर्याप्त सहित पञ्चीस का स्थान होता है :

इस प्रकार से पञ्चीस प्रकृति वाला बन्धस्थान छह प्रकार का होता है और उसको बांधने वाले जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तकों में तथा द्वीन्द्रिय को आदि लेकर सभी अपर्याप्त तिर्यन्व और मनुष्यों में जन्म ले सकते हैं।

मनुष्यगति सहित पञ्चीस प्रकृतिक बन्धस्थान में से त्रस, अपर्याप्त, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग को घटाकर स्थावर, पर्याप्त, तिर्यन्वगति, एकेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात और आतप तथा उद्योत में से किसी एक को मिलाने पर एकेन्द्रिय पर्याप्त युक्त छब्बीस का बन्धस्थान होता है। इस स्थान का बन्धक जीव एकेन्द्रिय पर्याप्तक में जन्म लेता है।

नामकर्म की नौ ध्रुवबन्धिनी, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से एक, शुभ और अशुभ में से एक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से एक, देवगति, पंचेन्द्रिय

जाति, वैक्रिय शरीर, पहला संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, शुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात इन प्रकृति रूप देवगति सहित अट्ठाईस का बन्धस्थान होता है । इस स्थान का बन्धक मरकर देव होता है ।

नरकगति की अपेक्षा अट्ठाईस का बन्धस्थान—नी ध्रुवबंधिनी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भंग, अनादेय, अयशः-कीर्ति, नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, दुष्टसंस्थान, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, दुःस्वर, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास और पराघात, इन प्रकृति रूप नरकगतियोग्य अट्ठाईस का बन्धस्थान होता है ।

नी ध्रुवबंधिनी तथा त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ अथवा अशुभ, दुर्भंग, अनादेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, तिर्यचगति, द्वीन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, दुष्ट संस्थान, तिर्यचानुपूर्वी, सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपांग, दुःस्वर, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, इन प्रकृति रूप द्वीन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस प्रकृति का बन्धस्थान होता है । इसमें द्वीन्द्रिय के स्थान में त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के स्थान में चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के स्थान में पंचेन्द्रिय को मिलाने से क्रमशः त्रीन्द्रिययुत, चतुरिन्द्रिययुत और पंचेन्द्रिययुत उनतीस प्रकृति का बन्धस्थान होता है ।

इस स्थान में यह विशेषता समझना चाहिये कि शुभग और दुर्भंग, आदेय और अनादेय, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, इन युगलों में से एक-एक प्रकृति का तथा छह संस्थानों और छह संहननों में से किसी एक संस्थान का और किसी एक संहनन का बंध होता है । इसमें तिर्यचगति और तिर्यचानुपूर्वी को घटाकर मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने से पर्याप्त मनुष्य सहित उनतीस का बन्धस्थान होता है ।

नौ ध्रुवबंधिनी, तस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर या अस्थिर, शुभ या अशुभ, आदेय, यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, प्रथम संस्थान, देवानुपूर्वी, वैक्रिय अंगोपांग, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, पराघात, तीर्थकर, इन प्रकृति रूप देवगति और तीर्थकर सहित उनतीस का बंधस्थान होता है। इस प्रकार से उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते हैं। इन स्थानों का बन्धक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यचां में तथा मनुष्यगति और देवगति में जन्म लेता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत उनतीस के चार बन्धस्थानों में उद्योत प्रकृति के मिलाने से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तयुत तीस के चार बंधस्थान होते हैं। पर्याप्त मनुष्य सहित उनतीस के बन्धस्थान में तीर्थकर प्रकृति के मिलाने से मनुष्यगति सहित तीस का बंधस्थान होता है। देवगति सहित उनतीस के बन्धस्थान में से तीर्थकर प्रकृति घटाकर आहारकट्टिक को मिलाने से देवगतियुत तीस का बंधस्थान होना है। इस प्रकार तीस प्रकृतिक बंधस्थान छह होते हैं।

देवगति सहित उनतीस के बंधस्थान में आहारकट्टिक के मिलाने से देवगति सहित एकतीस का बन्धस्थान होता है। एक प्रकृतिक बंधस्थान में केवल एक यशःकीर्ति का ही बन्ध होता है।

इस प्रकार नामकर्म के आठ बंधस्थानों को बतलाकर अब इनमें भूयस्कार बन्ध आदि की संख्या बतलाते हैं।

भूयस्कारादि बंध

नामकर्म के बंधस्थान आठ हैं और उनमें भूयस्कार आदि बन्धों की संख्या बतलाने के लिये संकेत दिया है कि 'छस्सगअट्ठति बन्धा' यानी छह भूयस्कार, सात अल्पतर, आठ अवस्थित और तीन अवकतव्य बन्ध होते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

तेईस का बन्ध करके पच्चीस का बन्ध करना पहला भूयस्कार, पच्चीस का बन्ध करके छब्बीस का बन्ध करना दूसरा भूयस्कार, छब्बीस का बन्ध करके अट्ठाईस का बन्ध करना तीसरा भूयस्कार, अट्ठाईस का बन्ध करके उनतीस का बन्ध करना चौथा भूयस्कार, उनतीस का बन्ध करके तीस का बन्ध करना पांचवा भूयस्कार, आहारकद्विक सहित तीस का बन्ध करके इकतीस का बन्ध करना छठा भूयस्कार बन्ध होता है। इस प्रकार छह भूयस्कार बन्ध हैं।

नौवें गुणस्थान में एक यणःपुंर्ग का बन्ध करके बन्ध से च्युत होकर आठवें गुणस्थान में जब कोई जीव तीस अथवा इकतीस का बन्ध करता है तो वह पृथक् भूयस्कार नहीं गिना जाता है। क्योंकि उसमें भी तीस अथवा इकतीस का ही बन्ध करता है और यही बन्ध पांचवें और छठे भूयस्कार बन्धों में भी होता है, अतः उसे पृथक् नहीं गिना है।

यद्यपि कर्मप्रकृति के सत्त्वाधिकार गाथा ५२ की टीका में उपाध्याय यशोविजयजी ने कर्मों के बन्धस्थानों और उनमें भूयस्कार आदि बन्धों के वर्णन के प्रसंग में नामकर्म के बन्धस्थानों में छह भूयस्कार बन्धों को बतलाकर सातवें भूयस्कार के संबन्ध में एक मत का उल्लेख किया है कि एक प्रकृति का बन्ध करके इकतीस का बन्ध करने पर सातवां भूयस्कार बन्ध होता है। जैसा कि शतक चूर्णि में लिखा है—एककाओ वि एकतीस जाड ति भुओगारा सत्—एक को बांधकर इकतीस का बन्ध करता है, अतः नामकर्म की उनार प्रकृतियों में सात भूयस्कार बन्ध होते हैं।

इसका उत्तर यह है कि अट्ठाईस आदि बन्धस्थानों के भूयस्कारों को बतलाते हुए इकतीस के बन्ध रूप भूयस्कार का पहले ही ग्रहण कर लिया है। अतः एक को अपेक्षा से उसे अलग नहीं गिना जा सकता

है। यहाँ भिन्न-भिन्न बन्धस्थानों की अपेक्षा से भूयस्कारो के भेदों की विवक्षा नहीं की है, यदि विभिन्न बन्धस्थानों की अपेक्षा विवक्षा की जाये तो बहुत से भूयस्कार हो जायेंगे। जैसे कभी अट्ठाईस का बंध करके इकतीस का बन्ध करता है, कभी उनतीस का बन्ध करके इकतीस का बन्ध करता है और कभी एक का बन्ध करके इकतीस का बन्ध करता है तथा कभी तेईस का बन्ध करके अट्ठाईस का बन्ध करता है और कभी पच्चीस का बन्ध करके अट्ठाईस का बन्ध करता है। इस प्रकार सात से भी अधिक बहुत से भूयस्कार हो सकते हैं, जो यहाँ इष्ट नहीं हैं। अतः भिन्न-भिन्न बन्धस्थानों की अपेक्षा से भूयस्कार के भेद नहीं बताये हैं। इस प्रकार से भूयस्कार बन्ध छह होते हैं।

अब सात अल्पतर बंध बतलाते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान में देव-गति योग्य २८, २९, ३० अथवा ३१ का बन्ध करके १ प्रकृतिक बंध-स्थान का बन्ध करने पर पहला अल्पतर बंध होता है। आहारकद्विक और तीर्थंकर सहित इकतीस का बंध करके जो जीव देवलोक में उत्पन्न होता है, वह प्रथम समय में ही मनुष्यगतियुत तीस प्रकृतियों का बन्ध करता है, यह दूसरा अल्पतर बन्ध है। वही जीव स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यगति में जन्म लेकर देवगति योग्य तीर्थंकर सहित उनतीस प्रकृतियों का बन्ध करता है तब तीसरा अल्पतर बंध होता है। जब कोई तिर्यंच या मनुष्य, तिर्यंचगति के योग्य पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियों का बन्ध करके विशुद्ध परिणामों के कारण देवगति योग्य अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध करता है तब चौथा अल्पतर बंध, अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करके संक्लेश परिणामों के कारण जब कोई जीव एकेन्द्रिय के योग्य छब्बीस प्रकृतियों का बंध करता है तब पाँचवां अल्पतर बन्ध होता है। छब्बीस का बन्ध करके पच्चीस का बन्ध करने पर छठा अल्पतर बन्ध होता है तथा पच्चीस का बन्ध करके तेईस का बन्ध करने पर सातवां अल्पतर बंध होता है।

आठ बन्धस्थानों की अपेक्षा से आठ ही अवस्थित बन्ध होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थान में नामकर्म की एक भी प्रकृति को न बांधकर वहाँ से च्युत होकर जब कोई जोव एक प्रकृति का बंध करता है तब पहला अवक्तव्य बन्ध होता है तथा ग्यारहवें गुणस्थान में मरण करके कोई जीव अनुत्तर देवों में जन्म लेकर यदि मनुष्यगति योग्य तीस प्रकृति का बन्ध करता है तब दूसरा अवक्तव्य बन्ध होता है और मनुष्यगति योग्य उनतीस प्रकृति का बन्ध करता है तो तीसरा अवक्तव्य बन्ध होता है । इस प्रकार तीन अवक्तव्य बन्ध होते हैं ।^१

इस प्रकार से गाथा के तीन चरणों में नामकर्म के बंधस्थानों और उनमें भूयस्कर आदि बंधों का निर्देश करके शेष कर्मों के बंधस्थानों को बतलाने हेतु गाथा के चौथे चरण में संकेत दिया है कि 'सेसेसु य ठाणमिक्किक्क' शेष पांच कर्मों—ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र, अन्तराय—में एक-एक ही बंधस्थान होता है । क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तराय की पांच-पांच प्रकृतियाँ एक साथ ही बंधती हैं और एक साथ ही रुकती हैं । वेदनीय, आयु, गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियों में भी एक समय में एक-एक प्रकृति का ही बंध होता है । जिससे इन कर्मों में भूयस्कार आदि बंध नहीं होते हैं । क्योंकि जहाँ एक ही प्रकृति का बंध होता है, वहाँ थोड़ी प्रकृतियों को बांधकर अधिक प्रकृतियों को बांधना या अधिक प्रकृतियों को बांधकर थोड़ी प्रकृतियों को बांधना संभव नहीं होता है ।

१ गो० कर्मकांड गा० १६५ से १८२ तक नामकर्म के भूयस्कार आदि बंधों की विस्तार से चर्चा की है । उसमें गुणस्थानों की अपेक्षा से भूयस्कार आदि बंध बतलाये हैं और जितने प्रकृतिक स्थान को बांधकर जितने प्रकृतिक स्थानों का ग्रन्थ संभव है और उन-उन स्थानों में जितने भंग हो सकते हैं, उन सबकी अपेक्षा से भूयस्कार आदि को बतलाया है ।

यह एक सामान्य नियम है किन्तु वेदनीय के सिवाय शेष चार कर्मों में अवक्तव्य और अवस्थित बंध होते हैं। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, अंतराय और गोत्र कर्म का बंध न करके जब कोई जीव वहां से च्युत होता है और नीचे के गुणस्थान में आकर पुनः उन कर्मों का बंध करता है तब प्रथम समय में अवक्तव्य बंध होता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बंध होता है तथा त्रिभाग में जब आयु कर्म का बंध होता है तब प्रथम समय में अवक्तव्य बंध होता है और द्वितीय आदि समयों में अवस्थित बंध होता है। किन्तु वेदनीय कर्म में केवल अवस्थित बंध ही होता है, अवक्तव्य बंध नहीं। क्योंकि वेदनीय कर्म का अबन्ध अयोगि-केवली गुणस्थान में होता है, किन्तु वहां से गिरकर जीव के नीचे के गुणस्थान में नहीं आने के कारण पुनः बंध नहीं होता है।

इस प्रकार से कर्मों की बंध-योग्य १२० उत्तर प्रकृतियों में बंध-स्थानों और उनके भूयस्कर आदि बंधों को बतलाया गया है। जिनका कोष्टक पृष्ठ ११६ पर दिया गया है। प्रकृतिबंध का वर्णन करने के बाद अब आगे की गाथाओं में स्थितिबंध का वर्णन करते हैं।

मूल कर्मों का उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध

बीसयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे ।
 तीसयर चउसु उदहो निरयसुराज्जमि तित्तीसा ॥२६॥
 मुसुं अकसायठिइं बार मुहुत्ता जहण वेयणिए ।
 अट्ठठ नामगोएसु सेसएसु मुहुत्ततो ॥२७॥

शब्दार्थ—बीस—बीस, अयरकोडिकोडी—कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, नामे—नामकर्म की, गोए—गोत्रकर्म की, य—और सत्तरी—सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, मोहे—मोहनीयकर्म की,

**आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान तथा भूयस्कार
आदि बन्धों का कोष्टक**

आठ कर्म	ज्ञानावरण	वशनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
उत्तर प्रकृति	५	६	२	२६	४	६७	२	५
कितने बंधस्थान	१	३	१	१०	१	८	१	१
कितनी प्रकृतियों का बंधस्थान	५	६, ६, ४	१	२२, २१ १७, १३, ६, ५, ४, ३, २, १	१	२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३०, १.	१	१
भूयस्कार बंध	०	२	०	६	०	६	०	०
अत्यंतर बंध	०	२	०	८	०	७	०	०
अवस्थित बंध	१	३	१	१०	१	३	१	१
अवक्तव्य बंध	१	२	०	२	१	३	१	१

तीस—तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, द्यरचउसु—शेष चार कर्मों की, उदही—सागरोपम, निरयपुराउंमि—नारक और देवों की आयु, तित्तोसा—तेतीस सागरोपम :

मुत्त—छोड़कर, अकसाय—अकषायी की, ठिइं—स्थिति, बार मुहुत्ता—बारह मुहूर्त, जहन्न—जघन्य, वेयणिए—वेदनीय कर्म की, अट्टट्ट—आठ-आठ मुहूर्त, नामगोएसु—नाम और गोत्र कर्म की, सेमएमु—शेष पांच कर्मों की, मुहुत्तंतो—अन्तमुहूर्त ।

गाथार्थ—नाम और गोत्र-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम होती है । मोहनीय कर्म की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम, बाकी के चार कर्मों की तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा नारक और देवों की आयु तेतीस सागरोपम है ।

अकषायी को छोड़कर (अकषायी की) वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है । नाम और गोत्र कर्म की आठ-आठ मुहूर्त तथा शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्त-मुहूर्त प्रमाण होती है ।

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओं में आठ मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई है । नामक्रम से कर्मों की स्थिति न बतलाकर एक जैसी स्थिति वाले कर्मों को एक साथ लेकर उनकी स्थिति का प्रमाण कहा है । जैसे कि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति बराबर है तो उनको एक साथ लेकर कहा है कि 'वीसयरकोडिकोड़ी नामे गोए' नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । 'तीसयर चउसु उदही' चार कर्मों की स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । लेकिन इन चार कर्मों के नामों का गाथा में संकेत नहीं है । क्योंकि नाम और गोत्र की स्थिति अलग से बतला दी

गई है और मोहनीय कर्म की स्थिति 'सत्तरी मोहे' पद से कि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है तथा 'निरयसुराजंमि तित्तीसा' पद द्वारा आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम बतला दी है। अतः इन नाम, गोत्र, मोहनीय और आयु कर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय, इन चार कर्मों की स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम समझना चाहिए।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बाद उनकी जघन्य स्थिति बतलाने के लिये कहा है 'बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए' वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, 'अट्टु नाम गोएसु' नाम और गोत्र कर्म की आठ-आठ मुहूर्त तथा इन वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अंतराय इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त प्रमाण है—सेसएसुं मुहुत्तंतो।

उक्त कथन का सारांश यह है कि धातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा अघातिकर्म वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, आयु की तेतीस सागरोपम और नाम व गोत्र की स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ^१ तथा जघन्य स्थिति क्रमशः इस प्रकार है कि—

१ (क) तीस कोड़ाकोड़ी तिघादित्तियेसु बीस नामदुगे ।

सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेतीसं ॥

—गो० कर्मकांड १२७

(ख) आदित्तिसुणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटिकोट्यः परा स्थितिः । सप्ततिमोहनीयस्य । नामगोत्रयोर्विंशतिः । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ।

—तत्त्वार्थसूत्र ८ । १५, १६, १७, १८

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय की अंतर्मुहूर्त, वेदनीय की बारह मुहूर्त, आयु की अन्तर्मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त है ।^१

स्थितिबन्ध का मुख्य कारण कषाय है । कषायोदयजन्य संक्लिष्ट परिणामों की तीव्रता होने पर उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है और कषाय परिणामों के मंद होने पर जघन्य स्थिति का बन्ध होता है तथा मध्यम परिणामों द्वारा अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) स्थिति का बन्ध होता है ।

यद्यपि प्रकृतिबन्ध के पश्चात् उसके स्वामी का वर्णन करना चाहिये था लेकिन बंधस्वामित्व की टीका में उसका विस्तार से वर्णन किये जाने के कारण पुनरावृत्ति न करके यहां स्थितिबन्ध को बतलाया है ।

बन्ध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ ठहरा रहता है, वह उसका स्थितिबन्ध कहलाता है । कर्म बंधने के बाद ही तत्काल अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते हैं और न एक साथ ही एक समय में अपना पूरा फल दे देते हैं । किन्तु यथासमय फल देना प्रारम्भ करके अपनी शक्ति को क्रम से नष्ट करते हैं । इस बंधने के समय से लेकर निर्जोर्ण होने के समय तक कर्मों की आत्मा के साथ संबद्ध रहने की अधिकतम और न्यूनतम कालमर्यादा को बतलाने के लिए स्थितिबन्ध का कथन किया जाता है । अधिकतम

१ (क) वारस य वेदणीये णामे गोदे य अद्व य मुहुत्ता ।

अिष्णमुहुत्त तृ ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥

— गो० कर्मकांड १३६

(ख) अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । नामगोत्रयोरष्टौ । शेषाणा-
मस्तमुहूर्तम् ।

— तत्त्वार्थसूत्र ८ । १६, २०, २१

कालमर्यादा को उत्कृष्ट स्थिति और न्यूनतम कालमर्यादा को जघन्य स्थिति कहते हैं। ऊपर कही गई दोनों गाथाओं में जानावरण आदि आठ कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई है। इस उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के बीच जीवों की अध्यवसाययोग्यता से मध्यम स्थितियों के अनेक प्रकार हो जाते हैं।

जानावरण आदि आठ कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वह इतनी अधिक है कि संख्या प्रमाणके द्वारा उसका बतलाना अशक्य-सा है, अतः उसे उपमा प्रमाण के एक भेद सागरोपम द्वारा बतलाया गया है तथा एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो राशि आती है उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं। आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की कोड़ाकोड़ी सागरोपमों के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है।

आयुकर्म ही एक ऐसा कर्म है जिसकी स्थिति कोड़ाकोड़ी सागरोपम में नहीं किन्तु सिर्फ सागरोपम में बताई है। साथ ही आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के बारे में यह भी विशेषता रखी है कि उसके दो भेदों—नरकायु और देवायु की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी गई है। इसका कारण यह है कि मूल आयुकर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वही उत्कृष्ट स्थिति नरकायु और देवायु की भी है। अतः ग्रन्थलाघव की दृष्टि से मूल आयुकर्म को उत्कृष्ट स्थिति को अलग से न बतलाकर दो उत्तर प्रकृतियों के द्वारा उसकी तथा उसकी दो उत्तर प्रकृतियों की भी उत्कृष्ट स्थिति बतला दी है।

कषायों का उदय दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक ही होता है, अतः वहाँ तक कर्मों के स्थितिबन्ध की स्थिति है और दसवें गुणस्थान तक के जीव सकषाय और ग्यारहवें से चौदहवें—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सधोमिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान तक के जीव अकषाय कहे जाते हैं। आठ कर्मों में से एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है जो

अकषाय जीवों को भी बंधता है और शेष सात कर्म केवल सकषाय जीवों को बंधते हैं । अकषाय जीवों को जो वेदनीय कर्म का बन्ध होता है, उसकी केवल दो समय की स्थिति होती है, पहले समय में उसका बन्ध होता है और दूसरे समय में उसका वेदन होकर निर्जरा हो जाती है । अतः कर्मों की जघन्य स्थिति बतलाने के प्रसंग में वेदनीय कर्म की जो बारह मुहूर्त की जघन्य स्थिति बतलाई वह 'मुत्तु अकसायठिई' अकषाय जीवों को छोड़कर सकषाय जीवों की समझना चाहिये । अर्थात् सकषाय वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त^१ है और अकषाय वेदनीय की दो मुहूर्त ।

आगे उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से कर्मों के अबाधाकाल (अनुदयकाल) का कथन किया जायेगा । अतः उसके अनुसार मूल प्रकृतियों का भी अबाधाकाल समझना चाहिये । यानी शानावरण, दशंगीवरण, वेदनीय और अन्तर्जय कर्म का तीन हजार वर्ष, मोहनीय का सात हजार वर्ष, नाम तथा गोत्र कर्म का दो हजार वर्ष एवं आयु कर्म का अन्तर्मुहूर्त और पूर्व कोड़ी का तीसरा भाग । स्थिति में से अबाधाकाल को कम करने पर जो काल बाकी रहे उसे निषेककाल (भोग्यकाल) जानना चाहिये । अबाधाकाल यानी दलिकों की रचना से रहित काल । जिस समय जितनी स्थिति वाला जो कर्म आत्मा बाँधता है और उसके भाग में जितनी कर्मवर्गणायें आती हैं, वे वर्गणायें उतने समय पर्यन्त नियत फल दे सकने के लिये अपनी रचना करती हैं । प्रारम्भ के कुछ स्थानों में वे रचना नहीं करती हैं । इसी को अबाधाकाल कहते हैं । अबाधाकाल के बाद के पहले स्थान में अधिक, दूसरे में उससे कम, तीसरे में दूसरे से कम, इस प्रकार स्थितिवन्ध के चरम समय तक भोगने के लिये की गई कर्मदलिकों की रचना को निषेक कहा जाता है ।

१ उत्तराख्ययन में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी कही है ।

अबाधाकाल का ऐसा नियम है कि जघन्य स्थिति बन्ध में अन्त-मुहूर्त का अबाधाकाल, समयाधिक जघन्य स्थितिबन्ध से लेकर पत्योपम के असंख्य भागाधिक स्थिति बांधने के, समय तक समयाधिक अन्तमुहूर्त तथा उसकी अपेक्षा समयाधिक बन्ध से लेकर दूसरे पत्योपम का असंख्यातवां भाग पूर्ण होने तक दो समय अधिक अन्तमुहूर्त का अबाधाकाल होता है। इस प्रकार पत्योपम के असंख्यातवें भागाधिक बंध में समय-समय का अबाधाकाल बढ़ाते जाने पर पूर्ण कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के बंध में भी वर्ष का अबाधाकाल होता है। यानी उतने काल के जितने समय होते हैं, उतने स्थानों में दालकों की रचना नहीं होती है।

इस प्रकार से मूल कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाने के पश्चात् अब उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

विग्धावरणअसाए तीस अठार सुहुमविगलतिगे ।

पहमागिइसंघयणे वस दुसुवरिमेसु दुगबुद्धी ॥२८॥

शब्दार्थ—विग्धावरणअसाए—पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातावेदनीय कर्म की, तीस—तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, अठार - अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम, सुहुमविगलतिगे—सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक में, पहमागिइसंघयणे—प्रथम संस्थान और प्रथम संहनन में, वस - दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, दुसु—दोनों में, उवरिमेसु—उत्तर के संस्थान और संहननों में, दुगबुद्धी—दो-दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम की वृद्धि।

गण्यार्थ—पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। नामकर्म के भेद सूक्ष्मत्रिक और

विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है । पहले संस्थान और पहले संहनन की दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम और आगे के प्रत्येक संस्थान और संहनन की स्थिति में दो-दो सागरोपम की वृद्धि जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों की एवं असाता वेदनीय और नामकर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि उनकी स्थिति मूल प्रकृतियों की स्थिति से अलग नहीं है किन्तु उत्तर प्रकृतियों की स्थिति में से जो स्थिति सबसे अधिक होती है, वही मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मान ली गई है । इसी-लिये उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बतलाते हुए कहा है कि—

‘विग्धावरणअसाए तीस’ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की क्रमशः पांच, नौ और पांच तथा असाता वेदनीय, इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मूल कर्म प्रकृतियों के बराबर तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है ।^१ लेकिन नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में अधिक विषमता है, अतः उसकी उत्तर प्रकृतियों की नामोल्लेख सहित अलग-अलग स्थिति बतलाई है ।

नामकर्म की सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण तथा विकल-त्रिकद्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अठारह सागर है—अठार सौहस्रविमलतिगे । संस्थान और संहनन नामकर्म के भेदों में से प्रथम संस्थान—समचतुरस्र संस्थान और प्रथम संहनन—वज्रऋषभनाराच संहनन की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ा-

कोड़ी सागरोपम है—‘पढमार्गिदसंघयणे दस’ तथा इनके सिवाय दूसरे से लेकर छठे संस्थान और दूसरे से लेकर छठे संहनन तक प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार दो-दो सागरोपम की अधिक है—‘दुसुवरिमेसु दुगवुड्ढी’ अर्थात् दूसरे संस्थान और दूसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, तीसरे संस्थान और तीसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, इसी प्रकार चौथे की सोलह, पांचवें की अठारह और छठे की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जो नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति है।

संस्थान और संहनन के भेदों की उत्कृष्ट स्थिति की इस प्रकार की क्रम वृद्धि होने का कारण कषाय की हीनाधिकता है। जब जीव के भाव अधिक संक्लिष्ट होते हैं तब स्थितिवंध भी अधिक होता है और जब कम संक्लिष्ट होते हैं तब स्थितिवंध भी कम होता है इसीलिये प्रशस्त प्रकृतियों की स्थिति कम और अप्रशस्त प्रकृतियों की स्थिति अधिक होती है। क्योंकि उनका बंध प्रशस्त परिणाम वाले जीव के ही होता है।

चालीस कसाएसुं मिउलहुनिद्धुहसुरहसियमहुरे।

दस वोसद्धसमहिया ते हलिद्दुबिलाईणं ॥२६॥

शब्दार्थ—चालीस—चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, कसा-
एसुं—कषायों की, मिउलहुनिद्धु—भृदु, लघु, स्निग्ध स्पर्श, उष्ण
सुरहि—उष्ण स्पर्श, सुरभिगंध को, सियमहुरे—स्वेनवर्ण और मधुर
रस की, दस—दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, दोसद्धसमहिया—दोई
कोड़ा-कोड़ी सागरोपम अधिक, ते—वे (दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम),
हलिद्दुबिलाईणं—पीत वर्ण, अम्ल रस आदि।

गाथाय—कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है। मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पर्श, सुरभि गंध, श्वेत वर्ण और मधुर रस की दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है और इन दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम में कोई कोड़ाकोड़ी सागरोपम साधिक स्थिति पीत वर्ण और अम्ल रस आदि को समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्र मोहनीय के भेद सोलह कषायों और नामकर्म की कुछ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। जो इस प्रकार है कि 'चालीस'कसाएसुं' यानी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।^१

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों में से मृदु स्पर्श, लघु स्पर्श, स्निग्ध स्पर्श, उष्ण स्पर्श, सुरभि गंध, श्वेत वर्ण और मधुर रस इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है तथा शेष रहे वर्ण चतुष्क के भेदों में से प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रस की स्थिति इस दस कोड़ाकोड़ा सागरोपम से ढाई कोड़ाकोड़ी सागरोपम अधिक-अधिक है। अर्थात् पीत वर्ण और अम्ल रस नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। रक्त वर्ण और कषाय रस की स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम, नील वर्ण और कटुक रस की

१ चरित्तमोहे य चत्तालं ।

साडे सत्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा कृष्ण वर्ण और तिक्त रस की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

दस सुहविहगई उच्चै सुरदुग धिरछक्क पुरिसरइहासे ।

मिच्छे सत्तरि मण्डुगइत्थीसाएसु पन्तरस ॥३०॥

शब्दार्थ—दस—दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, सुहविहगइ-उच्चै—शुभ विहायोगति और उच्चगोत्र, सुरदुग--देवद्विक, धिर-छक्क—स्थिरषट्क, पुरिस—पुरुषवेद, रइहासे--रति और हास्य मोहनीय, मिच्छे--मिथ्यात्व की, सत्तरि--सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम, मण्डुगइत्थीसाएसु—मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातावेदनीय की, पन्तरस—पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम ।

गाथार्थ—शुभ विहायोगति, उच्चगोत्र, देवद्विक, स्थिर-षट्क, पुरुषवेद, रति और हास्य मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है । मिथ्यात्व मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता-वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है ।

विशेषार्थ—गाथा में विशेषकर दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली तथा पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति

१ यद्यपि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इस वर्णचतुष्क को उसके भेदों के बिना ही बन्ध में ग्रहण किया गया है, अतः कर्मप्रकृति आदि में वर्णचतुष्क की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है । इसीलिये कर्मप्रकृति में वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की स्थिति नहीं बतलाई है किन्तु पंच-संग्रह में बतलाई है—

सुषिकलसुरभीमहुराण दस उ सह सुभ चउण्ह फासाण ।

अइहाइजपवुइडी

अंबिलहासिदुपुव्वाण ॥२४०॥

वाली कर्म प्रकृतियों के नाम बतलाने के साथ मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की भी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कर्म प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मोहनीयकर्म—पुरुषवेद, रति मोहनीय, हास्य मोहनीय ।

(२) नामकर्म—शुभ विहायोगति, देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) स्थिरपट्क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति) ।

(३) गोत्रकर्म—उच्चगोत्र ।

पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली कर्म प्रकृतियों के नाम यह हैं—

(१) वेषनीय—साता वेदनीय ।

(२) मोहनीय—स्त्री वेद ।

(३) नामकर्म—मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी) ।^१

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

भयकुच्छभ्ररइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयवुगनीए ।

तेयपण अथिरछक्के तसचउथावरइगर्णिवी ॥३१॥

नपुकुखगइसासधउगुक्कवखडरुक्खसीयवुग्गंधे ।

वीस कोडाकोडो एवइयावाह वाससया ॥३२॥

शब्दार्थ—भयकुच्छभ्ररइसोए—भय, जुगुप्सा, अरति और शोक मोहनीय की, विउव्वितिरिउरलनिरयवुगनीए—वैक्यद्विक, तियेव्वद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और नीच गोत्र की, तेयपण—

तैजस पंचक की, अस्थिरषट्क—अस्थिरषट्क की, तसचउ—तस-
चतुष्क की, धावरहगणितो—स्वावर, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की,
नपु—नपुंसक वेद की, कुखगह—अशुभ विहायोगति की, सासचउ
—उच्छ्वास चतुष्क की, गुरुकषखरुखसीय—गुरु, कर्कश, रुक्ष और
शीत स्पर्श की, दुर्गंधे—दुरभिगंध की, बीस—बीस, कोड़ाकोड़ी
—कोड़ाकोड़ी सागरोपम, एवइया—इतनी, अबाह—अबाधा,
वाससया—सौ वर्ष ।

गाथार्थ—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक मोहनीय की,
वैक्रियद्विक, तिर्यन्चद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक और
नीच मोह की तथा तैजस पंचक, अस्थिरषट्क, तसचतुष्क,
स्वावर, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति की तथा—

नपुंसक वेद, अशुभविहायोगति, उच्छ्वास चतुष्क, गुरु, कर्कश,
रुक्ष और शीत स्पर्श की और दुरभिगंध की उत्कृष्ट स्थिति
बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । जिस कर्म की जितनी-जितनी
उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उस कर्म की उतने ही सौ वर्ष
प्रमाण अबाधा जानना चाहिये ।

बिबेधार्थ—इन दो गाथाओं में बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की
उत्कृष्ट स्थिति वाली बयालीस कर्म प्रकृतियों की संख्या बतलाते हुए
प्रकृतियों के अबाधाकाल का संकेत किया है । बीस कोड़ाकोड़ी साग-
रोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाली अधिकतर नामकर्म की उत्तर
प्रकृतियां हैं ।

सूल कर्म के नाम पूर्वक उन उत्तर प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस
प्रकार हैं—

(१) मोहनीयकर्म—भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, नपुंसक वेद ।

(२) नामकर्म—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तिर्यचगति,

तियैचानुपूर्वो, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वो, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उप-
धात, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, तम,
बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, अशुभ
विहायोगति, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, पराघात, गुरु, कठोर, रुध्र,
शीत स्पर्श दुर्गन्ध ।

(३) गोत्रकर्म—नीच गोत्र ।

आहारक बंधन और आहारक संधातन को छोड़कर शेष औदा-
रिक बंधन और संधातन आदि की स्थिति भी अपने-अपने शरीर की
स्थिति जितनी होती है । अतः उनकी भी स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी
सागरोपम की समझना चाहिए ।

इस प्रकार से बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से आहारक-
द्विक, तीर्थकर और आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ, कुल सात प्रकृतियों
को छोड़कर एक सौ तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई
है । ग्रन्थलाघव की दृष्टि से गाथा में एक सौ तेरह प्रकृतियों के
अवाधाकाल का भी संकेत किया है कि जिस कर्म की जितने कोड़ा-
कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उस प्रकृति का उतने सौ
वर्ष का अवाधाकाल होता है । जैसे कि पाँच अंतराय, पाँच ज्ञाना-
वरण, नौ दर्शनावरण और असाता वेदनीय इन बीस प्रकृतियों का
उत्कृष्ट स्थितिबंध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है तो उनका उत्कृष्ट
अवाधाकाल भी तीस सौ अर्थात् तीन हजार वर्ष समझना चाहिए ।

बंधने के बाद जब तक कर्म उदय में नहीं आता है तब तक के
काल को अवाधाकाल कहते हैं । कर्मों की उपमा मादक द्रव्य से दी
जाती है । मदिरा के समान आत्मा पर असर डालने वाले कर्म की
जितनी अधिक स्थिति होती है, उतने ही अधिक समय तक वह
कर्म बंधने के बाद बिना फल दिये ही आत्मा सह साथ संबद्ध रहता है,

जो उसका अबाधाकाल कहलाता है। इस अबाधाकाल में कर्म विपाक के उन्मुख होता है और अबाधाकाल बीतने पर अपना फल देना प्रारम्भ कर उस समय तक फल देता रहता है जब तक उसकी स्थिति का बन्ध है। इसीलिये यन्त्रकार ने अबाधाकाल का अनुपात बतलाया है कि जिन कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, उम कर्म की उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधाकाल समझना चाहिये।

इसका सारांश यह है कि एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। अर्थात् आज किसी जीव ने एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाला कर्म बांधा है तो वह आज से सौ वर्ष बाद उदय में आवेगा और तब तक उदय में आता रहेगा जब तक एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल समाप्त नहीं हो जाना है।

अभी तक जिन कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है और शेष रही जिन प्रकृतियों की आगे स्थिति बतलाने वाले हैं, उसमें अबाधाकाल भी सम्मिलित है। इसलिये स्थिति के दो भेद हो जाते हैं—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा और अनुभवयोग्या। बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का परिमाण कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति है और अबाधाकाल रहित स्थिति का नाम अनुभवयोग्या स्थिति कहलाता है। यहाँ जो कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, वह कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति सहित है और अनुभवयोग्या स्थिति को जानने के लिये पहली कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति में से अबाधाकाल कम कर देना चाहिये,^१ जो इस प्रकार है—

१ इह द्विधा स्थितिः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणमेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणमिदम्-वगन्त्वव्यम् । अनुभवयोग्या पुनरबाधाकाल हीना ।

पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण और नौ दर्शनावरण कर्मों में से प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की तथा एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में एक सौ वर्ष का अबाधाकाल होने का संकेत पहले कर आये हैं । अतः उनका अबाधाकाल 30×900 तीन हजार वर्ष होता है । इसी प्रकार इसी अनुपात में अन्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार उन-उनका उत्कृष्ट अबाधाकाल समझना चाहिये कि सूक्ष्मद्रव्य और विकलद्रव्य का अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष, समचतुरस्र संस्थान और वज्रशृषभनाराच संहनन का अबाधाकाल एक हजार वर्ष, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान और शृषभनाराच संहनन का अबाधाकाल बारह सौ वर्ष, स्वाति संस्थान और नाराच संहनन का अबाधाकाल चौदह सौ वर्ष, कुब्ज संस्थान और अर्धनाराच संहनन का अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष, वामन संस्थान और कीलिक संहनन का अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष, हुण्ड संस्थान और सेवार्त संहनन का अबाधाकाल दो हजार वर्ष, अनंतानुबन्धी क्रोध आदि सोलह कपायों का अबाधाकाल चार हजार वर्ष, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पर्श, सुगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुर रस का एक हजार वर्ष, पीत वर्ण और अम्ल रस का अबाधाकाल साढ़े बारह सौ वर्ष, रक्त वर्ण और कषाय रस का पन्द्रह सौ वर्ष, नील वर्ण और कटुक रस का साढ़े सत्रह सौ वर्ष, कृष्ण वर्ण और तिक्त रस का दो हजार वर्ष, शुभ विहायोगति, उच्च गोत्र, देवद्विक, स्थिरषट्क, पुरुष वेद, हास्य और रति का एक हजार वर्ष, मिथ्यात्व का सात हजार वर्ष, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद, साता वेदनीय का अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यञ्चद्विक, औदारिकद्विक, नरकद्विक, नीच गोत्र, तैजस-पंचक, अस्थिरषट्क, तसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नपुंसक वेद, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वासचतुष्क, गुरु, कर्कश, रुक्ष, शीतस्पर्श और दुर्गन्ध का अबाधाकाल दो हजार वर्ष का जानना चाहिए ।

इस प्रकार से एक सौ तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध और उस स्थिति के अनुपात से उनका अबाधाकाल बतलाने के पश्चात् अब आगे नामकर्म की आहारकद्विक, तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध व अबाधाकाल का कथन करते हैं ।

गुह कोडिकोडिअंतो तिस्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।

सहुठिइ संखगुण्णा नरतिरियाणाउ पत्ततिगं ॥३३॥

शब्दार्थ—गुह—उत्कृष्ट स्थिति, कोडिकोडिअंतो—अंतः कोडाकोड़ी सागरोपम, तिस्थाहाराण—तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की, भिन्नमुहु—अन्तर्मुहूर्त, बाहा—अबाधाकाल, सहुठि—जघन्यस्थिति, संखगुण्णा—संख्यातगुण हीन, नरतिरियाणाउ—मनुष्य और तीर्थं, आउ—आयु, पत्ततिगं—तीन पत्योपम ।

गाथाार्थ—तीर्थंकर और आहारकद्विक नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोड़ी सागरोपम और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है । जघन्यस्थिति संख्यात गुणहीन अंतःकोडाकोड़ी सागरोपम होती है । मनुष्य और तीर्थं आयु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्योपम है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में तीर्थंकर और आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग की उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति तथा अबाधाकाल बतलाने के साथ आयु कर्म के मनुष्य व तीर्थं आयु इन दो भेदों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ।

तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का कथन ग्रन्थलाघव की दृष्टि से एक साथ कर दिया है कि इन तीनों

प्रकृतियों की दोनों स्थितियाँ सामान्य से अन्तःकोड़ाकोड़ी^१ सागरोपम हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि उत्कृष्ट स्थिति से जघन्य स्थिति का परिमाण संख्यात गुणहीन यानी संख्यातवें भाग प्रमाण है। इसी प्रकार उनका उत्कृष्ट और जघन्य अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त ही है और स्थिति की तरह उत्कृष्ट अबाधा से जघन्य अबाधाकाल भी संख्यात गुणहीन है। इस प्रकार इन तीन कर्मों की स्थिति (उत्कृष्ट व जघन्य) अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समझना चाहिए।

यहाँ जो तीर्थकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाई, वह स्थिति अनिकाचित तीर्थकर और आहारकद्विक की बतलाई है। निकाचित तीर्थकर नाम और आहारकद्विक की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर के संख्यातवें भाग से लेकर तीर्थकर नामकर्म की स्थिति तो कुछ कम दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागर है और आहारकद्विक की पत्य के असंख्यातवें भाग है।^२

तीर्थकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम बताये जाने पर जिज्ञासु प्रश्न प्रस्तुत करता है कि जब तीर्थकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम

१ कुछ कम कोड़ाकोड़ी को अन्तःकोड़ाकोड़ी कहते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि तीनों कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम है।

२ अन्तो कोड़ाकोड़ी तित्थयराहार तीए सखाओ।

तेतीस पत्तिथ संखं निकाइयाणं तु उक्कोसा ॥ — पंचसंग्रह ५।४२

३ गो० कर्मकांड गाथा १५७ की भाषा टीका में अन्तःकोड़ाकोड़ी का प्रमाण इस प्रकार बताया है कि एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति की अबाधा सौ वर्ष बताई है। इस सौ वर्ष के स्थूल रूप से दस लाख अस्सी (शेष अगले पृष्ठ पर)

है तब तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला जीव तिर्य्यचगति में जाये बिना नहीं रह सकता है । तिर्य्यचगति में भ्रमण किये बिना इतनी लम्बी स्थिति पूर्ण नहीं होती है । क्योंकि पंचेन्द्रिय पर्याय का काल कुछ अधिक एक हजार सागर और त्रसकाय का काल कुछ अधिक दो हजार सागर बतलाया है ।^१ अतः इससे अधिक समय तक न कोई जीव लगातार पंचेन्द्रिय पर्याय में जन्म ले सकता है और न त्रसकाय में ही और अन्नःकोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति का बंध करके जीव इतने लम्बे काल को केवल नारक, मनुष्य और देव पर्याय में जन्म लेकर पूरा नहीं कर सकता है, इसलिये उसे तिर्य्यचगति में अवश्य जाना पड़ेगा ।^२

दूसरी बात यह है कि तिर्य्यचगति में जीवों के तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का निषेध किया है, अतः इतने काल को कहां पूर्ण करेगा और तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध

हजार मुहूर्त होते हैं । जब इतने मुहूर्त अबाधा एक कोड़ाकोड़ी सागर को है तब एक मुहूर्त अबाधा कितनी स्थिति की होगी ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर एक कोड़ाकोड़ी में दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त का भाग देने पर ६२५६२३६२ $\frac{१}{४८}$ लब्ध आता है । इतने सागर प्रमाण स्थिति की एक मुहूर्त अबाधा होती है, यानी एक मुहूर्त अबाधा इतने सागर प्रमाण स्थिति की है । इसी हिसाब से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अबाधा वाले कर्म की स्थिति जानना चाहिये ।

१. एगिदिमाण जंता दोष्णि सहस्सा तसाण कामठिई ।

अयरान इग पणिदिमृ नरतिरियाणं सगट्ठ भवा ॥ — पंचसंग्रह २।४६

२. अंतो कोडाकोड़ी ठिईए वि कहं न होइ नित्थपरे ।

संने किलियकालं निग्गिओ अह होइ उ विरोहो ॥

— पंचसंग्रह ५।४३

होना बताया है।^१ जिससे अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में यह भी कैसे संभव है ?

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि तिर्य्यगति में जो तीर्थंकर नामकर्म का निषेध किया है, वह निकाचित तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से किया है अर्थात् जो तीर्थंकर नामकर्म अवश्य अनुभव में आता है, उसी का तिर्य्यगति में अभाव बताया है, किंतु जिसमें उद्बर्तन, अपवर्तन हो सकता है, उस तीर्थंकर प्रकृति के अस्तित्व का निषेध तिर्य्यगति में नहीं किया है।^२ इसी प्रकार तीर्थंकर के भव से पूर्व के तीसरे भव में जो तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कथन है, वह भी निकाचित तीर्थंकर प्रकृति की अपेक्षा से किया गया है।^३ जो तीर्थंकर प्रकृति निकाचित^४ नहीं है यानी उद्बर्तन^५ अपवर्तन^६ हो सकता है, वह तीन भव से भी पहले बांधी जा सकती है।

सिद्धान्त में जो तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का तिर्य्यगति में निषेध किया है, वह तीसरे भव में होने वाली मुनिकाचित तीर्थंकर

१. जं, वज्जइत्ति तं तु भगवओ तइयभवोसक्कइत्ताणं ।

—आवश्यक निर्युक्ति १८०

२. अमिहं निकाइयत्तित्थं तिरियमवे सं निसेहियं संते ।

इयरेमि नत्थि दोसो उवट्ठणुवट्ठणासज्जे ॥

—पञ्चसंग्रह ५।४४

३. जं वज्जइत्ति मणिय तत्थ निकाइज्ज इत्ति गियमोयं ।

तदवज्जकलं नियमा भयणा अणिकाइआवत्थे ॥

—जिनप्रदग्नि क्षमाथमण, विशेषणवती टीका

४. जिन कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उद्बर्तन, अपवर्तन, ये चारों ही अवस्थायें न हो सकें, उसे निकाचित कहते हैं।

५. कर्मों की स्थिति और अनुभाग के बढ़ जाने को उद्बर्तन कहते हैं।

६. बढ़ कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष में कमी कर देना अपवर्तन है।

नामकर्म की सत्ता की अपेक्षा से कहा है, न कि सामान्य सत्ता की अपेक्षा से। इसलिए अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहने पर भी जीव का चारों परितो में जाने से किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति अतः कोड़ाकोड़ी सागरोपम और तीर्थंकर के भव से पहले के तीसरे भव में जो उसका बंध होना कहा है, वह इस प्रकार समझना चाहिए कि तीसरे भव में उद्वर्तन, अपवर्तन के द्वारा उस स्थिति को तीन भवों के योग्य कर लिया जाता है। यद्यपि तीन भवों में तो कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति पूर्ण नहीं हो सकती है अतः अपवर्तन-करण के द्वारा उस स्थिति का ह्रास कर दिया जाता है। शास्त्रों में जो तीसरे भव में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का विधान किया है, वह निकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये समझना चाहिये यानी निकाचित प्रकृति अपना फल अवश्य दे देती है, किन्तु अनिकाचित तीर्थंकर प्रकृति के लिये कोई नियम नहीं है। वह तीसरे भव से पहले भी बंध सकती है।

नरकायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति पहले बतला आये हैं, अतः यहां मनुष्यायु और तिर्यंचायु को उत्कृष्ट स्थित बताई है कि 'नरतिरियाणाञ्च पल्लतिगं' मनुष्य और तिर्यंचायु तीन पल्ल की है। आयुर्कर्म की स्थिति के बारे में यह विशेष जानना चाहिये कि भव-स्थिति की अपेक्षा से उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रमाण बतलाया जाता है कि कोई भी जीव जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट कितने काल तक जी सकता है।

१. नृस्थितौ परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । तिर्यग्योनीनां च ।

—सरवार्थसूत्र ३।१७.१८

अब आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के बारे में कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हुए अबाधाकाल बताते हैं ।

इगविगलपुव्वकोडि पलियासंखस आउचउ अमणा ।

निरुवकमाण छमासा अबाह सेसाण भवतंसो ॥३४॥

शब्दार्थ—इगविगल—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय, पुव्वकोडि—

पूर्व कोड़ी वर्ष की आयु, पलियासंखस—पल्योपम का असंख्यात भाग, आउचउ—चारों आयु, अमणा—असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, निरुवकमाण—निरुपक्रम आयु वाले के, छमासा—छह माह, अबाह—अबाधाकाल, सेसाण बाकी के (संख्यात वर्ष की तथा सोपक्रम आयु वाले के) भवतंसो—भव का तीसरा भाग ।

भावार्थ—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय पूर्व कोटि वर्ष की आयु और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त चारों आयुओं को पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी आयु बाँधते हैं । निरुपक्रम आयु वाले को छह माह का तथा शेष जीवों (संख्यात वर्ष की व सोपक्रम आयु वाले) के भव का तीसरा भाग जितना अबाधाकाल होता है ।

विशेषार्थ—मनुष्य और तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु सामान्य से तीन पल्य की बतलाई है, लेकिन विशेष की अपेक्षा उनमें से कुछ तिर्यच-गति के जीवों की उत्कृष्ट आयु तथा आयुकर्म की स्थिति का अबाधाकाल गाथा में स्पष्ट किया गया है ।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तक जीवों का अलग से उत्कृष्ट आयु स्थितिबंध बतलाने का कारण यह है कि पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थितिबंध केवल पर्याप्त संज्ञी जीव ही कर सकते हैं, अतः वह स्थिति पर्याप्त संज्ञी जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिए । लेकिन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी उक्त उत्कृष्ट स्थिति में से कितना

स्थितिबन्ध करके हैं और अक्षयधाम का नियम क्या है ? को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि 'इगधिगलपुष्पकोटि' एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व^१ कोटि प्रमाण बाँधते हैं तथा असंजी पर्याप्तक जीव चारों ही आयु कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पत्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण—पलियासंख्यं आउचउ अमणा ।

एकेन्द्रिय आदि जीवों के आयुकर्म के उक्त उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होने का कारण यह कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरण करके तिर्यचगति या मनुष्यगति में ही जन्म लेते हैं । वे मर कर देव या नारक नहीं हो सकते हैं तथा तिर्यच और मनुष्यों में भी कर्मभूमिजों में ही जन्म लेते हैं, भोगभूमिजों में नहीं । जिससे वे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व कोटि प्रमाण बाँधते हैं । असंजी पंचेन्द्रिय जीव मरण करके चारों ही गतियों में उत्पन्न हो सकता है, जिससे वह चारों में से किसी भी आयु का बंध कर सकता है । लेकिन यह नियम है कि मनुष्यों में कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है, तिर्यचों में कर्मभूमिज तिर्यच ही होता है, देवों में भवनवासी और व्यंतर ही होता है तथा नारकों में पहले नरक के तीन पाथड़ों तक ही जन्म लेता है । अतः उसके पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही आयुकर्म का बंध होता है ।^२

१ पूर्व का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

पुष्पस्र ३ परिमाणं सयरी खलु होति सयसहस्राष्टं ।

प्रपणं च सहस्रा बोद्धव्यं वासकोटीणं ।

—सर्वाधिसिद्धि से उद्धृत

—मत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है ।

२ शो० कर्मकाण्ड भा० ५३८ से ५४३ तक में किस गति के जीव मरण करके (अगले पृष्ठ पर देखें)

आयुर्कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की अबाधा का संकेत पूर्व में किया जा चुका है कि एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। लेकिन यह अनुपात आयुर्कर्म की अबाधा स्थिति पर लागू नहीं होता है।^१ इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का बंध तो सर्वदा होता रहता है। किन्तु आयुर्कर्म का बंध अमुक-अमुक काल में ही होता है। इसलिए आयुर्कर्म के अबाधाकाल का अलग से संकेत किया गया है कि—निरुक्कमाण छमासा—निरुक्कमाण आयु वाले अर्थात् जिनकी आयु का अपवर्तन, घात नहीं होता ऐसे देव, तारक और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यचों के आयुर्कर्म की अबाधा छह मास होती है तथा शेष मनुष्य और तिर्यचों के आयुर्कर्म की अबाधा अपनी-अपनी आयु के तीसरे भाग प्रमाण है—अबाह सेसाण भवतंसो।

गति के अनुसार आयुबंध के अमुक-अमुक काल निम्न प्रकार हैं—मनुष्यगति और तिर्यचगति में जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं तब परभव की आयुबंध का काल उपस्थित होता है।

किस-किस गति में जन्म लेते हैं, का स्पष्टीकरण किया गया है। तिर्यचों के सम्बन्ध में लिखा है—

तेजदुगं तेरिच्छे सेसेणअपुण्णवियत्तया य तहा।

तित्थूणणरेवि तहाऽसणी घम्मे य देवदुगे ॥५४८॥

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरण करके तिर्यच गति में और मनुष्य गति में हो जन्म लेते हैं। किन्तु तीर्थंकर वगैरह नहीं हो सकते हैं तथा असंजी पंचेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त तिर्यच और मनुष्य गति में तथा घर्मा नाम के पहले नरक में और देवद्विक यानी भवनवासी और व्यंत्तर देवों में उत्पन्न होते हैं।

- १ आउत्तस य आवाहा ण द्विदिपडिभागमाउत्तम। —गो० कर्मकांड १५८
जैसे अन्य कर्मों में स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार अबाधा का प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुर्कर्म में नहीं निकाला जाता है।

जैसे कि यदि किसी मनुष्य की आयु ६८ वर्ष है तो उसमें से ६६ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बाँध सकता है, उससे पहले उसके आयुकर्म का बंध नहीं हो सकता है। इसलिये मनुष्यों और तिर्यचों के बध्यमान आयुकर्म का अबाधाकाल एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग बनलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यच की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है और उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है।

कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यचों की अपेक्षा से आयुकर्म को अबाधा की उक्त व्यवस्था है, लेकिन भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यचों तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। क्योंकि ये अनपवर्त्य आयु वाले हैं, इनका अकाल मरण नहीं होता है।^१ इसी से निरूपक्रम आयु वालों के बध्यमान आयु का अबाधाकाल छह मास बतलाया है।

आयुकर्म की अबाधा के संबंध में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि पूर्व में जो सात कर्मों की स्थिति बतलाई है उसमें उनका अबाधाकाल भी संमिलित है। जैसे कि मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बतलाई है और उसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष है, तो ये सात हजार वर्ष उस सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति में संमिलित हैं। अतः जब मिथ्यात्व मोहनीय की अबाधारहित स्थिति (अनुभवयोग्या) को जानना चाहें तो उसकी अबाधा के सात हजार वर्ष कम कर देना चाहिए। किन्तु

१ ओपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।

—तत्प्राथम्यसूत्र २।५२

-- ओपपातिक (नारक और देव), चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असंख्यात वर्ष जीवी, ये अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं।

आयुर्कर्म की स्थिति में यह बात नहीं है। आयुर्कर्म की तीसरी सागर, तीन पत्य, पत्य का असंख्यातवां भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, वह शुद्ध स्थिति है, उसमें अबाधाकाल संमिलित नहीं है। इस अन्तर का कारण यह है कि अन्य कर्मों की अबाधा स्थिति के अनुपात पर अवलंबित है जिससे वह सुनिश्चित है किन्तु आयुर्कर्म की अबाधा सुनिश्चित नहीं है। क्योंकि आयु के विभाग में भी आयुर्कर्म का बंध अवश्यंभावी नहीं है। विभाग के भी विभाग करते-करते आठ विभाग पड़ते हैं। उनमें भी यदि आयु का बंध न हो तो मरण में अन्तर्मुहूर्त पहले अवश्य हो आयु का बंध हो जाता है। इसी अनिश्चितता के कारण आयुर्कर्म की स्थिति में उसका अबाधाकाल संमिलित नहीं किया गया है।

परभव संबंधी आयुबंध के संबंध में संग्रहणी सूत्र में भी इसी बात को स्पष्ट किया है—

बंधंति देवनाराय असंख्यनरतिरि छमाससेसाऊ ।

परभवियाऊ सेसा निदवकमतिभागमेसाऊ ॥३०१॥

सोखकमाउरा पुण सेसतिभागे अहव नवमभागे ।

सत्तावीस इमेवा अंतमुहूर्तंतिमेवावि ॥३०२॥

देव, नारक और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यच छह मास की आयु वाली रहने पर और शेष निरूपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु का विभाग बाकी रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। सोपक्रम आयु वाले जीव अपनी आयु के विभाग में अथवा नौवें भाग में अथवा सत्ताईसवें भाग में परभव की आयु बांधते हैं। यदि इन विभागों में भी आयु बंध नहीं कर पाते हैं तो अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में

परभव की आयु का बंध करते हैं ।^१

१ गो० कर्मकांड में भी आयुबंध के संबंध में सामान्यतया यही विचार प्रगट किये हैं किन्तु देव, नारक और भोगभूमिजों की छह माह प्रमाण अबाधा को लेकर उसमें मतभेद है कि छह मास में आयु का बंध नहीं होता किन्तु उसके त्रिभाग में आयुबंध होता है और वत्त त्रिभाग में भी यदि आयु न बंधे तो छह मास के तीनों भाग में आयु बंध होता है। इसका साराण यह है कि जैसे कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों में अपनी-अपनी पूरी आयु के त्रिभाग में परभव की आयु का बंध होता है, वैसे ही देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचों के छह माह के त्रिभाग में आयुबंध होता है : दिग्भ्रम संशय में वाचस्पत्यः यही मत धारण है। भोगभूमिजों को लेकर मतभेद है। किन्हीं का मत है कि उनमें तो मास आयु खोप रहने पर उसके त्रिभाग में परभव की आयु का बंध होता है। इसके विवाय एक मतभेद यह भी है कि यदि आठों त्रिभागों में आयु बंध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रह जाने पर परभव की आयु नियम से बंध जाती है। यह सर्वमान्य मत है किन्तु किन्हीं-किन्हीं के मत से अनुभूयमान आयु का काश आर्वाजिका के असंख्यातवै भाग प्रमाण बाकी रहने पर परभव की आयु का बंध नियम से होता है।

गो० कर्मकांड में शा० १२८ से १३३ तक कर्मग्रन्थ के समान ही उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध का कथन किया है। लेकिन एक बात उल्लेखनीय है कि उसमें वर्णादि चतुष्क की स्थिति बीसकोड़ाकोड़ी सागरोपम की बतलाई है और कर्मग्रन्थ में उसके अवान्तर भेदों को लेकर दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम से लेकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक बताई है। इस अन्तर का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में चतुस्रह के आधार से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के अवान्तर भेदों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया है। वैसे तो बंध की अपेक्षा से वर्णादि चार ही हैं। स्वोपज्ञ टीका में ग्रंथकार ने स्वयं इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति और अबाधाकाल को बतलाकर अब आगे उनकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं ।

लहृठिइबंधं सजलणलोहपणविघनाणदंसेसु ।

मिन्नमुहुत्तं ते अद्द जसुच्चं बारस य साए ॥३५॥

शब्दार्थ—लहृठिइबंधो—जघन्य स्थितिबन्ध, सजलणलोह—संज्व-
जन लोभ, पणविघ्न—पांच अन्तराय, नाणदंसेसु—ज्ञानावरण और
दर्शनावरण का, भिन्नमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त, ते—वह, अद्द—आठ मुहूर्त,
जसुच्चं—यशःकीर्ति और उच्च गोत्र का, बारस—बारह मुहूर्त, य—
और, साए—साता वेदनीय का ।

गाथार्थ—संज्वलन लोभ, पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण और
चार दर्शनावरण का जघन्य स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त है । यशः-
कीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र का आठ मुहूर्त तथा साता
वेदनीय का बारह मुहूर्त जघन्य स्थितिबंध है ।

विशेषार्थ—पूर्व में कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बतलाया
जा चुका है । इस गाथा से उनके जघन्य स्थितिबंध का कथन प्रारंभ
करते हैं । इस गाथा में जिन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध के प्रमाण
का निर्देश किया है, उनमें धाती कर्मों की पन्द्रह और अघाती कर्मों की
तीन प्रकृतियाँ हैं । विभागानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं—

धाती—मतिज्ञानावरण आदि पांच ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण
आदि चार दर्शनावरण, संज्वलन लोभ, दानान्तराय आदि पांच
अन्तराय ।

अघाती—यशःकीर्ति नामकर्म, उच्चगोत्र, साता वेदनीय ।

जघन्यस्थितिबंध के सम्बन्ध में यह सामान्य नियम है कि यह स्थिति-
बंध अपने-अपने बंधविच्छेद के समय होता है । अर्थात् जब उन प्रकृ-
तियों का अन्त आता है, तभी उक्त जघन्य स्थितिबंध होता है ।

संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबंध नौवें गुणस्थान में और पांच अंतराय, पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का बंधविच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है तथा यशःकीर्ति नामकर्म व उन्मूलन का भी बंधविच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। नभी उनका जघन्य स्थितिबंध समझना चाहिये। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा नाम, गोत्र का जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण है। साता वेदनीय की जघन्य स्थिति जो बारह मुहूर्त बताई है वह जघन्य स्थिति सक-
पाय जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि यह पहले बतलाया जा चुका है कि अकपाय जीवों की अपेक्षा से तो उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में उसकी जघन्य स्थिति दो समय है। साता वेदनीय की बारह मुहूर्त की जघन्य स्थिति दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है।

दो इगमासो पक्षो संजलनतिगे पुमट्टवरिसाणि ।

सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तट्ठीइ जं लद्धं ॥३६॥

शब्दार्थ—दो इगमासो—दो मास और एक मास, पक्षो—पक्ष (पञ्चवाडा), संजलनतिगे—संज्वलनत्रिक की पुं-पुरुषवेद, अट्ट-आठ, वरिसाणि वर्ष, सेसाण-शेष प्रकृतियों की, उक्कोसाओ—अपनी उत्कृष्ट स्थिति में, मिच्छत्तट्ठीइ—मिथ्यात्व की स्थिति का भाग देने से, जं—जो, लद्धं—लब्ध प्राप्त हो।

शाब्दार्थ—संज्वलनत्रिक की जघन्य स्थिति क्रम से दो मास, एक मास और एक पक्ष है। पुरुष वेद की आठ वर्ष तथा शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति के द्वारा भाग देने पर प्राप्त लब्ध के बराबर है।

विशेषार्थ—इस गाथा में चार प्रकृतियों की तो निश्चित जघन्य स्थिति व शेष की जघन्य स्थिति जानने के लिये सूत्र का संकेत किया है।

गाथा में चार प्रकृतियों के नाम इस प्रकार बताये हैं—संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और पुरुष वेद, इनका जघन्य स्थितिबंध क्रमशः दो मास, एक मास, एक पक्ष (पन्द्रह दिन) और आठ वर्ष है। यह जघन्य स्थितिबंध अपनी-अपनी बंधव्युच्छिन्ति के काल में होता है और इनका बंधविच्छेद नौवें गुणस्थान में होता है।

शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति जानने के लिये ग्रन्थकार ने एक नियम बतलाया है कि उन-उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति जो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है, का भाग देने पर प्राप्त लब्ध उनकी जघन्य स्थिति है। जघन्य स्थिति को बतलाने वाला यह नियम ८५ प्रकृतियों पर लागू होता है। क्योंकि तीर्थंकर और आहारकविक तथा पूर्व गाथा में निदिष्ट अठारह प्रकृतियों व इस गाथा में बताई चार प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का कथन किया जा चुका है तथा चार आयु व वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का कथन आगे किया जा रहा है। अतः बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में में ३, १८, ४, ४, ६ = ३५ प्रकृतियों को कम करने पर ८५ प्रकृतियां शेष रहती हैं। जिनकी जघन्य स्थिति इस प्रकार है—

त्रिधापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति $\frac{1}{3}$ सागर, मिथ्यात्व की एक सागर, अनंतानुबंधी क्रोध आदि वारह कषायों की $\frac{1}{3}$ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यविक की $\frac{1}{3}$ सागर ($\frac{1}{3}$ के ऊपर नीचे के अंकों को ५ से काटने से), सूक्ष्मविक, विकलविक $\frac{1}{3}$ ($\frac{1}{3}$ को २ के अंक से काटने से), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, शुभ विहायोगति, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, सुगन्ध, शुक्लवर्ण, मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की $\frac{1}{3}$ सागर तथा

शेष शुभ और अशुभ वर्णादि चतुष्क की $\frac{1}{2}$ सागर, दूसरे संस्थान और संहनन की $\frac{1}{4}$ सागर, तीसरे संस्थान और संहनन की $\frac{1}{8}$ सागर, चौथे संस्थान और संहनन की $\frac{1}{16}$ सागर, पांचवें संस्थान और संहनन की $\frac{1}{32}$ सागर और शेष प्रकृतियों की $\frac{1}{64}$ सागर जघन्य स्थिति समझना चाहिये ।

इन ८५ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव ही कर सकते हैं । इन जघन्य स्थितियों में पत्न्य का असंख्यातवां भाग बढ़ा देने पर एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना चाहिये ।^१

गाथा के उत्तरार्ध—सेमाणुक्कोसाओ मिच्छन्त तिईइ जं लद्धं का उक्त विवेचन पंचसंग्रह के अनुसार किया गया है । लेकिन कर्मप्रकृति ग्रन्थ के अनुसार इसका विवेचन निम्न प्रकार से होगा—

‘उक्कोसाओ’ का अर्थ उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति न लेकर वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति ग्रहण करना चाहिये । जैसे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों का समुदाय ज्ञानावरण वर्ग कहा जाता है । चक्षु-दर्शनावरण आदि प्रकृतियों का समुदाय दर्शनावरण वर्ग है । साता वेदनीय आदि प्रकृतियों का वर्ग वेदनीय वर्ग है । दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृतियों का समुदाय दर्शनमोहनीय वर्ग है । कषाय मोहनीय की प्रकृतियों का समुदाय कषाय मोहनीय वर्ग, नोकषाय मोहनीय

१ दश अवस्था में वर्णादि चार लिये जाते हैं, उनके भेद नहीं, तथा उनकी उत्कृष्ट स्थिति जीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम होती है । अतः चारों की जघन्य स्थिति सामान्य से $\frac{1}{2}$ सागर की समझना चाहिये । वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदों की स्थिति पंचसंग्रह के अनुसार बताई है ।

२ आ एगिदि जहन्ता पस्लासंखंस संजुया सा उ ।

तेसि जेदठा । —पंचसंग्रह ५।५४

३ सजातीय प्रकृतियों के समुदाय को वर्ग कहते हैं ।

की प्रकृतियों का समुदाय नोकषाय मोहनोय वर्ग, नामकर्म की प्रकृतियों का समुदाय नामकर्म का वर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियों का समुदाय गोत्रकर्म वर्ग और अन्तरायकर्म की प्रकृतियों का समुदाय अन्तरायकर्म वर्ग कहलायेगा ।

इस प्रकार के प्रत्येक वर्ग की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं और उस स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सागर कोड़ाकोड़ी सागरोपम का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमें से पत्य का असंख्यातवां भाग कम कर देने पर उस वर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ज्ञात हो जाती है ।

ऐसा करने का कारण यह है कि एक ही वर्ग की विभिन्न प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में बहुत अन्तर देखा जाता है । जैसे कि वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है लेकिन उसके ही भेद सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति उससे आधी अर्थात् पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बताई । पंचसंग्रह के विवेचनानुसार साता वेदनीय की जघन्य स्थिति मालूम करने के लिये उसकी उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देना चाहिये और कर्मप्रकृति के अनुसार साता वेदनीय के वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में पत्य के असंख्यातवें भाग को कम करना चाहिये ।^१

१. दग्गुक्कोसठिईणं मिच्छत्तुक्कोसणेण जं लब्ध ।

सेसाणं तु जहन्ना पल्लसखिज्जभागूणा । —कर्मप्रकृति ७१
अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमें पत्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है ।

इसके अनुसार दर्शनावरण और वेदनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर का भाग देने पर जो $\frac{1}{3}$ लब्ध आता है उसमें पत्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर मिद्रापंचक और असाता वेदनीय की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। दर्शनमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर प्राप्त लब्ध एक सागर में पत्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति होती है। कषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध के $\frac{1}{2}$ सागर में से पत्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर अनन्तानुबंधी क्रोधादि द्वारह कषायों की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। नोकषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध $\frac{2}{3}$ सागर में से पत्य का असंख्यातवां भाग कम करने पर पुरुष वेद के सिवाय शेष आठ नोकषायों की जघन्य स्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्ग की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में से पत्य का असंख्यातवां भाग कम कर देने पर वैक्रियषट्क, आहारकट्टिक, तीर्थंकर, यशःकीर्ति को छोड़कर नामकर्म की शेष सत्तावन प्रकृतियों और नीच-गोत्र की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है।

यहां पर जो ८५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाई है, उसमें कर्मप्रकृति की विवेचना के अनुरूप पत्य के असंख्यातवें भाग को कम करने का संकेत इस गाथा में नहीं किया गया है, लेकिन आगे की गाथा में 'पलियात्तंखंसहीण लहुबंधो' पद दिया है। जिसका अर्थ है पत्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव को उन-उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति होती है। अतः कर्मप्रकृति के अनुसार

कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति की विवेचना करने में आगे की गाथा के उक्त पद की अनुवृत्ति कर लेने पर किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं रहती है। क्योंकि यह पहले संकेत कर आये हैं कि जघन्य स्थिति का बंध एकेन्द्रिय जीव करते हैं।

कुछ एक प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियों की सामान्य से जघन्य स्थिति बतलाकर अब एकेन्द्रिय आदि जीवों के योग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाते हैं।

अयमुक्कोसो गिदिसु पलियासंखंसहोण लहुबंधो ।

कमसो पणवीसाए पन्नासपसहस्ससंगुणिओ ॥३७॥

विगलिअसन्निमु जिदुओ कणिदुउ पल्लसंलभागूणो ।

सुरनरयाउ समावससहस्स सेसाउ खुड्डभव ॥३८॥

शब्दार्थ—अयं यह (पूर्वोक्त रीति में बनाया गया),

उक्कोसो—उत्कृष्ट स्थितिबंध, गिदिसु—एकेन्द्रिय का, पलियासंखंसहोण - पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन, लहुबंधो—जघन्यस्थितिबंध, कमसो—अनुक्रम से, पणवीसाए—एकवीस से पचास से, सप—सौ से, सहस्स हजार से, संगुणिओ गुणा करने पर।

विगलिअसन्निमु—विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का, जिदुओ—उत्कृष्ट स्थितिबंध, कणिदुउ—जघन्य स्थितिबंध, पल्लसंलभागूणो—पल्योपम के संख्यातवें भाग को कम करने से, सुरनरयाउ - देवायु और नरकायु की, समा वर्ष, वससहस्स—दस हजार, सेसाउ - शक्ती की आयु की, खुड्डभव—क्षुद्रभव।

गाथायं - एकेन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त स्थितिबंध उत्कृष्ट और जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम समझना

१. जघन्य स्थितिबंध के संबंध में विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

चाहिए तथा अनुक्रम से पच्चीस, पचास, सौ, हजार में गुणा करने पर —

विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध होता है तथा जघन्य स्थितिबंध पत्योपम का संख्यातवां भाग न्यून है। देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा शेष आयुओं की क्षुद्रभव प्रमाण है।

विशेषार्थ—पूर्व की गाथाओं में उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति सामान्य से बतलाई है। लेकिन इन दो गाथाओं में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को अपेक्षा उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाने के साथ-साथ आयुक्रम के चारों भेदों की जघन्य स्थिति भी बतलाई है।

पूर्व गाथा में शेष ८५ प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध को बतलाने के लिये उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति या उनके वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने का जो विधान किया गया है, उसी को एकेन्द्रिय जीवों के उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध को निकालने के लिये भी काम में लाया जाता है। तदनुसार विवक्षित प्रकृतियों की पूर्व में बताई गई उत्कृष्ट स्थितियों में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जितना लब्ध आता है, उतना ही एकेन्द्रिय जीव के उस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जैसे कि पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अंतराय और अमातावेदनीय, इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है तो इसको मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्ति लब्ध $\frac{1}{3}$ सागर प्रमाण का उत्कृष्ट स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव का होगा। कर्मप्रकृति के मंतव्यानुसार इनके वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोहनीय

की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध के बराबर समझना चाहिए । जैसे कि पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय और पाँच अंतराय के वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है । उसमें मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम का भाग देने पर प्राप्त लब्ध है एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण होगा । इस प्रकार से दोनों की कथन शैली में भिन्नता होने पर भी मूल आशय समान है ।

इसी क्रम से अन्य प्रकृतियों की स्थिति निकालने पर मिथ्यात्व की एक सागर, सोलह कषायों की है सागर, नौ भोक्तृत्वों की है सागर, वैक्रियषट्क^१, आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम को छोड़कर एकेन्द्रिय

१ एकेन्द्रियादिक जीवों के वैक्रियषट्क का बंध नहीं होता है । उसकी प्रमाण व उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई है किन्तु असंख्य पंचेन्द्रिय को उसका बंध होता है । अतः उसकी अपेक्षा पंचसग्रह में वैक्रियषट्क की निम्न प्रकार से जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है—

वेदस्वच्छिकित्तं सहस्रताडियं जं अमग्निणो तेसि ।

पलियासंखंसूणं ठिई अबहूणियनिसेणो ॥

—पंचसंग्रह ५.४६

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यात्व की स्थिति द्वारा भाग देने पर जो लब्ध आये उसको हजार से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल में से पत्तोपम का असंख्यातवां भाग न्यून वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति है । अत्राधाकास न्यून तिषेक काल है ।

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है । यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि नरकद्विक, वैक्रियद्विक की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की और देवद्विक की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाई है, तथापि यहाँ उसकी जघन्य स्थिति बतलाने के लिए बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण लिया गया है । यह स्पष्टीकरण टीका में किया गया है ।

के बंध योग्य नामकर्म की ५५ प्रकृतियों और दोनों गोत्रों की ३ सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आती है ।

एकेन्द्रिय के इस उत्कृष्ट स्थितिबंध में से पत्य का असंख्यातवां भाग कम कर देते पर एकेन्द्रिय जीव के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण होगा पलियासंख्सहीण लहुबंधो । अर्थात् जो विभिन्न प्रकृतियों की ३ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितियां बतलाई हैं, उनमें से पत्य का असंख्यातवां भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के लिए वही उस प्रकृति की जघन्य स्थिति हो जाती है ।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय की अपेक्षा से स्थितिबंध का परिमाण बतलाने के पश्चात् अब विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के लिये उसका परिमाण बतलाते हैं ।

एकेन्द्रिय जीव के जो ३ सागर आदि उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, उसको पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रिय का, पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रिय का, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रिय का और हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का उत्कृष्ट स्थितिबंध का परिमाण होता है । इसका अर्थ यह है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों का स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव के स्थितिबंध की अपेक्षा पच्चीस, पचास गुणा आदि अधिक है । जैसे एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर है तो द्वीन्द्रिय जीव के उसकी उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर बंधती है । अन्य प्रकृतियों के लिये भी इसी अपेक्षा को समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार त्रीन्द्रिय के लिए जानना चाहिये कि एकेन्द्रिय जीव की मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है तो उससे पचास गुणी यानी पचास सागर प्रमाण बंधती है । अन्य प्रकृतियों के स्थितिबंध के बारे में भी इसी नियम का उपयोग करना चाहिए । चतुरिन्द्रिय जीव के लिए एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति में सौ का

गुणा तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय के लिये हजार का गुणा करना चाहिए । इसका जो गुणनफल प्राप्त हो वह उन-उन जीवों की उस-उस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति होगी ।

द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जो उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, उसमें से पत्य का संख्यातवां भाग कम कर देने पर उनका अपना-अपना जघन्य स्थितिबंध होता है ।^१ इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के स्थितिबंध का प्रमाण समझना चाहिये ।

१ कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकांड में भी एकेन्द्रिय आदि जीवों के स्थिति-बंध का प्रमाण बतलाया है । उसकी कथन प्रणाली इस प्रकार है—

एयं पणकश्चि पणं सयं सहस्रं च मिच्छवरबंधो ।

इगविगलाणं अवरं पलासंख्यसंख्य ॥१४४॥

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय चतुष्क (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय) जीवों के मिध्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध क्रमशः एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण है तथा उसका जघन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय के पत्य के असंख्यातवें भागहीन एक सागर प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय जीवों के पत्य के संख्यातवें भाग हीन अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण होता है ।

ऊचि सत्तरिस्स एत्थिमेत्तं किं होचि तीसियादीणं ।

इचि संपाते सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिबी ॥१४५॥

यदि सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाला मिध्यात्व कर्म एकेन्द्रिय जीव एक सागर प्रमाण बांधता है तो तीस कोड़ाकोड़ी सागर आदि की स्थिति वाले बाकी कर्मों को एकेन्द्रिय जीव किमती स्थिति प्रमाण बांध सकता है ? इस प्रकार त्रैराशिक विधि करने से एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति ३ सागर प्रमाण होती है, इस प्रकार दोनों स्थितियां त्रैराशिक के द्वारा निकल आती हैं ।

आयुर्कर्म की उत्तर प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध इस प्रकार समझना चाहिये कि 'सुरनरयाउ समादससहस्स' देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है तथा देवायु व नरकायु के सिवाय शेष दो आयुओं—तिर्यंचायु, मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है। आगमों में जो मनुष्यायु और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाई है, उसका यहाँ बतलाये गये क्षुद्रभव प्रमाण से कोई विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त के बहुत से भेद हैं, उनमें से यहाँ क्षुद्रभव प्रमाण अन्तर्मुहूर्त लेना चाहिये। अन्तर्मुहूर्त ५ लिखकर उसके छोड़-छोड़ परिमाण का मूलक क्षुद्रभव लिखा है। क्षुद्रभव का निरूपण आगे किया जा रहा है।

उन प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का कथन करके अब जघन्य अबाधा तथा तीर्थकर व आहारकद्विक के जघन्य स्थितिबंध संबंधी मतान्तर को बतलाते हैं।

सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अवाह आउजिट्ठे वि ।

केइ . सुराउसमं जिणमंतमुहू विति आहारं ॥३६॥

शब्दार्थ—सव्वाण—सब प्रकृतियों की, वि—तथा, लहुबंधे—जघन्य स्थितिबंध की, भिन्नमुहू—अन्तर्मुहूर्त, अवाह—अबाधाकाल, आउजिट्ठे वि—वायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध की भी, केइ—कुछ एक, सुराउसमं—देवायु के समान, जिणं तीर्थकर नामकर्म की, अंत-मुहू—अन्तर्मुहूर्त, विति—कहते हैं, आहारं—आहारकद्विक की।

माध्या—समस्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध की अन्तर्मुहूर्त की अबाधा होती है। आयुर्कर्म के उत्कृष्ट स्थिति-बंध की जघन्य अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। किन्ही

आचार्यों के मत से तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति देवायु की जघन्य स्थिति के समान दस हजार वर्ष की है और आहारकट्टिक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।

विशेषार्थ—गाथा में दो बातों का कथन किया गया है । गाथा के पूर्वार्ध में सभी उत्तर प्रकृतियों का जघन्य अवाधाकाल और उत्तरार्ध में तीर्थंकर व आहारकट्टिक की जघन्य स्थिति का मतान्तर बतलाया है ।

जघन्य स्थितिबंध में जो अवाधाकाल होता है, उसे जघन्य अवाधा और उत्कृष्ट स्थितिबंध में जो अवाधाकाल होता है उसे उत्कृष्ट अवाधा कहते हैं । अतः जघन्य स्थितिबंध में सभी उत्तर प्रकृति के जघन्य स्थितिबंध का अवाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलाया है—“सव्वाणवि लहुबंधे भिन्नमुहू अवाह ।” लेकिन यह नियम आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के अवाधाकाल को बतलाने के लिए लागू होता है । क्योंकि उनकी अवाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है । लेकिन आयुकर्म के बारे में प्रतिभाग की निश्चित निर्णयात्मक स्थिति नहीं है । आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अवाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अवाधा हो सकती है । इसीलिये आयुकर्म की अवाधा में चार विकल्प माने जाते हैं—(१) उत्कृष्ट स्थितिबंध में उत्कृष्ट अवाधा, (२) उत्कृष्ट स्थितिबंध में जघन्य अवाधा, (३) जघन्य स्थितिबंध में उत्कृष्ट अवाधा और (४) जघन्य स्थितिबंध में जघन्य अवाधा । इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है कि जब कोई मनुष्य अपनी पूर्व कोटि की आयु में तीसरा भाग शेष रहने पर तृतीस सागर की आयु बांधता है तब उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अवाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर तृतीस सागर की आयु बांधता

है तब उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। जब कोई मनुष्य एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग शेष रहते परभव की जघन्य स्थिति बांधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हो सकती है, तब जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अबाधा होती है और जब कोई अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बांधता है तब जघन्य स्थिति में जघन्य अबाधा होता है। अतः आधुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

इस प्रकार से कर्मों की स्थिति की अबाधा का स्पष्टीकरण समझना चाहिये। अब दूसरी बात तीर्थंकर नामकर्म व आहारकद्विक की जघन्य स्थितिबंध के मतान्तर पर विचार करते हैं।

ग्रन्थकार ने पूर्व में तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों को जघन्य स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाई है। लेकिन कोई-कोई आचार्य इन तीनों की जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

मुरनारयाडयाणं दसवाससहस्रं सद्यु सत्तिव्याणं ।^१

तीर्थंकर नामकर्म सहित देवायु, नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। यानी तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। तथा—

साए बारस हारसविद्यावरणाण किचूण ।^२

सात्ता वेदनीय की बारह मुहूर्त और आहारक, अंतराय, ज्ञानावरण व दर्शनावरण को कुछ कम मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है।

मतान्तर का उल्लेख करके इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। संभवतः तथाविध परंपरा का अभाव हो जाने से विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है।

पहले तिर्यंचायु और मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव के बराबर बतलाई है, अतः अब दो गाथाओं में क्षुद्रभव का निरूपण करते हैं।

सत्तरससमहिंया किर इगणुपाणुंमि हुंति खुड्डभवा ।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥४०॥
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा ।
आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥

शब्दार्थ — सत्तरस—सत्रह, समहिंया—कुछ अधिक, किर—निश्चय से, इगणुपाणुंमि—एक श्वासोच्छ्वास में, हुंति—होते हैं, खुड्डभवा—क्षुल्लक भव, सगतीससयत्तिहुत्तर—सैंतीस सौ तिहुत्तर, पाणू—प्राण, श्वासोच्छ्वास, इगमुहुत्तंमि—एक मुहूर्त में।

पणसट्ठिसहस्स—पैंसठ हजार, पणसय—पांच सौ, छत्तीस—छत्तीस, इगमुहुत्त—एक मुहूर्त में, खुड्डभवा—क्षुद्रभव, आवलियाणं—आवलिका, दोसय—दो सौ, छप्पन्ना—छप्पन, एगखुड्डभवे—एक क्षुद्रभव में।

गाथार्थ — एक श्वासोच्छ्वास में निश्चित रूप से कुछ अधिक सत्रह क्षुद्रभव और एक मुहूर्त में सैंतीस सौ तिहुत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं। तथा—

१. पंचसंग्रह में भी उक्त गाथाओं की टीका में मतान्तर का उल्लेख करके विशद विवेचन नहीं किया है। तीर्थंकर नामकर्म का दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थितिबंध पहले नरक में दस हजार वर्ष की आयुबंध सहित जाने वाले जीव की अपेक्षा घटता है।

एक मुहूर्त में पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते हैं और एक क्षुद्रभव में दो सौ छप्पन आवली होती है ।

विशेषार्थ—गाथा में क्षुद्र (क्षुल्लक) भव का स्वरूप बतलाया है । सम्पूर्ण भवों में सब से छोटे भव को क्षुल्लक भव कहते हैं । यह भव निगोदिया जीव के होता है । क्योंकि निगोदिया जीव की स्थिति सब भवों की अपेक्षा अल्प होती है और वह भव मनुष्य व तिर्यंच पर्याय में ही होता है । जिससे मनुष्य और तिर्यंच आयु की जघन्य स्थिति क्षुल्लक भव प्रमाण बतलाई है । क्षुल्लक भव का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए कि—

जैन कालगणना के अनुसार असंख्यात समय की एक आवली होती है । संख्यात आवली का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है । एक निरोग, स्वस्थ, निश्चिन्त, तरुण पुरुष के एकबार श्वास लेने और त्यागने के काल को एक उच्छ्वास काल या श्वासोच्छ्वास काल कहते हैं । सात श्वासोच्छ्वास काल का एक स्तोक होता है । सात स्तोक का एक लव तथा साढ़े अड़तीस लव की एक नाली या घटिका होती है । दो घटिका का एक मुहूर्त होता है ।^१

१ कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो सं तु जाण समयं तु ।
समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सासनिस्सासो ॥
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्तए एक्को ।
पाणो य सत्त थोक्क थोक्कवि य सत्त लवमाहु ॥
अट्ठत्तीसं तु लवा अट्ठलवो चेव नालिया होइ ।

—ज्योतिष्करणक २, ६, १०

काल के अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंश को समय कहते हैं । असंख्यात समय का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है, उसे प्राण भी कहते हैं । सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव, साढ़े अड़तीस लव की एक नाली होती है । दो नाली का एक मुहूर्त होता है—वे नालिया मुहुत्तो ।

इसीलिये एक मुहूर्त में श्वासोच्छ्वासों की संख्या मालूम करने के लिए १ मुहूर्त $\times$ २ घटिका $\times$ ३७ $\frac{1}{2}$ लव ७ स्तोक $\times$ ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करने पर ३७७३ संख्या आती है तथा एक मुहूर्त में एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है, जिससे ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर १७ $\frac{1}{2}$ लब्ध आता है, अतः एक श्वासोच्छ्वास काल में सत्रह से कुछ अधिक क्षुद्र भवों का प्रमाण जानना चाहिये । अर्थात् एक क्षुल्लक भव का काल एक उच्छ्वास-निश्वास काल के कुछ अधिक सत्रहवें भाग प्रमाण होता है और उतने ही समय में दो सौ छप्पन आवली होती हैं ।

आधुनिक कालगणना के अनुसार क्षुल्लक भव के समय का प्रमाण इस प्रकार निकाला जायेगा कि एक मुहूर्त में अड़तालीस मिनट होते हैं

१ दिगम्बर साहित्य में एक श्वासोच्छ्वास काल में १८ क्षुल्लक मत्र माने हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तिष्ठिणमया छत्तीसा छावट्टि सहस्सणाणि मरणाणि ।

अंतोमुहुसकाले तावदिया भव खुद्दभवा ॥ — गो० जीवकोंड १२३

लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ बार मरण कर उतने ही भवों — जन्मों को भी धारण करता है, अतः एक अन्तर्मुहूर्त में उतने ही अर्थात् ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं । इन भवों को क्षुद्रभव इसलिए कहते हैं कि इनसे अल्पस्थिति वाला अन्य कोई भी भव नहीं पाया जाता है । इन भवों में से प्रत्येक का कालप्रमाण श्वास का अठारहवां भाग है । फलतः त्रैराशिक के अनुसार ६६३३६ भवों के श्वासों का प्रमाण ३६८५ $\frac{1}{2}$ होता है । इतने उच्छ्वासों के समूह प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में पृथ्वी-कायिक से लेकर पंचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के क्षुद्र भव ६६३३६ हो जाते हैं । ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है तथा इन ६६३३६ भवों में से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६० चतुरिन्द्रिय के ४०, पंचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्रभव होते हैं ।

यानी एक मुहूर्त ४८ मिनट के बराबर होता है और एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अतः ३७७३ में ४८ से भाग देने पर एक मिनट में साढ़े अठहत्तर के लगभग श्वासोच्छ्वास आते हैं, अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास का काल एक सेकिण्ड से भी कम होता है और उतने काल में निगोदिया जीव सत्रह से भी कुछ अधिक बार जन्म धारण करता है। इससे क्षुल्लक भव की क्षुद्रता का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

क्षुल्लक भव की इसी सूक्ष्मता को गायत्रि में स्पष्ट किया गया है कि क्षुल्लक भव का समय एक श्वासोच्छ्वास के सत्रह से भी कुछ अधिक अंशों में से एक अंश है।

इस प्रकार से वैक्लिगन्तक के सिवाय शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध और सभी प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का निरूपण करके अब आगे उनके उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

अविरयसम्भो तित्थं आहारबुगामराउ य पमत्तो ।

मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठिई सेसपयडोणं ॥४२॥

शब्दार्थ—अविरयसम्भो अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तित्थं—तीर्थंकर नामकर्म को, आहारबुगं—आहारकद्विक, अमराउ—देवायु को, य—और पमत्तो—प्रमत्तविरति, मिच्छद्दिट्ठी—मिथ्यादृष्टि, बंधइ—बांधता है, जिट्ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, सेसपयडोणं—शेष प्रकृतियों की।

वाक्यार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म के, प्रमत्तविरति आहारकद्विक और देवायु के और मिथ्या-दृष्टि शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध को करता है।

विशेषार्थ—गाथा में उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों का कथन किया गया है कि बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से किस प्रकृति का कौन उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है ।

सर्वप्रथम तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी का संकेत करते हुए कहा है कि—‘अविरतसम्मो तित्थं’ अविरत सम्यग्-दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी है । इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी मनुष्य है । इसका कारण यह है, कि यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बंध चौथे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश से ही बंधती है और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के बंधकों में से उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के हाता है जो अविरत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व ग्रहण करने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बंध कर लेता है और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है, वह मनुष्य जब नरक में जाने का समय आता है तो सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व को अंगीकार करता है । जिस समय में वह सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व को अंगीकार करता है, उससे पहले समय में उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है ।

देवगति और नरकगति में तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो होता है किन्तु वहां तीर्थंकर प्रकृति का बंधक चौथे गुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख नहीं होता है और ऐसा हुए बिना तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण उत्कृष्ट संक्लेश नहीं हो सकता । इसीलिए तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध की टीका

मनुष्य का ग्रहण किया तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से पहले जो मनुष्य नरकायु का बंध नहीं करता है वह तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के बाद नरक में उत्पन्न नहीं होता है। अतः वैसे मनुष्य का ग्रहण किया गया जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने से पहले नरकायु बांध लेता है। कोई-कोई क्षणिक सम्यग्दृष्टि जीव (राजा धोणिज जैसे) सम्यक्त्व दशा में भरकर नरक में जा सकते हैं किन्तु विषुद्ध परिणामों के कारण वे जीव तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं कर सकते हैं। अतः तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रकरण में मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ही ग्रहण किया है।

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के संबन्ध में उक्त कथन का सारांश यह है कि यद्यपि चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है किन्तु उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश की आवश्यकता है और तीर्थंकर प्रकृति के बंधक मनुष्य को उत्कृष्ट संक्लेश उसी दशा में हो सकता है जब वह मिथ्यात्व के अभिमुख हो और ऐसा मनुष्य मिथ्यात्व के अभिमुख तभी होता है जब उसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के पहले नरकायु का बंध कर लिया है। बद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब मिथ्यात्व के अभिमुख होता है, उसी समय में उसके तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्षायिक सम्यक्त्व सहित जो नरक में जाता है वह उससे विषुद्धतर है अतः उसका यहां ग्रहण नहीं किया गया है।

१ तथा चोक्तं णतकचूणी— 'तित्थयरनामस्स उषकोसठिहं मणुस्सो अराजभो वेयगसम्महिट्ठी पुब्बं नरगवट्ठात्तगो नरगाभिमुहो भिच्छत्तं पडिबज्जिही इति अंतिमे ठिईयन्धे वट्टमाणो बधइ, तच्चंघंगेसु अइसंकिलिट्ठो त्ति काउ' ।

२ जो सम्मत्तेण खाइयेणं नरगं वच्चई सो तथो विसुद्धपरोत्ति का उ' तम्मि प्राण'कोसो न हवइ त्ति ।'

—पंचसंग्रह प्र० भाग, मत्तधगिरि टीका

एक ना०,

तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी का कथन करने के बाद अब आहारकद्विक और देवायु के बंधस्वामी के बारे में कहते हैं कि—‘आहारदुगामराउ य पमत्तो’—आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी प्रमत्तसंयत मुनि है। यहां प्रमत्तसंयत शब्द द्वयर्थक है। आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रसंग में इसका अर्थ यह है कि अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत हुआ प्रमत्तसंयत मुनि। क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है और उनके बंधक प्रमत्त मुनि के उसी समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत होकर छठे गुणस्थान में आता है। अतः उसके ही इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना चाहिये।^१

देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिबंध से विपरीत स्थिति है। आहारकद्विक के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये उत्कृष्ट संक्लेश की आवश्यकता है। यह उत्कृष्ट संक्लेश प्रमत्त मुनि के उसी समय होता है जब वह अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत

१ (क) तथा ‘आहारकद्विक’ आहारकशरीर-आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं ‘पमुत्तु’ त्ति प्रमत्तसंयतो अप्रमत्तभावान्निवर्तमान इति विशेषो दृश्यः, उत्कृष्ट-स्थितिकं बध्नाति। अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवात्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्तमान एवोत्कृष्ट-संक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थं विधिष्यते। —कर्मग्रन्थ टीका

(ख) आहारकद्विकस्याप्रमत्तयतिः प्रमत्तताभिमुखः।

—कर्मप्रकृति यशोविजयजी कृत टीका

(ग) आहारकद्विकस्यापि योऽप्रमत्तसंयतः प्रमत्तभावाभिमुखः स तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टः इत्युत्कृष्टं स्थितिबंधं करोति।

—पंचसंग्रह ५।६४ की टीका

होकर छोटे प्रमत्त गुणस्थान में आता है, लेकिन देवायु का उत्कृष्ट स्थिति-
बंध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता
है। क्योंकि यह स्थिति शुभ है।^१ अतः इसका बंध विष्णु दशा में ही
होता है और यह विष्णु दशा अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्तसंयत
मुनि के ही होती है।

आहारकद्विक और देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध होने के उक्त
कथनों का सारांश यह है कि आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग
इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख
हुए अप्रमत्तसंयत को होता है। इसके बंधयोग्य अति संविलष्ट
परिणाम उसी समय होते हैं तथा देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का
स्वामी भी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती है किन्तु इतनी विशेषता है कि
प्रमत्त गुणस्थान में आयुबंध को प्रारंभ करके अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
का आरोहण कर रहा हो। यानी आहारकद्विक का बंध सातवें गुण-
स्थान से छोटे गुणस्थान की ओर अवरोहण करने वाले अप्रमत्तसंयत
मुनि को और देवायु का बंध छोटे गुणस्थान में प्रारम्भ करके सातवें
गुणस्थान की ओर आरोहण करने वाले, मुनि को होता है।^२

१ सव्वाण ठिइ असुभा उक्कोसुक्कोससंकिसेसेण ।

इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआसए मोत्तुं ।

—पंचसंग्रह ५। ५

२ (क) आहारकशरीर तथा आहारकअंगोपांग, ए वे प्रकृतिनो उत्कृष्ट
स्थितिबंध प्रमत्तगुणठाणाने सम्मुख थयेत्तो एवो अप्रमत्त यति ते अप्र-
मत्त गुणठाणाने चरमबंधे बांधे । एता बंधक साहे एहिअ अति संविलष्ट
छे । तथा देवताना आयुनो उत्कृष्ट स्थितिबंधस्वामी अप्रमत्त गुणस्थानकवर्ती
माधु जाणवो । पण एतलुं विशेष जे प्रमत्त गुणस्थानके आयुबंध आरंभीने
अप्रमत्ते चहतो साधु बांधे ।

—पंचम कर्मेग्रन्थ दशा

(अगले पृष्ठ पर देखें)

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध विषुद्ध भावों से होने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रमत्त गुणस्थान की बजाय अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही उसका उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाना चाहिए था । क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि से, भले ही वह अप्रमत्त भाव के अभिमुख हो, अप्रमत्त मुनि के भाव विषुद्ध होते हैं ।

इसका समाधान यह है कि अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ नहीं होता है किन्तु प्रमत्त गुणस्थान में प्रारम्भ हुआ देवायु का बंध कभी-कभी अप्रमत्त गुणस्थान में पूर्ण होता है । इसीलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती किन्तु अप्रमत्त संयत गुणस्थान की ओर अभिमुख मुनि को देवायु का बंधक कहा है । द्वितीय कर्मग्रन्थ में छठे, सातवें गुणस्थान में जो बंध प्रकृतियों की संख्या बतलाई है, उससे भी यही आशय निकलता है । छठे, सातवें गुणस्थान की बंध प्रकृतियों की संख्या बतलाने वाली द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथायें इस प्रकार हैं—

तेषद्विंश पमत्तं सोग अरह अविरदुग अजस अस्तायं ।

वृच्छिञ्ज छक्ख सस व नेहं मुराउ जया निट्ठं ॥७॥

गुणसद्विंश अप्रमत्तं मुराउबंधं तु जइ इहाणखे ।

अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगहुग बंधे ॥८॥

(ख) देवाउगं पमत्तो आहारयमपमत्तविरदो दु ।

तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥

—गो० कर्मकांड १३६

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त यति करता है और आहारकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमत्त भाव के अभिमुख अप्रमत्त यति करता है ।

(ग) कर्मप्रकृति स्थितिबंधाधिकार गा० १०२, उपाध्याय यशोविजयजी कृत टीका में भी इसी प्रकार का संकेत है ।

—शेष ६३ प्रकृतियों का बंध प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है। शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असाता इत्यादीय—इन छह प्रकृतियों का बंधविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से और आहारकद्विक का बंध होने से अप्रमत्त संयत गुणस्थान में ५६ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर लेता है तो उसकी अपेक्षा अरति आदि छह प्रकृतियों का तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का बंधविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का बंध माना जाता है।

प्रमत्त मुनि जो देवायु के बंध का प्रारम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थायें होती हैं १—उसी गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ करके उसी गुणस्थान में उसकी समाप्ति कर देते हैं, २—छठे गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ करके सातवें गुणस्थान में उसकी पूर्ति करते हैं। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि अप्रमत्त अवस्था में देवायु के बंध की समाप्ति तो हो सकती है, किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं होता है। इसलिये देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि न होकर अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयमी को बतलाया है।^१

आहारकद्विक, तीर्थंकर और देवायु के सिवाय शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि ही करता है^२—मिच्छाद्विही

१ सर्वार्थसिद्धि में भी देवायु के बंध का प्रारंभ छठे गुणस्थान में बतलाया है—

देवायुबन्धप्रारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यामन्नः ।

२ मन्वृक्कस्मटिदीर्ण मिच्छाद्विही दु बंधयो भणितो ।

आहारं तित्थयं देवायुं वा विमोक्ष्ण ॥

—गो० कर्मकांड १३५

बंधइ जिदुठिई सेसपयडीण । इन शेष ११६ प्रकृतियों का बंधक मिथ्या-दृष्टि को मानने का कारण यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रायः संक्लेश परिणामों से ही होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से^१ और सब बंधकों में मिथ्यादृष्टि के ही विशेष संक्लेश पाया जाता है । किन्तु यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि इन ११६ प्रकृतियों में से मनुष्यायु और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थिति-बंध विशुद्धि से होता है अतः इन दोनों का बंधक संक्लेश परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है ।

प्रश्न—मनुष्यायु का बंध चौथे गुणस्थान तक और तिर्यंचायु का बंध दूसरे गुणस्थान तक होता है । अतः मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थिति-बंध अविरत सम्यग्दृष्टि को और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध सासादन सम्यग्दृष्टि को होना चाहिए, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के परिणाम विशेष शुद्ध होते हैं और तिर्यंचायु व मनुष्यायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिये विशुद्ध परिणामों की आवश्यकता है ।

उत्तर—अविरत सम्यग्दृष्टि के परिणाम मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं हो सकता है । क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्योपम की है । यह उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचों की होती है । लेकिन चौथे गुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायु का बंध करके भी कर्मभूमि में ही जन्म लेते हैं और मनुष्य

१ सव्वट्ठिदीणमुक्कस्मओ दु उक्कस्मसक्खिसेण ।

विचरीदेण जहण्णो आउगनिववज्जियाणं नु ॥

तथा तिर्यंच यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायु का बंध करते हैं। जिससे चौथे गुणस्थान की विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायु के बंध का कारण नहीं हो सकती है।

अब दूसरे सासादन गुणस्थान में तिर्यंचायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध के बारे में विचार करते हैं। दूसरा सासादन गुणस्थान उसी समय होता है जब जीव सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व के अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्व गुण के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यक्त्व गुण से विमुख सासादन सम्यग्दृष्टि के अधिक विशुद्धि नहीं होती है, जिससे तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबंध सासादन सम्यग्दृष्टि को नहीं हो सकता है।

इस प्रकार से तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का तथा मिथ्यादृष्टि को शेष ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने का सामान्य से स्पष्टीकरण करने के बाद अब आगे की गाथा में चार गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव किन-किन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं, यह विस्तार से बतलाते हैं।

विगलसुहृमाउगतिगं तिरिमणुषा सुरविजब्धिनिरयकुग।

एगिदिथावरायव आईसाणा सुरवकोसं ॥४३॥

शब्दार्थ—विगलसुहृमाउगतिगं—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और आयुत्रिक, तिरिमणुषा—तिर्यंच और मनुष्य, सुरविजब्धिनिरयकुगं—देवद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक को, एगिदिथावरायव—एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप नामकर्म, आईसाणा—ईशान तक के, सुर—देव, उवकोसं—उत्कृष्ट स्थितिबंध।

गाथार्थ - मिथ्यात्वी तिर्यंच और मनुष्य विकलेन्द्रिय-त्रिक, सूक्ष्मत्रिक, आयुत्रिक तथा देवद्विक, वैक्रियद्विक और नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हैं। ईशान देवलोक

तक के देव एकेन्द्रिय जाति, स्यावर और अक्षय नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्मी तिर्यचों और मनुष्यों को तथा तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग के देवों को बतलाया है।

तिर्यच और मनुष्यों द्वारा उत्कृष्ट स्थिति का बंध की जाने वाली पन्द्रह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), आयुत्रिक (नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु), देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग), नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी)।

उक्त पन्द्रह प्रकृतियों में से तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष तेरह प्रकृतियों का बंध देवगति और नरकगति में जन्म से ही नहीं होता है तथा मनुष्यायु और तिर्यचायु की उत्कृष्ट स्थिति जो तीन पत्य की है, वह भोगभूमिजों की होती है और नारक, देव मरकर भोगभूमिजों में जन्म ले नहीं सकते हैं। इसीलिये इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मनुष्य और तिर्यचों को बतलाया है।

ईशान स्वर्ग तक के देवों द्वारा निम्नलिखित तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है—एकेन्द्रिय, स्यावर, आतप नामकर्म। क्योंकि ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तो एकेन्द्रिय जाति में जन्म ही नहीं लेते हैं। जिससे एकेन्द्रिय के योग्य उक्त तीन प्रकृतियों का बंध उनके नहीं होता है। मनुष्यों और तिर्यचों के यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं, जिससे उनके एकेन्द्रिय जाति आदि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट

स्थितिबंध नहीं हो सकता है। किन्तु भवन्पति, व्यंतर, ज्योतिष्क और ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। क्योंकि देव मरकर नरक में जन्म नहीं लेते हैं।

इसीलिये विकलत्रिक आदि पञ्च प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति-बंध मनुष्य और तिर्यच गति में तथा एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देवों के बतलाया है। इन अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति-बंध के स्वामियों तथा सभी बंधयोग्य १२० प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों का कथन आगे किया जा रहा है।

तिरिडरलदुगुञ्जोयं क्षिधट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।

आहारजिणमपुखोऽनियट्ठ संजलण पुरिस लहं ॥४४॥

सायजसुच्चावरणा विग्घ सुहुमो विउच्चिच्छ असन्नी ।

सन्नायि आउ बायरपज्जेगिदिउ सेसाणं ॥४५॥

शब्दार्थ — तिरिडरलदुगु—तिर्यचद्विक और औदारिक-द्विक, उञ्जोयं—उद्योत नामकर्म, क्षिधट्ठ—सेवार्तसंहनन, सुर-निरय—देव और नरक, सेस—वाकी की, चउगइया—चारों गति के मिथ्यादृष्टि, आहारजिणं आहारकद्विक और तीर्थकर नाम-कर्म को, अपुखी—अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती, अनियट्ठ—अनिवृत्ति-वादेर संपराय वाला संजलण पुरिस—सज्जलन कषाय और पुरुष वेद का, लहं—जघन्य स्थितिबंध ।

सायजसुच्छ—साता वेदनीय, यशःकीर्ति नामकर्म, उच्च शीघ्र, आवरणा विग्घं ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार और अंतराय पांच, सुहुमो सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, विउच्चिच्छ—वैक्रियधट्क, असन्नी असंजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, सन्नी—संजी, वि

मी, आड—चार आयु को, बायरपञ्जैगिदि—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, उ—और, सेसाण—शेष प्रकृतियों को ।

गाथार्थ—तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, उद्योत नाम, सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यात्वी देव और नारक और बाकी की दस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारों गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ।

आहारकद्विक और तीर्थकर नामकर्म का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा संज्वलन कषाय और पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबंध अनिवृत्तिबादर नामक नौवें गुणस्थान में होता है ।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र, पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में होता है । वैश्रियषट्क का जघन्य स्थितिबंध असंजी पंचेन्द्रिय तिर्यच करता है, चार आयुओं का जघन्य स्थितिबंध संजी और असंजी दोनों ही करते हैं तथा शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव करता है ।

विशेषार्थ—गाथा ४४ के पूर्वार्ध में प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों का तथा उत्तरार्ध में गाथा ४५ में जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का कथन किया गया है ।

पूर्व गाथा में १८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाया था और अब शेष रही ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाते हुए कहते हैं कि तिर्यचद्विक (तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी), औदारिकद्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग), उद्योत नाम और सेवार्त संहनन, इन छह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध देव और नारक करते हैं ।

देव और नारकों के उक्त छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध होने का कारण यह है कि उक्त प्रकृतियों के बंधयोग्य संक्लेश परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्य्यच इन छह प्रकृतियों को अधिक-से-अधिक अठारह सागर प्रमाण ही स्थिति का बंध करते हैं। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते हैं तो इन प्रकृतियों के बंध का अतिक्रमण करके वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों के होने पर भी तिर्य्यचगति के योग्य ही प्रकृतियों का बंध करते हैं, नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि देव और नारक मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं। इसीलिए उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से युक्त देव और नारक ही इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण का बंध करते हैं।

उक्त छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रसंग में इतना विशेष समझना चाहिये कि ईशान स्वर्ग से ऊपर के सनत्कुमार आदि स्वर्गों के देव ही सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं, ईशान स्वर्ग के देव नहीं करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव उनके योग्य संक्लेश परिणामों के होने पर भी दोनों प्रकृतियों की अधिक से अधिक अठारह सागर प्रमाण मध्यम स्थिति का बंध करते हैं और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तो एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। सनत्कुमार आदि के देव उत्कृष्ट संक्लेश होने पर भी पंचेन्द्रिय तिर्य्यच के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं, एकेन्द्रिय में उनका जन्म नहीं होने से एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। अतः सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग इन दो प्रकृतियों की बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले सनत्कुमार आदि स्वर्गों

के देव ही कर सकते हैं, नीचे के देव नहीं करते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय के संहनन और अंगोपांग नहीं होने से ये दो प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय योग्य नहीं हैं।

सारांश यह है कि एक सरीखे परिणाम होने पर भी गति आदि के भेद से उनमें भेद हो जाता है। जैसे कि ईशान स्वर्ग तक के देव जिन परिणामों से एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं, वैसे ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यंच नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं।

इस प्रकार से मिथ्यादृष्टि के बंधने योग्य ११६ प्रकृतियों में से पूर्वोक्त विकलत्रिक आदि सेवार्त संहनन पर्यन्त २४ प्रकृतियों के सिवाय शेष ६२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारों गतियों के मिथ्या-दृष्टि जीव करते हैं—सेस चउगदया ।^१

१ गो० कर्मकांड में भी ११६ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाते हुए लिखा है—

परतिरिया मेसाड वेगुव्वियच्छक्कधियलसुहमतिर्यं ।

सुरणिरया ओरलियतिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥

देवा पुण ण्हदियआदायं यावरं च सेमाणं ।

उक्कस्ससंकिंलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झमया ॥१३८॥

देवायु के बिना शेष तीन आयु, वैक्रियषट्क, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच करते हैं। औदारिक-द्विक, तिर्यंचद्विक, उलोः, असंप्राप्तामृपाटिका (सेवार्त) संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि, देव और नारक करते हैं। एकेन्द्रिय, आत्मप और स्वावर का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्षेप वाले मिथ्यादृष्टि जीव अथवा ईषत् मध्यम परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

जघन्य स्थितिबंध का स्वामित्व

उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामियों को बतलाकर अब जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों को बतलाते हैं। जघन्य स्थितिबंध के स्वामित्व के बारे में विचार करने से पूर्व दो बातों का जानना जरूरी है। एक तो जैसे उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना आवश्यक है, वैसे ही जघन्य स्थितिबंध के लिए उत्कृष्ट विषुद्धि होना चाहिये। दूसरी यह है कि जिस गुणस्थान तक यथायोग्य कषायों का सद्भाव रहने से जिन-जिन प्रकृतियों का बन्ध होता है और उसके आगे के गुण-स्थान में बंधविच्छेद हो जाने से बंध की संभावना ही नहीं है, उस गुणस्थान में उन कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध होता है। अतएव जघन्य स्थितिबंध का कथन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम तीर्थकर नाम और आहारकद्विक के जघन्य स्थितिबंध के लिये कहते हैं कि 'आहार-जिणमपुब्बो' आहारकद्विक और तीर्थकर नामकर्म इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में होता है। क्योंकि इनके बंधकों में उक्त गुणस्थान वाले जीव ही अति विषुद्ध परिणाम वाले होते हैं और 'अनियद्धि संजलण पुरिस लहु' अनिवृत्ति-बादर नामक नौवें गुणस्थान तक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुष वेद इन पांच प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध होता है।^१ आहारकद्विक आदि पुरुष वेद पर्यन्त आठ प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-बंध के स्वामी के संबंध में इतना विशेष जानना चाहिये कि आठवां और नौवां यह दोनों गुणस्थान क्षपक श्रेणि के ही लेना चाहिए, क्योंकि उपशम श्रेणि से क्षपक श्रेणि में विशेष विषुद्धि होती है।

१ आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थान में बंधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम द्वितीय कर्मग्रन्थ गा० ६, १०, ११ में देखिये।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण कर्म की पांच प्रकृतियां, चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियां तथा दानान्तराय आदि पांच अन्तराय कर्म की प्रकृतियां, कुल सत्रह प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का स्वामी सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती क्षपक है—सायजसुच्चावरणा विग्धं सुहृमो । क्योंकि सातावेदनीय के सिवाय सोलह प्रकृतियां इसी गुणस्थान तक बंधती हैं, अतः उनके बंधकों में यही गुणस्थान विशेष विशुद्ध है । यद्यपि साता वेदनीय का बंध तेरहवें गुणस्थान तक होता है, तथापि स्थितिबंध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबंध का कारण कषाय है । संज्वलन लोभ कषाय का उदय दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक रहता है, जिससे साता वेदनीय का जघन्य स्थितिबंध भी दसवें गुणस्थान में ही बतलाया है ।

आयुर्कर्म की चारों प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी जीव भी करते हैं और संज्ञी जीव भी करते हैं—संज्ञी वि आउ । उनमें से देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिबंध पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य करते हैं तथा मनुष्यायु और तिर्यन्नायु का जघन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय आदि ।

इस प्रकार से आहारकद्विक आदि आयुचतुष्क तक में अन्तर्भूत ३५ प्रकृतियों को बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम कर देने पर शेष रही ८५ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध—बायरपज्जेर्गिदिउ सेसाणं—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव करते हैं । क्योंकि प्रकृतियों के स्थितिबंध को बतलाने के प्रसंग में यह संकेत कर आये हैं कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव को ही होता है । इन प्रकृतियों के बंधकों में वही विशेष विशुद्धि वाला होता है और अन्य एकेन्द्रिय जीव उतनी विशुद्धि न होने के कारण उक्त प्रकृतियों

को अधिक स्थिति बांधते हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय से विकल्पेन्द्रियों में अधिक विशुद्धि होती है किन्तु वे स्वभाव से ही इन प्रकृतियों की अधिक स्थिति बांधते हैं, जिससे शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध का स्वामी बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों को ही बतलाया है।

प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिबंध में मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि भेदों को बतलाते हैं।

उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा ।

चउहा सग अजहणो सेससिगे आउचउसु कुहा ॥४६॥

शब्दार्थ—उक्कोसजहन्न—उत्कृष्ट और जघन्य बंध, इयर—प्रतिपक्षी (अनुत्कृष्ट, अजघन्य बंध), सगा—भंग, साइ—सादि, अणाइ—अनादि, धुव—ध्रुव, अधुवा—अध्रुव, चउहा—चार प्रकार, सग—सात मूल प्रकृतियों के, अजहणो—अजघन्य बंध, सेससिगे—बाकी के तीन, आउचउसु—चार आयु में, कुहा—दो प्रकार।

भाषार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, यह बंध के चार भेद हैं अथवा दूसरी प्रकार से सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये बंध के चार भेद हैं। सात कर्मों का अजघन्य बंध

१ (क) सत्तरमपंचतिषाहाराणं सुहमवादरापुत्रो ॥

छव्वेगुठवमसण्णी अहण्णमाऊण सण्णी वा ॥

—गो० कर्मकांड १५१

(ख) कर्मप्रकृति बंधनकरण तथा पंचसंग्रह मा० २७० में जघन्य स्थिति-बंध के स्वामियों को बतलाया है।

चार प्रकार का होता है। बाकी के तीन बंध और आयुर्कर्म के चारों बंध सादि और अध्रुव, इस तरह दो ही प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मूल प्रकृतियों के स्थितिबंध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य भेद बतलाकर यथासंभव उनमें सादि, अनादि आदि भेद बतलाये हैं।

अधिकतम स्थितिबंध होने को उत्कृष्ट बंध कहते हैं अर्थात् उससे अधिक स्थिति वाला बंध हो ही नहीं सकता, वह उत्कृष्ट बंध है। सबसे कम स्थिति वाले बंध को जघन्य बंध कहते हैं। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर जघन्य स्थितिबंध तक के सभी बंध अनुत्कृष्ट बंध कहलाते हैं। यानी उत्कृष्ट बंध के अगला जघन्य बंध से पूर्व तक के शेष बंध अनुत्कृष्ट बंध कहलाते हैं। एक समय अधिक जघन्य बंध से लेकर उत्कृष्ट बंध से पूर्व तक के सभी बंध अजघन्य बंध कहे जाते हैं। इस प्रकार से उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में स्थिति के सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है और जघन्य व अजघन्य बंधभेद में भी स्थिति के सभी भेद गर्भित हो जाते हैं।

इन चारों ही बंध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भंग यथायोग्य होते हैं। जो बंध रुक कर पुनः होने लगता है, वह सादिबंध कहलाता है और जो बंध अनादिकाल से सतत हो रहा है, वह अनादिबंध है। यह बंध बीच में एक समय को भी नहीं रुकता है। जो बंध न कभी विच्छिन्न हुआ और न होगा, वह ध्रुवबंध है और जो बंध आगे जाकर विच्छिन्न हो जाता है, उसे अध्रुवबंध कहते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, कर्मों की ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमें उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, यह चारों ही बंध होते हैं। इनमें से आयु

कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का अजघन्य बंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इन चारों प्रकार का होता है, क्योंकि मोहनीय कर्म का जघन्य बंध क्षपकश्रेणि के अनिवृत्तिबाधर संपराय नामक नौवें गुणस्थान के अन्त में होता है और शेष छह कर्मों का जघन्य स्थिति-बंध क्षपकश्रेणि वाले दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में होता है ।

अन्य गुणस्थानों व उपशमश्रेणि में भी इन सातों कर्मों का अजघन्य बंध होता है । अतः ग्यारहवें गुणस्थान में अजघन्य बंध न करके वहाँ से च्युत होकर जब जीव सात कर्मों का अजघन्य बंध करता है तब वह बंध सादि कहा जाता है । नौवें, दसवें आदि गुणस्थानों में आने से पहले उक्त सात कर्मों का जो अजघन्य बंध होता है, वह अनादिकाल से निरंतर होते रहने के कारण अनादि कहा जाता है । अभव्य के बंध का अंत नहीं होता है, अतः उसको होने वाला अजघन्य बंध ध्रुव और भव्य के बंध का अंत होने से उसको होने वाला अजघन्य बंध अध्रुव कहलाता है । इस प्रकार सात कर्मों के अजघन्य बंध में चारों भंग होते हैं ।

अजघन्य बंध के सिवाय शेष तीन बंधभेदों में सादि और अध्रुव, यह दो प्रकार होते हैं । क्योंकि मोहनीय कर्म का नौवें गुणस्थान के अंत में और शेष छह कर्मों का दसवें गुणस्थान के अंत में जघन्य स्थिति-बंध होता है, उससे पूर्व नहीं, अतः वह बंध सादि है और बारहवें आदि गुणस्थानों में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है अतः वह अध्रुव है । इस प्रकार जघन्य बंध में सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते हैं । उत्कृष्ट स्थितिवंध संक्लिष्ट परिणामी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि को होता है । वह बंध कभी-कभी होता है, सर्वदा नहीं, जिससे वह सादि है तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से उसका स्थान बदल जाने से अनुत्कृष्टबंध स्थान ले लेता है, अतः वह अध्रुव

है। जिससे उत्कृष्ट स्थितिबंध में भी सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते हैं।

उत्कृष्ट बंध के बाद अनुत्कृष्ट बंध होता है। इसीलिये वह सादि है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त के बाद और अधिक-से-अधिक अनन्त उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के बाद उत्कृष्ट बंध होने से अनुत्कृष्ट बंध रुक जाता है, जिससे उसे अध्रुव कहा जाता है। यानी उत्कृष्ट बंध यदि हो तो लगातार अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है और अनुत्कृष्ट बंध लगातार अधिक-से-अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक होता है और उसके बाद दोनों एक दूसरे का स्थान ले लेते हैं, अतः दोनों सादि और अध्रुव हैं।

इस प्रकार सात कर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य इन तीनों बंधों में सादि और अध्रुव यह दो ही भंग होते हैं।

आयुर्कर्म के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य ये चारों बंध होते हैं। लेकिन इन चारों में सादि और अध्रुव यही दो विकल्प हैं—आउचउसु दुहा। क्योंकि आयुर्कर्म का बंध अन्य सात कर्मों की तरह निरन्तर नहीं होता रहता है किन्तु नियत समय पर होता है। जिससे वह सादि है और उसका बंधकाल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, अन्तर्मुहूर्त के बाद वह नियम से रुक जाता है, जिससे वह अध्रुव है। इस प्रकार से आठों कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारों बंधों में सादि आदि विकल्प जानना चाहिए।^१

१ (क) सतण्हं अजहन्नो चउहा णिद्विबंध मूलपगईणं।

सेसा उ साइअधुवा चसारि वि आउण एव ॥ —पंचसंग्रह १।१६

(ख) अजहण्णट्ठिदिबंधो चउविद्वहो सत्तमूलपयडीणं।

सेसतिये दुवियप्पो आउचउक्केवि दुवियप्पो ॥

—गो० कर्मकांड ११२

इस प्रकार से आयुर्कर्म के सिवाय शेष जानावरण आदि सात कर्मों के उत्कृष्ट आदि चारों बंधप्रकारों के सादि, अनादि आदि चार बंधभेदों की अपेक्षा से प्रत्येक के दस-दस और आयुर्कर्म के आठ भंग होने से कुल ७८ भंग होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

जानावरण के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और अजघन्य बंध में से प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते हैं, अतः तीनों के कुल मिलाकर छह भंग हुए तथा अजघन्य बंध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारों विकल्प होने से पूर्व के छह भेदों को इन चार के साथ मिलाने से कुल दस भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, माम, गोत्र और अंतराय के बंधभेदों में प्रत्येक के दस-दस भंग जानना चाहिये। आयुर्कर्म के भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और अजघन्य ये चारों प्रकार के बंध होते हैं, लेकिन ये चारों प्रत्येक सादि और अध्रुव विकल्प वाले होने से प्रत्येक के दो-दो भंग हैं और कुल मिलाकर आठ भंग होते हैं। इस प्रकार $10 + 10 + 10 + 10 + 10 + 10 + 10 + 8 = 78$ भंग जानावरण आदि आठ मूल कर्मों के होते हैं।

मूल कर्मों के अजघन्य आदि बंधों में सादि आदि भंगों का निरूपण करने के बाद अब उत्तर प्रकृतियों में उनका कथन करते हैं।

चउभेओ अजहमो संजलणावरणनखगविग्घाणं ।

सेसतिगि साइअध्रुवो तह चउहा सेसपयडोणं ॥४७॥

शब्दार्थ—चउभेओ चार भेद, अजहमो—अजघन्य बंध में, संजलणावरणनखगविग्घाणं—संज्वलन कपाय, नो जावरण और अन्तराय के, सेसतिगि—शेष तीन बंधों में, साइअध्रुवो—सादि और अध्रुव, तह—वैसे ही, चउहा—चारों बंध प्रकारों में, सेसपयडोणं—बाकी की प्रकृतियों के।

गाथाय संज्वलन कषाय चतुष्क, नी आवरण (पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण) और पांच अंतराय के अजघन्य बंध में चारों भेद होते हैं। शेष तीन बंधों के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प तथा शेष प्रकृतियों के चारों बंधों के भी सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि बंधों के सादि आदि भेद बतलाये हैं। जैसा मूल प्रकृतियों में सबसे पहले अजघन्य बंध के विकल्पों का कथन किया गया है, वैसे ही उत्तर प्रकृतियों भी अजघन्य बंध के विकल्पों का यहां विवेचन किया जा रहा है। १२० प्रकृतियों में से अजघन्य बंध वाली प्रकृतियां सिर्फ अठारह हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्याय-ज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवलदर्शनावरण तथा दान, लोभ, भोग, उपयोग, वीर्य अन्तराय—संजलनावरणनवगविम्भाणं। इन अठारह प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति की शुरुआत उपशम श्रेणि से पतित होने वाले के होती है।

इन अठारह प्रकृतियों के अजघन्य बंध के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारों ही विकल्प होते हैं, जो मूल कर्मों के अजघन्य बंध की तरह ही जानना चाहिये। उपशम श्रेणि में इन अठारह प्रकृतियों का बंधविच्छेद करके जब वहां से च्युत होकर पुनः उनका अजघन्य बंध करते हैं तो वह बंध सादि और उपशम श्रेणि में आरोहण करने से पहले वह बंध अनादि होता है। अभव्य की अपेक्षा वही बंध ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है। इसीलिये इन प्रकृतियों के अजघन्य

बंध के सादि आदि चार विकल्प माने हैं ।^१

उक्त अठारह प्रकृतियों के अजघन्य बंध के सिवाय शेष तीन बंधों में प्रत्येक के सादि और अध्रुव यह दो विकल्प होते हैं । क्योंकि नौवें गुणस्थान में अपनी-अपनी बंधव्युत्पत्ति के समय संव्वलन-चतुष्क का अजघन्य बंध होता है और शेष आनादरणचक्र आदि चौदह प्रकृतियों का जघन्य बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती क्षपक को होता है । यह बंध इन गुणस्थानों में आने से पूर्व नहीं होता है, अतः सादि है और आगे के गुणस्थानों में बिल्कुल रुक जाने से अध्रुव है । इसी प्रकार से उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट बंध में भी समझना चाहिए । क्योंकि ये दोनों बंध परिवर्तित होते रहते हैं । जीव कभी उत्कृष्ट और कभी अनुत्कृष्ट बंध करता है ।

शेष एक दो सौ प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चारों ही प्रकार के बंधों में सादि और अध्रुव यह दो भंग होते हैं । क्योंकि पांच निद्रा, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कामण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण इन उनतीस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध विशुद्धियुक्त बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक करता है । अन्तर्मुहूर्त के बाद वही जीव संक्लिष्ट परिणामी होने पर उनका अजघन्य बंध करता है । उसके बाद उसी भव में अथवा दूसरे भव में विशुद्ध परिणामी होने पर वही जीव पुनः उनका जघन्य बंध करता है । इस प्रकार से जघन्य और अजघन्य बंध के बदलते रहने से दोनों सादि और अध्रुव होते हैं ।

१ अठारणाञ्जहस्रो उवसममेद्वीए परिवडंतस्स ।

माई सेसविगप्पा सुगमा अध्रुवा धवणं पि ॥

इसी प्रकार इन उनतीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध संकिलष्ट परिणामी पंचेन्द्रिय जीव करता है और अन्तर्भुङ्ग के बाद अनुत्कृष्ट बंध करता है और बाद में पुनः उत्कृष्ट बंध करता है। इस प्रकार बदलते रहने से ये दोनों बंध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबंधिनी हैं और उनके अध्रुवबंधिनी होने के कारण ही उनके जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट ये चारों ही स्थितिबंध सादि और अध्रुव होते हैं।^१

संज्वलन चतुष्क आदि अठारह प्रकृतियों में से प्रत्येक के अजघन्य बंध के सादि आदि चार विकल्प तथा शेष उत्कृष्ट बंध आदि तीन स्थितिबंधों में से प्रत्येक के सादि और अध्रुव विकल्प होने से प्रत्येक प्रकृति के दस-दस भंग होने से १८० तथा एक सौ दो प्रकृतियों में से प्रत्येक के उत्कृष्ट आदि चार-चार स्थितिबंध और इन चारों के भी सादि व अध्रुव दो-दो विकल्प होने से आठ-आठ भंग होते हैं। कुल मिलाकर ये भंग $१०२ \times ४ = ४०८ \times २ = ८१६$ होते हैं। उत्तर प्रकृतियों के कुल मिलाकर $१८० + ८१६ = ९९६$ भंग होते हैं और इनमें मूल प्रकृतियों के ७८ भंगों को मिलाने से सब मिलाकर १०७४ स्थितिबंध के भंग होते हैं।

१ नाणंतरायर्दसण चउक्कसंजलण ठिई अजहन्ना ।

चउहा माई अध्रुवा सेसा इयराण सत्थाओ ॥

—पंचसंग्रह ५।६०

इस गाथा की टीका में उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध के भंगों का विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार से गा० कर्मकांड गा० १५३ में भी भंगों का कथन किया है—

संजलणसुहुमसोहस घादीणं चदुविघो दु अजहण्णो ।

सेसत्थिया पुण दुविहा सेसाणं चदुविघावि दुधा ॥

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबंध में सादि आदि भंगों का निरूपण करने के बाद अब गुणस्थानों में स्थितिबंध का निरूपण करते हैं ।

गुणस्थानों में स्थितिबंध

साणाद्व्यपुर्व्वन्ते अयंरतो कोडिकोडिओ न हिगो ।

बंधो न ह् हीणो न य मिच्छे भव्यरसंनिमि ॥८८॥

शब्दार्थ—साणाद्व्यपुर्व्वन्ते—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक, अयंरतो कोडिकोडिओ—अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम से, न हिगो—अधिक (बंध) नहीं होता है, बंधो - बंध, न ह्—नहीं होता है, हीणो—हीन, न य—तथा नहीं होता है, मिच्छे—मिथ्यादृष्टि, भव्यरसंनिमि—भव्य संज्ञी व इतर अव्यय संज्ञी में ।

गाथार्थ—सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम से अधिक स्थितिबंध नहीं होता है और न हीन बंध होता है । मिथ्यादृष्टि भव्य संज्ञी और अव्यय संज्ञी के भी हीन बंध नहीं होता है ।

विशेषार्थ—पहले सामान्य से और एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा से स्थितिबंध का प्रमाण बतलाया गया है । अब इस गाथा में गुणस्थानों की अपेक्षा से उसका प्रमाण का कथन किया जा रहा है कि किस गुणस्थान में कितना स्थितिबंध होता है ।

पूर्व में कर्मों की सत्तर, तीस, बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है । उसमें से साणाद्व्यपुर्व्वन्तो—यानी दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान तक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थितिबंध नहीं होता है । यानी दूसरे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होने वाला बंध अन्तःकोड़ा-

कोड़ी सागर प्रमाण होता है और जो सत्तर आदि कोड़ाकोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबंध बतलाया है, वह मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थितिबंध होने का कारण यह है कि इन गुणस्थानों वाले जीव मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन कर देते हैं, जिससे उनके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण से अधिक स्थितिबंध नहीं होता है।

प्रश्न—उक्त कथन पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन करने वालों को भी मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम बतलाया है। अतः यह कैसे माना जाय कि सासादन से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक जीव मिथ्यात्वग्रन्थि का भेदन कर देते हैं, अतः अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण से अधिक स्थिति का बंध नहीं करते हैं।

उत्तर यह ठीक है कि ग्रन्थि का भेदन करने वालों को भी उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, किन्तु सम्यक्त्व का दमन करके जो पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान में आते हैं, उनके ही यह उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। यहाँ तो ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले सासादन आदि गुणस्थान वालों के ही उत्कृष्ट स्थितिबंध का निषेध किया है। आवश्यक आदि में तो सैद्धान्तिक मत का संकेत करके ग्रन्थि का भेदन कर देने वाले मिथ्यादृष्टि को भी उत्कृष्ट बंध का प्रतिषेध किया है।^१ कर्मग्रन्थिक मत से सादि मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है लेकिन उसमें तीव्र अनुभाग शक्ति नहीं होती है। अतः सासादन से

१ यतोऽवाप्तसम्यक्त्वस्तत्परित्यागेऽपि न भूयो ग्रन्थिमुल्लङ्घयत्युत्कृष्टस्थितीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, 'बंधेण न बोलइ कयाइ' इति वचनात्। एषः सिद्धान्तिकाभिप्रायः। कर्मग्रन्थिकास्तु भिन्नग्रन्थेऽप्युत्कृष्टस्थितिबंधो भवतीति प्रतिपन्नाः।
—आच० नि० टीका पृ० १११

अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से अधिक स्थिति का बंध नहीं होता है और न उससे कम भी होता है। यानी दूसरे से आठवें गुणस्थान तक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बंधती है, न कम और न अधिक।

इस पर पुनः प्रश्न होता है कि जब एकेन्द्रिय आदि जीव सासादन गुणस्थान में होते हैं, उस समय उनको है सागर आदि की स्थिति बंधती है। अतः सासादन आदि गुणस्थानों में अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिबंध नहीं होता, यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता है।

यह आशंका उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की घटनायें कादाचित्क हैं, जिनकी यहां विवक्षा नहीं की गई है^१ तथा यहां एकेन्द्रिय आदि की विवक्षा नहीं, संज्ञी पंचेन्द्रिय की विवक्षा है। इसलिए संज्ञी पंचेन्द्रिय सासादन से अपूर्वकरण पर्यन्त अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम से न्यून स्थिति का बंध नहीं करता है।

सासादन से अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिबंध का भी निषेध किया है। इस पर जिज्ञासा होती है कि क्या कोई ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव भी होता है जिसे अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से भी कम स्थितिबंध नहीं होता है। इसका समाधान करते हुए गाथा में कहा है भव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के और अभव्य संज्ञी मिथ्यादृष्टि के भी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से कम स्थितिबंध नहीं होता है। भव्य संज्ञी के साथ मिथ्यादृष्टि विशेषण लगाने से यह आशय निकलता है कि भव्य संज्ञी को अनिवृत्तिबादर आदि गुणस्थानों में हीन बंध भी होता है और संज्ञी विशेषण से यह अर्थ निकलता है कि भव्य असंज्ञी के हीन स्थितिबंध होता है। अमव्य संज्ञी के तो

१ मत्तमेतत् केवल, कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृता, इति सम्भावयामि।

अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर से हीन स्थितिबंध होता ही नहीं है, क्योंकि ग्रन्थिभेदन करने पर ही हीन बंध होना संभव है लेकिन अभव्य संज्ञी ग्रन्थिदेश तक पहुँचता है परन्तु उसका भेदन करने में असमर्थ होने से पुनः नीचे आ जाता है।

सासादन से अपूर्वकरण गुणस्थान तक के स्थितिबंध में अन्तः-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण से न्यूनाधिकता नहीं होने पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि यदि न्यूनाधिकता नहीं है तो आगे स्थितिबंध के अल्प-बहुत्व में जो यह कहा गया कि विरति के उत्कृष्ट स्थितिबंध से देश-विरति का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा, उससे अविरत सम्यग्-दृष्टि अपर्याप्त का जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा होता है, कैसे माना जायेगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे नौ समय से लेकर समयन्यून मुहूर्त तक अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं वैसे ही माधु के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर समयाधिक पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक असंख्यात के स्थितिबंध भेद होते हैं जो अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण हैं। अतः संख्यातगुणे मानने पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में स्थितिबंध का निरूपण करके अब आगे की गाथाओं में एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

जइलहुबंधी बापर पञ्ज असंखगुण सुहुमपञ्जहिगो ।
 एसिं अपञ्जान लह सुहुमेअरअपञ्जपञ्ज गुरु ॥४६॥
 लहु बिय पञ्जअपञ्जे अपजेअर बिय गुरु [हिगो एवं ।
 सि चउ असंखसु नवरं संखगुणो बियअमणपञ्जे ॥४७॥
 तो जइजिद्धो बंधो संखगुणो देसविरय हसिसयरो ।
 सभ्सचउ ससिचउरो ठिइबंधाणुकम संखगुणा ॥४८॥

शब्दार्थ—जड़त्वबन्धो—साधु का जघन्य स्थितिबन्ध, वायर-
पञ्ज—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, असंख्यगुण—असंख्यात गुणा,
सुहृमपञ्ज—सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय का, हिगो—विशेषाधिक,
एति—इनके (बादर सूक्ष्म एकेन्द्रिय के), अपर्याप्त—अपर्याप्त का,
सह—जघन्य स्थितिबन्ध, सुहृमेअरअपञ्जपञ्ज गुरु—सूक्ष्म एकेन्द्रिय
अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और
बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ।

सह—जघन्य स्थितिबन्ध, द्विय—द्वीन्द्रिय, पञ्जअपञ्जे—
पर्याप्त अपर्याप्त में, अपञ्जेअर—अपर्याप्त और इतर—पर्याप्त,
द्वियगुरु—द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट, हिगो अधिक, एवं—इस प्रकार से,
सिचउअसन्निभु—त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंजी पंचेन्द्रिय में,
नवरं—इतना विशेष, संख्यगुणो—संख्यात गुणा, द्वियअमणपञ्जे—
द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असंजी पर्याप्त में ।

तो — उसकी अपेक्षा, जड़जिह्वोबन्धो — साधु का उत्कृष्ट स्थिति-
बन्ध, संख्यगुणो — संख्यात गुणा, वेसबिरपहस्स — देशविरति का जघन्य,
इयरो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध, सम्मच्चउ — सम्यग्दृष्टि के चार प्रकार
के स्थितिबन्ध, सन्निचउरो — संजी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चार,
ठिहबन्धा — स्थितिबन्ध, अणुकम — अनुक्रम से, संख्यगुणा — संख्यात
गुणा ।

गार्थार्थ—साधु का जघन्य स्थितिबन्ध सबसे अल्प होता
है । बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबन्ध उससे
असंख्यात गुणा और सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उससे विशेषा-
धिक होता है । इनके (बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय के) अपर्याप्त का
जघन्य स्थितिबन्ध उससे अधिक होता है । इसकी अपेक्षा सूक्ष्म
एकेन्द्रिय अपर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय
पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अनुक्रम से विशेषाधिक होता है ।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध उनकी अपेक्षा संख्यात गुणा और विशेषाधिक और उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भी इसी प्रकार (द्वीन्द्रिय में कहे गये अनुसार) जानना चाहिये, किन्तु इतना विशेष है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी अपर्याप्त में संख्यात गुणा समझना चाहिए ।

उसकी अपेक्षा साधु. का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा और उसकी अपेक्षा देशविरति का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध, सम्यग्दृष्टि के चारों स्थितिबंध और संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के चारों स्थितिबंध अनुक्रम से संख्यात गुण होते हैं ।

विशेषाद्यं— इन तीन गाथाओं में स्थितिबंध का अल्पबहुत्व बतलाया गया है कि किस जीव को अधिक स्थितिबंध होता है और किस जीव को कम स्थितिबंध । बंध की इस हीनाधिकता को स्थितिबंध का अल्प-बहुत्व कहते हैं ।

स्थितिबंध के इस अल्पबहुत्व के प्रमाण का कथन प्रारंभ करते हुए कहा है कि 'जइलहुबंधो' यानी साधु को सबसे कम स्थितिबंध होता है और वह भी सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में । इसका कारण यह है कि दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म कषाय का सद्भाव पाया जाता है और कषाय के द्वारा स्थितिबंध होता है । दसवें गुणस्थान से हीन स्थितिबंध किसी भी जीव को नहीं होता है । यद्यपि ग्यारहवें आदि आगे के गुणस्थानों में एक समय का स्थितिबंध होता है, किन्तु वे गुणस्थान कषायरहित हैं, अतः वहां स्थितिबंध की विवक्षा नहीं है । इसलिये दसवें गुणस्थान से ही स्थितिबंध के अल्प-

बहुत्व का कथन प्रारंभ होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्या-दृष्टि को सबसे उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। जिससे अल्पबहुत्व का वर्णन वहां आकर समाप्त हो जाता है। अर्थात् स्थिति-बंध का अल्पबहुत्व बतलाने के प्रसंग में सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान एक छोर है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि दूसरा छोर। सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान जघन्य स्थितिबंध का चरमबिन्दु है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबंध का चरमबिन्दु और इन दोनों के बीच अल्पबहुत्व का कथन किया जाता है।

चरम जघन्य स्थितिबंध से प्रारंभ होकर चरम उत्कृष्ट स्थिति-बंध तक के अल्पबहुत्व का क्रम इस प्रकार है—

१. सबसे जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु-विरति को होता है।

२. उससे यानी सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती साधु से बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध असंख्यात गुणा है।

३. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

४. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त की अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होनेवाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

५. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त से सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त के होने वाला जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है।

६. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

७. उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

८. उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है।

६. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१०. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

११. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१२. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१३. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१४. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१५. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१६. उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१७. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१८. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

१९. उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२०. उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२१. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

२३. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२४. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२५. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध कुछ अधिक है ।

२६. उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

२७. उससे देशसंयत का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

२८. उससे देशसंयत का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

२९. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३०. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३१. उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३२. उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३४. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३५. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

३६. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है ।

स्थितिबंध के अल्पबहुत्व दर्शक इन स्थानों की संख्या ३६ है । यद्यपि जीवसमास के १४ भेद हैं और प्रत्येक जीवसमास की जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो-दो स्थितियां होती हैं । जिससे जीवसमासों की अपेक्षा २८ स्थान होते हैं, किन्तु स्थितिबंध के अल्पबहुत्व के निरूपण में अविरत सम्यग्दृष्टि के चार स्थान, देशविरति के दो स्थान, संयम का एक स्थान और सूक्ष्मसंपराय का एक स्थान और मिलाने से कुल छत्तीस स्थान हो जाते हैं ।

इन छत्तीस स्थानों में आगे-आगे का प्रत्येक स्थान पूर्ववर्ती स्थान से या तो गुणित है या अधिक है ।^१ उक्त स्थितिस्थानों को यदि ऊपर से नीचे की ओर देखा जाये तो स्थिति अधिकाधिक होती जाती है और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर स्थिति घटती जाती है । इससे यह सरलता से समझ में आ जाता है कि कौन-सा जीव अधिक स्थिति बांधता है और कौन-सा कम । एकेन्द्रिय से द्वेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से असंजी पंचेन्द्रिय के अधिक स्थितिबंध होता है और असंजी पंचेन्द्रिय से संयमी के, संयमी से देशविरति के, देशविरति से अविरत सम्यग्दृष्टि के और अविरत सम्यग्दृष्टि से संजी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के स्थितिबंध अधिक होता है । उनमें भी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध अधिक होता है । इसी प्रकार एकेन्द्रिय से

-
- १ किसी राशि में गुणा करने से उत्पन्न होने वाली राशि गुणित राशि कहलाती है, जैसे ४ से २ का गुणा करने पर आठ लब्ध आता है, यह आठ अपने पूर्ववर्ती ४ से दो गुणित है । किन्तु ४ में २ का भाग देकर लब्ध २ को ४ में जोड़ा जाये तो ६ संख्या होगी । उसे विशेषाधिक या कुछ अधिक कहा जायेगा । क्योंकि वह राशि गुणाधिक नहीं है किन्तु भागाधिक है । गुणित और विशेषाधिक में यही अन्तर है ।

लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त और असंज्ञी पंचेन्द्रिय से संयमी के होने वाले उत्तरोत्तर अधिक स्थितिबंध से यही स्पष्ट होता है कि चैतन्य-शक्ति के विकास के साथ संक्लेश की संभावना भी अधिक-अधिक होती है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव प्रायः हिताहित के विवेक से रहित मिथ्यादृष्टि होते हैं और उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे अपनी विकसित चैतन्य शक्ति का उपयोग संक्लेश परिणामों के रोकने में करें। इसलिए उनको उत्तरोत्तर अधिक ही स्थितिबंध होता है, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय होने के कारण संयमी मनुष्य की चैतन्यशक्ति विकसित होती है। जिससे संयमी होने के कारण संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उनका स्थितिबंध बहुत कम होता है किन्तु असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से वह अधिक ही है।^१

- १ गो० कर्मकांड में स्थितिबंध का अल्पबहुत्व तो नहीं बताया है किन्तु एकेन्द्रिय आदि जीवों के अवान्तर भेदों में स्थितिबंध का निरूपण किया है। जिससे अल्पबहुत्व का ज्ञान हो जाता है, एकेन्द्रिय आदि जीवों के अवान्तर भेदों के स्थितिबंध का निरूपण निम्न क्रम से किया है

वायूय वासूय वरट्ठिदीओ सूवाअ सूवाप जहण्णकालो ।

दीवीवरा दीविजहण्णकालो सेसाणमेव वयणीयमंद ॥१४८॥

वायूय—वायु-सूक्ष्म पर्याप्त और वासूय—वायु-सूक्ष्म अपर्याप्त दोनों मिलाकर चार तरह के जीवों के कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तथा सूवाअ—सूक्ष्म-वायु अपर्याप्त, सूवाप—सूक्ष्म-वायु पर्याप्त जीवों के कर्मों की अधन्य स्थिति, इस तरह एकेन्द्रिय जीव की कर्मस्थिति के आठ भेद हैं। बीबीवरा: द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त इन दोनों की उत्कृष्ट कर्मस्थिति तथा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त इन दोनों का अधन्य काल, इस तरह द्वीन्द्रिय की स्थिति के चार भेद हैं।

(शेष पृष्ठ १६५ पर)

यहां यह विशेष समझना चाहिये कि संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर संजी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक के बताये गये स्थितिबंध स्थानों का प्रमाण अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर ही है। अर्थात् सभी स्थितिबंधों का प्रमाण अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण ही होगा।^१ संजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण सामान्य से बताये गये उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रमाण के समान समझना चाहिये।

उसी तरह आँदिय से लेकर संजी पंचेन्द्रिय तक की स्थिति के भी चार-चार भेद जानना चाहिए। अर्थात् बादर पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, बादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, सूक्ष्म अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, बादर अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, सूक्ष्म पर्याप्त की जघन्य स्थिति, बादर पर्याप्त की जघन्य स्थिति, ये एकेन्द्रिय के भेदों का क्रम है। द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति, इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि में जानना चाहिये।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के इन अवान्तर भेदों में जो स्थिति बतलाई है, वह उत्तरोत्तर कम है। उनके इस क्रम को नीचे से ऊपर की ओर पढ़ने पर कर्मग्रन्थ के प्रतिपादन के अनुकूल हो जाता है।

१ 'ओषुक्कोसो सन्निस्र होई पज्जनगस्सेव' ॥८२॥'

'अभिभतरतो उ कोडाकोडी ए' ति एवं संयतस्स उक्कोसातो आढत्तं कोडाकोडीए अभिभतरतो भवति ।'

—कर्मप्रकृति व ज्ञाणि

संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर अपर्याप्त संजी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक जितना भी स्थितिबंध है, वह कोड़ाकोड़ी सागर के अन्दर ही जानना चाहिये।

इस प्रकार के स्थितिबंध के उत्पन्नहृत्व को अपेक्षा से उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध के स्वामियों को बनलाकर अब स्थिति को शुभा-शुभता और उसके कारण को बतलाते हैं ।

स्थितिबंध को शुभाशुभता

सव्वाण वि जिट्ठिठिई असुभा जं साइसंकिलेसेण ।

इयरा विसोहिओ पुण मुत्तुं नरअमरतिरिय उं ॥५२॥

शब्दार्थ सव्वाण वि—सभी कर्म प्रकृतियों की, जिट्ठिठिई—उत्कृष्ट स्थिति, असुभा—अशुभ, जं—इनलिये, सा—वह (उत्कृष्ट स्थिति), अइसंकिलेसेण—तीव्र संक्लेश (कषाय) के उदय होने से, इयरा—जघन्यस्थिति, विसोहिओ—विशुद्धि द्वारा, पुण—तथा, मुत्तुं—छोड़कर, नरअमरतिरियाउं—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु को ।

गाथाार्थ—मनुष्य, देव और तिर्यंच आयु के सिवाय सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अति संक्लेश परिणामों से बंधने के कारण अशुभ कही जाती है । जघन्य स्थिति का बंध विशुद्धि द्वारा होता है ।

विशेषार्थ—गाथा में देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अशुभ और जघन्य स्थिति को शुभ बतलाया है । इसका कारण जन साधारण की उस भ्रांति का निराकरण करना है कि वह शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक शुभ फल देने के कारण अच्छा और अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को अधिक समय तक अशुभ फल देने के कारण बुरा मानता है । लेकिन शास्त्रकारों का कहना है कि अधिक स्थिति का बंधना अच्छा नहीं है । क्योंकि स्थितिबंध का मूल कारण कषाय है और कषाय की श्रेणी के अनुसार स्थितिबंध भी उसी श्रेणी

का होता है। उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट कषाय से होता है इसीलिये उसे अच्छा नहीं कहा जाता है।

उत्कृष्ट अनुभागबंध शुभ क्यों ?

उत्कृष्ट स्थितिबंध को जो अशुभ माना गया है, उसका कारण उत्कृष्ट कषाय है। इस पर जिजासु का प्रश्न है कि स्थितिबंध की तरह अनुभागबंध भी कषाय से होता है—‘ठिइ अणुभागं कसायजो’ इति वचनात्। अतः उत्कृष्ट स्थितिबंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग को भी अशुभ मानना चाहिये। क्योंकि दोनों का कारण कषाय है। किन्तु शास्त्रों में शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को शुभ और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को अशुभ बतलाया है।

इसका समाधान यह है कि स्थिति और अनुभाग बंध का कारण कषाय अवश्य है। किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। क्योंकि कषाय की तीव्रता होने पर अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग बंध अधिक होता है और शुभ प्रकृतियों में कम तथा कषाय की मंदता होने पर शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में अधिकता और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग में हीनता होती है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृति के अनुभाग बंध की हीनाधिकता कषाय की हीनाधिकता पर निर्भर नहीं है। किन्तु शुभ प्रकृतियों के अनुभाग बंध की हीनाधिकता कषाय की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित है और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बंध की हीनता और अधिकता कषाय की मंदता और तीव्रता पर। किन्तु स्थितिबंध में यह बात नहीं है। क्योंकि कषाय की तीव्रता के समय शुभ अथवा अशुभ जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सब में स्थितिबंध अधिक होता है। अतः स्थितिबंध की अपेक्षा से कषाय की तीव्रता और मंदता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एक-सा पड़ता है किन्तु अनुभाग बंध में यह बात नहीं है। अनुभाग में शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषाय का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है।

इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि जब-जब शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभाग होता है तब-तब जघन्य स्थितिबंध होता है और जब-जब उनमें जघन्य अनुभागबंध होता है तब-तब उनमें उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभागबंध का कारण कषाय की मंदता और जघन्य अनुभागबंध का कारण कषाय की तीव्रता है। लेकिन स्थितिबंध में कषाय की मंदता जघन्य स्थितिबंध का कारण और कषाय की तीव्रता उत्कृष्ट स्थितिबंध का कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियों की बात। अशुभ प्रकृतियों में तो अनुभाग अधिक होने पर स्थिति भी अधिक होती है और अनुभाग कम होने पर स्थितिबंध कम होता है। क्योंकि दोनों का कारण कषाय की तीव्रता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबंध ही अशुभ है क्योंकि उसका कारण कषायों की तीव्रता है और शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध शुभ है, क्योंकि उसका कारण कषायों की मंदता है। इसीलिये उत्कृष्ट स्थितिबंध की तरह उत्कृष्ट अनुभाग बंध को सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबंध और विशुद्धि से जघन्य स्थितिबंध होता है, किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यचायु इन तीन प्रकृतियों के बारे में यह नियम लागू नहीं होता है। क्योंकि इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है और उसका बंध विशुद्धि से होता है और जघन्य स्थिति अशुभ, क्योंकि उसका बंध संक्लेश से होता है। सारांश यह है कि इन प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है और जघन्य स्थिति मंद कषाय से। किन्तु इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मंद कषाय से और जघन्य स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है। इसीलिये इन तीन प्रकृतियों को ग्रहण नहीं किया गया है।

यद्यपि उत्कृष्ट स्थितिबंध तीव्र कषाय से होता है, लेकिन कषाय की अभिव्यक्ति योग द्वारा होती है । अतः केवल कषाय से ही स्थिति-बंध नहीं होता है, किन्तु उसके साथ योग भी रहता है । इसलिये अब सब जीवां में योग के अल्पबहुत्व और उसकी स्थिति पर यहां विचार किया जा रहा है ।

योग का अल्पबहुत्व

सुहृमनिगोयाहखणप्यजोग वायरयविगलप्रमणमणा ।
अपज्ज सहु पढमदुगुरु पज्जहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥
अपजत्त'तसुक्कोसो पज्जजहन्नियह एव ठिइठाणा ।
अपजेयर संखगुणा परमपज्जिए असंखगुणा ॥५४॥

शब्दार्थ—सुहृमनिगोय—सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक, आहखण—प्रथम समग्र में (उत्पत्ति के), अप्यजोग—अल्पयोग, वायर—वायर एकेन्द्रिय, य—और, विगलप्रमणमणा विकलत्रिक, असजी पंचेन्द्रिय, संजी पंचेन्द्रिय, अपज्ज—अपर्याप्त के, सहु—जघन्य योग, पढमदु—प्रथमद्विक (अपर्याप्त सूक्ष्म, वायर) का, सुक्—उत्कृष्ट योग, पज्जहस्सियरो—पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग, असंखगुणो—असंख्यात गुणा ।

अपजत्त—अपर्याप्त, तस—तस का, सुक्कोसो—उत्कृष्ट योग, पज्जजहन्न—पर्याप्त तस का जघन्य योग, इयर—और इतर (उत्कृष्ट योग), एव—इस प्रकार, ठिइठाणा—स्थिति के स्थान, अपजेयर—अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त के, संखगुणा—संख्यात गुणा, परं—परन्तु, अपज्जिए—अपर्याप्त द्वौन्द्रिय में, असंखगुणा असंख्यात गुणा ।

गाथायं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्ति जीव को पहले समय में अल्प योग होता है, उसकी अपेक्षा बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के पहले समय में क्रम से असंख्यात गुणा होता है। उसके अनन्तर प्रारंभ के दो लब्ध्यपर्याप्त अर्थात् सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्त का जघन्य व उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है।

उसकी अपेक्षा अपर्याप्त त्रस का उत्कृष्ट योग, पर्याप्त त्रस का जघन्य और उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असंख्यात गुणा है। इसी प्रकार स्थितिस्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्त के संख्यात गुणे होते हैं किन्तु अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में योग के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है। योग का अर्थ है सकर्मा जीव की शक्तिविशेष जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण है। योग के द्वारा कर्म रज को आत्मा तक लाया जाता है। कर्मप्रकृति (बंधनकरण) में योग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

परिणामा लंबण ग्रहण साहणं तेन लब्धनामतिगं ।

अर्थात् पुद्गलों का परिणमन, आलम्बन और ग्रहण के साधन यानी कारण को योग कहते हैं।^१ आत्मा में वीर्य-शक्ति है और

१ गो० जीवकांड गा० २१५ में योग का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

पुग्गलविनाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्म ।

जीवस्म जा ह मन्ति कम्मागमकारणं जोगो ॥

पुद्गलविषाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव को जो भक्ति कर्मों के ग्रहण करने में कारण है, उसे योग कहते हैं।

संसार जीव में वह शक्ति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रगट होती है। उस वीर्य के द्वारा जीव पहले औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण करके उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है तब श्वासोच्छ्वास, अथा मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है और परिणमा कर उनका अवलंबन यानी सहायता लेता है। यह क्रम सतत चलता रहता है। पुद्गलों को ग्रहण करने के तीन निमित्त हैं—मन, वचन और काय। इसीलिये योग के भी तीन नाम हो जाते हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग।^१ मन के अवलंबन से होने वाले योग व्यापार को मनोयोग, वचन के अवलंबन से होने वाले योग व्यापार को वचनयोग और श्वासोच्छ्वास आदि के अवलंबन से होने वाले योग व्यापार को काययोग कहते हैं। सारांश यह है कि जीव में विद्यमान योग नामक शक्ति से वह मन, वचन, काय आदि का निर्माण करता है और ये मन, वचन और काय उसकी योग नामक शक्ति के अवलंबन होते हैं। इस प्रकार से योग पुद्गलों को ग्रहण करने का, ग्रहण किये हुए पुद्गलों को शरीरादि रूप परिणमाने का और उनका अवलंबन लेने का साधन है।

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, ये योग के नामान्तर हैं।^२

१ कायवाङ्मनः कर्मयोगः।

—तत्त्वार्थसूत्र ६।१

२ योगों की विषय व्याख्या और भेदों के नाम आदि के लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थ में योगमार्गणा को देखिये।

३ जोगो विर्यं यामो उत्साह पराक्रमो तथा चिष्टा।
मनी सामर्थ्यं चिय जोगश्च ह्यस्ति पञ्चाया॥

यद् योग एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में यथा-योग्य पाया जाता है। इसकी दो अवस्थायें हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। यानों सबसे कम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव है और अधिकतम योगशक्ति का धारक कौन-सा जीव। इसी बात को ज्ञानकार ने इन दो गाथाओं में स्पष्ट किया है। जो इस प्रकार है—

१. सबसे जघन्य योग सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को प्रथम समय में होता है—सुदुम निगोयाद्विखण। इसके बाद अन्य जीवों की योगशक्ति में क्रमशः वृद्धि होती जाती है।
२. बादर निगोदिया एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव के प्रथम समय में जो योग होता है, वह उससे असंख्यात गुणा है।
३. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
४. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
५. उससे चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
६. उससे असंजी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात-गुणा है।
७. उससे संजी पंचेन्द्रिय लब्ध्य० का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
८. उससे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
९. उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१०. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का जघन्ययोग असंख्यात गुणा है।
११. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है।
१२. उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१३. उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१४. उससे द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।
१५. उससे त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है।

१६. उससे चतुरिन्द्रिय लब्धयोग का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
१७. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
१८. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धपर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
१९. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ।
२०. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ।
२१. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ।
२२. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ।
२३. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य योग असंख्यात गुणा है ।
२४. उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
२५. उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
२६. उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
२७. उससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
२८. उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।

इस प्रकार से चौदह जीवसमासों में जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से योगों के २८ स्थान होते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त में कुछ और स्थान दूसरे ग्रन्थों में कहे हैं । जो इस प्रकार हैं—

२९. संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
३०. उससे श्रवणवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
३१. उससे भोगभूमिज तिर्यच और मनुष्यों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।
३२. उससे आहारक शरीर वालों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा है ।

३३. दोष देव, नारक, तिर्यच और मनुष्यों का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है ।^१

इस प्रकार से सब जीवों के योग का अल्पबहुत्व जानना चाहिये ।^२ सर्वत्र गुणाकार का प्रमाण पत्योपम के असंख्यातवें भाग जानना अर्थात् पहले-पहले योगस्थान में पत्य के असंख्यातवें भाग का गुणा करने पर आगे के योगस्थान का प्रमाण आता है । इसका यह अर्थ हुआ कि ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर जीव की शक्ति का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों योगस्थान में भी वृद्धि होती जाती है । जघन्य योग से जीव जघन्य प्रदेशबंध और उत्कृष्ट योग से उत्कृष्ट प्रदेश-बंध करता है ।

इस प्रकार से योगस्थानों के अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब स्थितिस्थानों का कथन करने हैं -- लिङ्गानां अपजयेर संख्यगुणा--अपर्वाप्त से पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं किन्तु

१ कर्मप्रकृति (बंधनकरण) में असंजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवों का उत्कृष्ट योग असंख्यात गुणा बतलाया है --

अमणानुत्तरमेविज्ज भोगमूमिगयतइयतणुगेसु ।

कमसो असंखगुणिओ सेसेमु म जोग उक्कोसो ॥ १६ ॥

जब असंजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योग को कहने के बाद अनुत्तरवासी देवों आदि के उत्कृष्ट योग का कथन करेंगे तो २८ वाँ स्थान २७ वाँ होगा और कुल मिलाकर सब स्थान ३२ होंगे । कर्मप्रकृति में इसी प्रकार है ।

२ सब जीवों के योग का अल्पबहुत्व भगवती २५।१ में बतलाया है । उसमें पर्याप्त के जघन्य योग से अपर्वाप्त का उत्कृष्ट योग अधिक कहा है । बोल भी आगे पीछे हैं । इसका कारण तो बहुभुतगम्य है ।

३ जो० कर्मकांड भा० २।८ से २।१२ तक योगस्थानों का विस्तृत वर्णन किया है । इसका उपयोगी अंश परिशिष्ट में देखिये ।

इतनी विवेचता है कि 'अपजन्विण् अमंखगुणा' द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं । इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है ।

किसी कर्मप्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के जो भेद होते हैं, वे स्थितिस्थान^१ कहलाते हैं । जैसे किसी कर्मप्रकृति की जघन्यस्थिति १० समय और उत्कृष्टस्थिति १८ समय है तो दस से लेकर अठारह तक स्थिति के नौ भेद होते हैं, जिन्हें स्थितिस्थान कहते हैं । वे स्थितिस्थान भी उत्तरोत्तर संख्यात गुणे हैं किन्तु द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे होते हैं । उनका क्रम इस प्रकार है —

- १ सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के स्थितिस्थान सबसे कम हैं ।
- २ उससे बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यातगुणे हैं ।
- ३ उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ४ उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ५ उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान असंख्यात गुणे हैं ।
- ६ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ७ उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ८ उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ९ उससे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- १० उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- ११ उससे असंजी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।
- १२ उससे असंजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।

१ तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या यतोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । — पंचम कर्मग्रन्थ टीका, पृ० ५५

१३ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।

१४ उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के स्थितिस्थान संख्यात गुणे हैं ।

इस प्रकार स्थिति के प्रमाण में वृद्धि के साथ स्थितिस्थानों की भी संख्या बढ़ती जाती है ।

योग के प्रसंग में योगों के अल्पबहुत्व, स्थितिस्थानों का निरूपण करने के बाद अब अपर्याप्त जीवों के प्रति समय जितने योग की वृद्धि होती है, उसका कथन करते हैं ।

पडखणवसंखगुणविरिध अपज पड्ठिहमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५१॥

शब्दार्थ - पडखण—प्रत्येक समय में, असंखगुणविरिध—असंख्यात गुणा वीर्य वाले, अपज—अपर्याप्त जीव, पड्ठिह—प्रत्येक स्थितिबंध में, असंखलोगसमा—असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण, अज्झवसाया—अध्यवसाय, अहिया अधिक, सत्तसु—सात कर्मों में, आउसु—आयुकर्म में, असंखगुणा—असंख्यात गुणा ।

साधार्थ—अपर्याप्त जीव प्रत्येक समय असंख्यात गुणे वीर्य वाले होते हैं और प्रत्येक स्थितिबंध में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण अध्यवसाय होते हैं । सात कर्मों में तो स्थितिबंध के अध्यवसाय विशेषाधिक और आयुकर्म में असंख्यात गुणे होते हैं ।

विशेषार्थ - पूर्व गाथा में स्थितिस्थानों का प्रमाण बतलाया है । अब यहां बतलाते हैं कि अपर्याप्त जीवों के योगस्थानों में प्रति समय असंख्यात गुणी वृद्धि होती है किन्तु पर्याप्त जीवों में ऐसा नहीं होता है । यह असंख्यात गुणी वृद्धि उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त समझना चाहिए—

सर्वोवि अपञ्जतो पइखणं असंखगुणाए जोगबुद्धीए बद्धईसि ।
एक-एक स्थितिस्थान के कारण असंख्यात अध्यवसायस्थान होते हैं ।

स्थितिबंध के कारण कषायजन्य आत्मपरिणामों को अध्य-
वसायस्थान कहते हैं । कषायों के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद, मंदतर,
मंदतम रूप में उदय होने से अध्यवसायस्थानों के अनेक भेद हो जाते
हैं । एक स्थितिबंध का कारण एक ही अध्यवसायस्थान नहीं है
किन्तु अनेक अध्यवसायस्थान हैं । अर्थात् एक ही स्थिति नाना जीवों
को नाना अध्यवसायस्थानों से बंधती है । जैसे कुछ व्यक्तियों ने दो
सागर प्रमाण की देवायु का बंध किया हो, लेकिन यह आवश्यक नहीं
कि उन सबके सर्वथा एक जैसे परिणाम हों । इसीलिए एक-एक स्थिति-
स्थान के कारण अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण कहे जाते हैं ।

आयुर्कर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के अध्यवसाय-
स्थान विदोषाधिक हैं । जैसे ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति के
कारण अध्यवसायस्थान सबसे कम है, उससे द्वितीय स्थितिस्थान
के कारण अध्यवसाय अधिक हैं, उससे तृतीय स्थितिस्थान के कारण
अध्यवसायस्थान अधिक हैं । इसी प्रकार चौथे, पांचवें यावत् उत्कृष्ट
स्थितिस्थान तक समझना चाहिए । लेकिन इन सबका सामान्य से
प्रमाण असंख्यात लोकप्रमाण ही है । ज्ञानावरण की तरह दर्शना-
वरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म की
द्वितीय आदि स्थिति से लेकर अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबंध पर्यन्त
अध्यवसायस्थानों की संख्या अधिक-अधिक जानना चाहिए ।

लेकिन आयुर्कर्म के अध्यवसायस्थान उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे
हैं । अर्थात् चारों ही आयुर्कर्मों के जघन्य स्थितिबंध के कारण
अध्यवसायस्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं और उसके बाद उनके
दूसरे स्थितिबंध के कारण अध्यवसायस्थान उससे असंख्यात गुणे हैं,

तृतीय स्थितिवन्ध के कारण अव्यवसायस्थान उससे भी असंख्यात गुणों है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिवन्ध पर्यन्त अव्यवसायस्थानों की संख्या असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणों समझना चाहिये ।

इस प्रकार से स्थितिवन्ध की अपेक्षा सब कर्मों के अव्यवसाय स्थानों को बतलाकर अब उन प्रकृतियों के नाम और उनका अवन्ध-काल बतलाते हैं, जिनको पंचेन्द्रिय जीव अधिक-से-अधिक कितने काल तक नहीं बाँधते हैं ।

तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचःपल तेसट्ठं ।

यावरधउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥

अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगयीणतिगं ।

निय नपु इत्थि दुतीसं पणिबिसु अबन्धाठइ परमा ॥५७॥

शब्दार्थ—तिरिनरयति तिर्यञ्चत्रिक और नरकत्रिक, जोयाणं उद्योत नामकर्म का, नरभवजुय मनुष्य भव सहित, सचःपल—चार पत्योपम सहित तेसट्ठ—त्रैसठ (अधिक नौ सागरोपम), यावरधउ - स्वावरचतुष्क, इगविगलायवेसु—एकेन्द्रिय, विक्लेन्द्रिय और आतप नामकर्म में, पणसीइसयं—एक नौ पचासी, अयरा—सागरोपम ।

अपढमसंघयणागिइखगइ—पहले के सिवाय शेष संहत ओर संस्थान और विहायोगति, अण—अनंतानुबन्धी कषाय, मिच्छ—मिथ्यात्व मोहनीय, दुभगयीणतिगं—दुर्भगत्रिक स्थातद्वित्रिक, निय—नीच गोत्र, नपुइत्थि—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, दुतीसं—बत्तीस (नरभवसहित एकसौ बत्तीस सागरोपम), पणिबिसु—पंचेन्द्रिय में, अबन्धाठइ—अवन्ध स्थिति, परमा—उत्कृष्ट ।

शार्थ—तिर्यञ्चत्रिक, नरकत्रिक और उद्योत नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पत्योपम अधिक एकसौ त्रैसठ

सागरोपम उत्कृष्ट अवन्धकाल है। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रिय और आतप नामकर्म का मनुष्य भव सहित चार पत्थोपम अधिक एकसौ पचासी सागरोपम उत्कृष्ट अवन्धकाल जानना चाहिए।

पहले संहनन और संस्थान व विहायोगति के सिवाय शेष पांच संहनन, पांच संस्थान, विहायोगति, अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र, नपुंसक वेद और स्त्री वेद की अबंधस्थिति मनुष्य भव सहित एकसौ बत्तीस सागरोपम है। इन प्रकृतियों की अबंधस्थिति पंचेन्द्रिय में जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में उन उत्तर प्रकृतियों के नाम बताये हैं जिनका उत्कृष्ट अवन्धकाल पंचेन्द्रियों में है। इन प्रकृतियों की कुल संख्या ४१ है जो पहले और दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य हैं। पहले गुणस्थान में बंधयोग्य सोलह और दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य पच्चीस प्रकृतियां हैं। सारांश यह है कि इन इकतालीस प्रकृतियों का बंध उन्हीं जीवों को होता है जो पहले अथवा दूसरे गुणस्थान में होते हैं। जो जीव इन गुणस्थानों को छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं, उनके उक्त इकतालीस प्रकृतियों का बंध तब तक नहीं होता है जब तक वे पुनः उन गुणस्थानों में नहीं आते हैं। दूसरे गुणस्थान से आगे पंचेन्द्रिय जीव ही बढ़ते हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के पहले, दूसरे के सिवाय आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं। इसीलिए गाथा में बताई गई इकतालीस प्रकृतियों के अवन्धकाल को पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा बतलाया है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो पंचेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, उनके तो उक्त इकतालीस प्रकृतियों का बंध

तब तक नहीं हो सकता जब तक वे सम्यक्त्व से च्युत होकर पहले अथवा दूसरे गुणस्थान में नहीं आते, किन्तु पहले अथवा दूसरे गुणस्थान में आने पर भी कभी-कभी उक्त प्रकृतियाँ नहीं बंधती हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर उक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट अवन्धकाल को इन दो गाथाओं में बतलाया है।

इन इकतालीस प्रकृतियों को तीन भागों में विभाजित कर अबन्धकाल बतलाया है। पहले भाग में सात, दूसरे भाग में नौ और तीसरे भाग में पच्चीस प्रकृतियों का ग्रहण किया है। पहले भाग में ग्रहण की गई सात प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—तिर्य्यचत्रिक (तिर्य्यचगति, तिर्य्यचानुपूर्वी, तिर्य्यचायु), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु) और उद्योत। इनका उत्कृष्ट अवन्धकाल—नरभवजुय सचउपरल तेसट्ठं—मनुष्यभव सहित चार पत्य अधिक एक सौ त्रैसठ सागरोपम बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—कोई जीव तीन पत्य की आयु बांधकर देवकुरु भोगभूमि में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसके उक्त सात प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। क्योंकि ये सात प्रकृतियाँ नरक, तिर्य्यच गति योग्य हैं, अतः इन प्रकृतियों का बंध वही करता है जो नरकगति या तिर्य्यचगति में जन्म ले सकता है। किन्तु भोगभूमिज जीव मरकर नियम में देव ही होते हैं। अतः इन नरक, तिर्य्यच गति योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। इसके बाद भोगभूमि में सम्यक्त्व को प्राप्त करके वह एक पत्य की स्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ, अतः सम्यक्त्व होने के कारण वहाँ भी उसने उक्त सात प्रकृतियों का बंध नहीं किया। इसके बाद देवगति में सम्यक्त्व सहित मरण करके मनुष्यगति में जन्म लेकर और दीक्षा धारण कर नीचैः प्रवेयक में ३१ सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व का वसन करके मिथ्यादृष्टि हो गया। मिथ्यादृष्टि हो जाने पर भी प्रवेयक देवों के उक्त सात प्रकृतियाँ जन्म से ही न बंधने

के कारण उनका बंध नहीं हुआ । वहां मरने समय क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति में जन्म लेकर महाव्रत धारण करके दो बार विजयादिक में जन्म लेकर पुनः मनुष्य हुआ । वहां अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे मिथ्य गुणस्थान^१ में चला गया । पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्ग में जन्म लिया । इस प्रकार ग्रंथेयक के ११ सागर, विजयादिक में दो बार जन्म लेने के ६६ सागर और तीन बार अच्युत स्वर्ग में जन्म लेने से वहां के ६६ सागर मिलाने से १६३ सागर होते हैं । इसमें देवकुरु भोगभूमिज की आयु तीन पत्य, देवगति की आयु एक पत्य इस प्रकार चार पत्य और मिला देना चाहिए । बीच में जो मनुष्यभव धारण किये उन्हें भी उसमें जोड़कर मनुष्यभव सहित चार पत्य अधिक एक-सौ तेसठ सागरोपम उक्त सात-प्रकृतियों का अबंधकाल होता है ।^२

१ कर्मग्रन्थिक मत से चौथे गुणस्थान से च्युत होकर जीव तीसरे गुणस्थान में जा सकता है । लेकिन मैट्रांतिक मत इसके विरुद्ध है—

मिच्छन्ता मकंती अविरुद्धा होई सम्ममीसेमु ।

मीसाड वा दोसुं सम्मा मिच्छं न उण मीस ॥ —धृत्क ० पाठ्य ११४

—जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से नीगने और चौथे गुणस्थान में जा सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है तथा मिथ्य गुणस्थान से भी पहले और चौथे गुणस्थान में जा सकता है, किंतु सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जा सकता है, मिथ्य गुणस्थान में नहीं जा सकता है ।

२ पलियाइं तिष्ठि भोगावणिम्मि मञ्जपच्चयं पलियमेगं ।

सोहम्मे मम्मणेण नरभवे सत्त्वविरईण ॥

मिच्छी भवपच्चयओ नेविउजे सागराइं इगतीसं ।

अंतमुहुत्तूणाइं सम्मत्तं तम्मि लिद्धिऊणं ॥

विरयनरभवंतरिओ अणुत्तम्मुरो उ अयर छावट्टी ।

मिस्स मुहुत्तमेगं कामिय मणुओ पुणो विरओ ॥

छावट्टी अवरणं अच्चुयए विरयनरभवंतरिओ ।

तिरिनरधतिगुज्जोयाण एस कालो अबंधमि ॥

इस अबन्धकाल को बतलाने में जो ग्रंथेयक में सम्यक्त्व से पतन बतलाया है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूरा हो जाने के कारण बतलाया है। इसी प्रकार विजयादिक में ६६ सागर पूर्ण कर लेने के बाद मनुष्य भव में जो अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे गुण-स्थान में गमन बतलाया है, वह भी सम्यक्त्व के ६६ सागर पूरे होने के कारण ही बतलाया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है।

दूसरे भाग में स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण), एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वेन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, पतुरिन्द्रिय) और आतप इन नौ प्रकृतियों को ग्रहण किया है। ये नौ प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय प्रायोग्य हैं। इनका उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्य भव सहित चार पत्य अधिक एक सौ पचासी सागर बतलाया है। जो इस प्रकार है—कोई जीव २२ सागर की स्थिति को लेकर छठे नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ इन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। क्योंकि नरक से निकलकर जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक होता है, एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय नहीं। वहाँ मरते समय सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य-गति में जन्म हुआ और अणुव्रती होकर मरण करके चार पत्य की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर महाव्रत धारण करके नौवें ग्रंथेयक में इकतीस सागर की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ अन्तर्मुहूर्त के बाद मिथ्यादृष्टि हो गया। अन्त समय में सम्यग्दृष्टि होकर मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर महाव्रत पालन करके दो बार विजयादिक में उत्पन्न हुआ और इस प्रकार ६६ सागर पूरे किये। पहले की तरह मनुष्य पर्याय में अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और इस प्रकार दूसरी बार ६६ सागर पूर्ण

किये । इन सब कालों को जोड़ने से मनुष्य भव सहित चार पत्य अधिक $२२ + २१ + ६६ + ६६ = १८५$ सागर उत्कृष्ट अबन्धकाल होता है ।^१

तीसरे भाग में ग्रहण की गई २५ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड संस्थान, अशुभ विहायोगति, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्राक्शा-प्रचला, रत्यान्धि, पीव गोत, नपुंसकेश, स्त्रीवेद ।

इन पच्चीस प्रकृतियों का अबन्धकाल मनुष्यभवा सहित १३२ सागर है । जो इस प्रकार जानना चाहिए कि कोई जीव महाव्रत धारण कर मरकर दो बार विजयादिक में उत्पन्न हुआ और इस प्रकार सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर पूर्ण किया । पुनः मनुष्यभवा में अन्तर्मुहूर्त के लिये मिश्र गुणस्थान में आकर और पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करके तीन बार अच्युत स्वर्ग में जन्म लेकर दूसरी बार सम्यक्त्व का काल ६६ सागर पूर्ण किया । इस प्रकार $६६ + ६६ = १३२$ हुए । इसी-लिये उक्त पच्चीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल मनुष्यभवा सहित १३२ सागर होता है ।^२

इस प्रकार से उक्त इकतालीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाकर अब आगे यह बतलाते हैं कि उक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट

१ छट्टीए नेरहओ भवपचचयओ उ अयर बावीसं ।

देसविरओ य भविउं पलियचउक्कं पढमकप्पे ।

पुब्बुत्तकालजोगो पंचासीयं सयं सचउपल्लं ।

आयदथावरचउविगलतियगएगिदिय अबंधो ॥

२ पणवीसाए अबंधो उक्कोसो होइ सम्मसीसजुए ।

वसीसं सयमयरा, दो विजए अचुए तिभवा ॥

अबन्धकाल १६२ सागर आदि क्यों है ? और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण क्या है ?

विजयाइसु नेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।

पणसीइ सययबंधो पल्लतिगं सुरावडिदुगे ॥४८॥

अर्थ—विजयाइसु—विजयादि में, नेविज्जे—नेत्रेयक में, तमाई—तमःप्रभा नरक में, दहिसय—एक सौ सागरोपम, दुतीस—दत्तीस, तेसट्ठं—तेसठ सागरोपम, पणसीइ—पचासी सागरोपम, सययबंधो—निरन्तर बंध, पल्लतिगं—तीन पल्ल, सुरावडिदुगे—सुरावडि और वैक्रियडि में ।

गाथा—विजयादिक में, नेत्रेयक और विजयादिक में तथा तमःप्रभा और नेत्रेयक में गये जीव की उत्कृष्ट अबन्धस्थिति अनुक्रम से एक सौ दत्तीस, एक सौ तेसठ और एक सौ पचासी सागरोपम मनुष्यभव सहित होती है । देवद्विक और वैक्रियद्विक का निरन्तर बंधकाल तीन पल्ल है ।

विशेषार्थ—इससे पूर्व की दो गाथाओं में जो ४१ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल बतलाया वह किस प्रकार घटित होता है, इसका संकेत यहां किया गया है तथा अध्रुवबंधिनी तिहत्तर प्रकृतियों में से कुछ प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल को बतलाया है ।

यद्यपि अबन्धकाल का स्पष्टीकरण पूर्व की दो गाथाओं के भावार्थ में कर दिया गया है, तथापि प्रसंगवशात् पुनः यहां भी करते हैं ।

एक सौ दत्तीस सागर इस प्रकार होते हैं कि विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानों में से किसी एक विमान में दो बार जन्म लेने पर एक बार के ६६ सागर पूर्ण होते हैं । फिर अन्तर्मुहूर्त के लिये तीसरे गुणस्थान में आकर पुनः अच्युत स्वर्ग में तीन बार

जन्म लेने में दूसरी बार के ६६ सागर पूर्ण होते हैं। इस प्रकार विजयादिक में जन्म लेने में १३२ सागर पूर्ण होते हैं।

एक सौ त्रैसठ सागर इस प्रकार होते हैं कि नौवें ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु भोगकर वहां से च्युत होकर मनुष्यगति में जन्म लेकर पूर्व की तरह विजयादिक में दो बार जाने से दो बार छियासठ सागर पूर्ण करने पर एक सौ त्रैसठ सागर पूर्ण होते हैं।

एक सौ पचासी सागर होने के लिये इस प्रकार समझना चाहिए कि तमःप्रभा नामक छठे नरक में बाईस सागर की स्थिति पूर्ण कर उसके बाद नौवें ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु भोगकर उसके बाद विजयादिक में दो बार छियासठ सागर पूरे करने से एक सौ पचासी सागर का अन्तराल होता है।

इस प्रकार इकतालीस प्रकृतियां अधिक-से-अधिक इतने काल तक पंचेन्द्रिय जीव के बंध को प्राप्त नहीं होती हैं।

अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के निरन्तर बंधकाल के जघन्य व उत्कृष्ट प्रमाण का विवेचन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम उत्कृष्ट बंधकाल बतलाते कि -पल्लतिर्गं सुरविडन्विदुगे—यानी देवद्विक (देवगति और देवानुपूर्वी) तथा वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग) इन चार प्रकृतियों का बंध यदि बराबर होता रहे तो अधिक-से-अधिक तीन पल्य तक हो सकता है।

इसका कारण यह है कि भोगभूमिज जीव जन्म से ही देवगति के योग्य इन चार प्रकृतियों को तीन पल्योपम काल तक बराबर बांधते हैं। क्योंकि भोगभूमिज जीवों के नरक, तिर्यन् और मनुष्यगति के योग्य नामकर्म की प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। इसलिए परिणामों में अन्तर पड़ने पर भी इन चार प्रकृतियों की किसी विरोधिनी प्रकृति का बंध नहीं होता है।

अब बागे की चार गाथाओं में शेष प्रकृतियों के नाम गिनाकर उनके निरन्तर बंध के समय को बतलाते हैं ।

समयादसंखकाल तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुह ।
 उरलि असंखपरट्टा सायठिई पुण्वकोट्टणा ॥५६॥
 जलहिसयं पणसीय परघुस्सासे पणिदितसचउगे ।
 बत्तीस सुहविहगइपुमसुभगातिगुच्चचउरसे ॥५७॥
 असुखगइजाइआगिइ संघयणाहारनरयओयवुगं ।
 थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थोदुजुयलससायं ॥५८॥
 समयादंतमुहसं भणुदुगजिणवहरउरलवंगेसु ।
 तित्तोसयरा परमा अंतमुह लह वि आउजिणे ॥५९॥

शब्दार्थ—समयादसंखकाल—एक समयसे लेकर असंख्य काल तक, तिरिदुगनीएसु त्रियेचद्विक और नीचगोत्र का, आउ आयु-कर्म का, अंतमुह—अन्तर्मुहूर्त तक, उरलि—श्रीदारिक शरीर का, असंख परट्टा—असंख्यात पुद्गल परावर्त, सायठिई—सातावेदनीय का बंध, पुण्वकोट्टणा—पूर्व कोटि वर्ष से न्यून ।

जलहिसयं—एक सौ सागरोयम, पणसीय पचासी, पर-घुस्सासे—पराधात और उच्छ्वास नामकर्म का, पणिदि पंचेन्द्रिय जाति का, ससचउगे—समचतुष्क का, बत्तीस—बत्तीस, सुह-विहगइ—शुभ विहायोगति, पुम—पुरुष वेद, सुभगातिग—सुभगविक, उच्च—उच्चगोत्र, चउरसे—समचतुरस्रसंस्थान का ।

असुखगइ—अशुभ विहायोगति, जाइ—एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक जगति, आगिइसंघयण—पहले के सिवाय पांच संस्थान और पांच भंहन, आहारनरयओयवुगं—आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, थिरसुभजस—स्थिर, शुभ, यशःकोति नाम,

आश्वरवस—स्थावर दशक, नपुंसक वेद, स्त्री वेद, दुग्धल—दो युगल, असाय—असाता वेदनीय का ।

समयार्हतमुहूर्त—एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, मनुष्य—मनुष्यद्विक, जिण—तीर्थकर नामकर्म, बद्धर—वज्र-ऋषभनाराच संहनन, उरलुबंगेसु—औदारिक अंगोपांग का, तिस्ती-सयरा—तेलीस सागरोपम, परमो—उत्कृष्ट बंध, अंतर्मुहूर्त—अन्तर्मुहूर्त, लङ्कावि—अग्रन्य बंध भी, आउजिणे—आयुर्कर्म और तीर्थकर नाम का ।

गाथार्थ—तिर्यचद्विक और नीच गोत्र का एक समय से लेकर असंख्यात काल तक निरंतर बंध होता है । आयुर्कर्म का अन्तर्मुहूर्त, औदारिक शरीर का असंख्यात पुद्गल परावर्त और साता वेदनीय का कुछ कम पूर्व कोड़ी तक निरंतर बंध होता है ।

पराघात, उच्छ्वास, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसचतुष्क का एकसौ पचासी सागरोपम निरंतर बंध होता है । शुभ विहायोगति, पुरुष वेद, सुभगत्रिक, उच्च गोत्र और समचतुरस्र संस्थान का उत्कृष्ट निरंतर बंध एक सौ बत्तीस सागरोपम होता है ।

अशुभ विहायोगति, एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक अशुभ जातिचतुष्क, पहले के सिवाय पांच संस्थान, पांच संहनन, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशः-कीर्ति नामकर्म, स्थावर दशक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, दो युगल और असाता वेदनीय का—

एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरंतर बंध होता है । मनुष्यद्विक, तीर्थकर नामकर्म, वज्रऋषभनाराच

संहनन और औदारिक अंगोपांग नामकर्म का तैत्तिरीय सागरोपम उत्कृष्ट सतत बंध होता है। चार आयु और तीर्थ-कर नामकर्म का जघन्य निरंतर बंध भी अन्तर्मुहूर्त होता है।

विशेषार्थ- इन चार गाथाओं में अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के नाम तथा उनके निरंतर बन्ध होने के उत्कृष्ट समय को बतलाया है। इन प्रकृतियों के निरंतर बन्ध होने के जघन्य समय का संकेत इसलिये नहीं किया है क्योंकि अध्रुवबन्धिनी होने से एक समय के बाद भी इनका बन्ध हो सकता है।

सभी प्रकृतियों का निरंतर बन्धकाल समान नहीं होने से समान समय वाली प्रकृतियों के वर्ग बनाकर उन-उन के बन्ध का समय बतलाया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किये जा रहा है।

तिर्य्यचद्विक (तिर्य्यचगति, तिर्य्यचानुपूर्वी) और नीच गोत्र का बन्धकाल एक समय से लेकर असंख्यात काल हो सकता है - समयाद-संखकालं तिरिदुगनीएसु। इसका कारण यह है कि उक्त तीन प्रकृतियाँ जघन्य से एक समय तक बंधती हैं, क्योंकि दूसरे समय में इनकी विपक्षी प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। किन्तु जब कोई जीव तेजस्काय और वायुकाय में जन्म लेता है तो उसके तिर्य्यचद्विक व नीच गोत्र का निरंतर बन्ध होता रहता है, जब तक वह उस काय में बना रहता है। तेजस्काय और वायुकाय के जीवों में तिर्य्यचद्विक के सिवाय अन्य किसी गति और आनुपूर्वी का बन्ध नहीं होता और न उच्च गोत्र का ही। तेजस्काय व वायुकाय में जन्म लेने वाला जीव लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं, अधिक-से-अधिक उतने समय तक बराबर तेजस्काय व वायुकाय में जन्म लेता रहता है। इसीलिए इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल असंख्यात समय अर्थात्

असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी बतलाया है। सातवें नरक में भी इन तीन प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध होता रहता है।

आयुर्कर्म की चारों प्रकृतियों—नरक, तिर्य्यच, मनुष्य और देवायु का जन्मन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है—अतः अन्तर्मुहूर्त। क्योंकि आयुर्कर्म का एक भव में एक ही बार बन्ध होता है और वह भी अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता रहता है।

औदारिक शरीर नामकर्म का एक समय से लेकर उत्कृष्ट बन्धकाल असंख्यात पुद्गल परावर्त है। क्योंकि जीव एक समय तक औदारिक शरीर का बन्ध करके दूसरे समय में उसके विपक्षी वैक्रिय शरीर आदि का भी बन्ध कर सकता है तथा असंख्यात पुद्गल परावर्त का समय इसलिए माना जाता है कि स्थावरकाय में जन्म लेने वाला जीव असंख्यात पुद्गल परावर्त काल तक स्थावरकाय में पड़ा रह सकता है। तब उसके औदारिक के सिवाय अन्य किसी भी शरीर का बन्ध नहीं होता है।

‘सायठिई पुव्वकोडूणा’ साता वेदनीय का उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ कम एक पूर्व कोटि है। जब कोई जीव एक समय तक साता वेदनीय का बन्ध करके दूसरे समय में उसकी प्रतिपक्षी असाता वेदनीय का बन्ध करता है तब तो उसका काल एक समय ठहरता है और जब कोई कर्मभूमिज मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के पश्चात् जिन दीक्षा धारण करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसके कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि काल तक निरन्तर साता वेदनीय का बन्ध होता रहता है। क्योंकि छठे गुणस्थान के बाद साता वेदनीय की विरोधिनी असाता वेदनीय प्रकृति का बन्ध नहीं होता है तथा कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि की होती है, अतः

साता वेदनीय का निरन्तर उत्कृष्ट बन्धकाल कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटि बतलाया है ।^१

एक सौ पचासी सागर तक निरन्तर बन्धने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं - 'परधुस्सासे पर्णिदि तसचउगे—पराघात, उच्छ्वास, पंचेन्द्रिय जाति और तसचतुष्क, कुल ये सात प्रकृतियां हैं । इन प्रकृतियों के अध्रुवबन्धिनी होने से कम-से-कम इनका निरन्तर बन्धकाल एक समय है । क्योंकि एक समय के बाद इनकी विपक्षी प्रकृतियां इनका स्थान ले लेती हैं तथा उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसौ पचासी सागर है ।

यद्यपि गाथा में उक्त सात प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध के उत्कृष्ट समय को एक सौ पचासी सागर बताया है और पंचसंग्रह में भी इसी प्रकार कहा है । लेकिन इसके साथ चार पत्य अधिक और जोड़ना चाहिये ।^२ क्योंकि इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों का जितना अबन्धकाल होता है उतना ही इनका बन्धकाल है । गाथा ५६ में इनकी प्रतिपक्षी स्थावरचतुष्क आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट अबन्धकाल चार पत्य अधिक एकसौ पचासी सागरोपम बतलाया है, अतः इनका बन्ध-

१ देशेनपूर्वकोटिमावनात्वेष्टा इह किल कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गभंस्थो नवमामान सातिरेकान् गमयति, आतोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद् देशविरति मर्वविरति वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्था-
भाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात् ।

—पंचसंग्रह मलयगिरि टीका, पृ० ७६

२ इह च 'पचतुःपत्यम्' इति अनिर्देशेऽपि 'सचतुःपत्यम्' इति व्याख्यानं कार्यम् । यतो यावान्तेहिपक्षस्याबन्धकालस्तावानेयासां बन्धकाल इति । पचसंग्रहादी च उपलक्षणादिना केनचित् कारणेन यन्नोक्तं तदभिप्रायं न विभ्र इति ।

—पंचम कर्षयन्प स्वीपक्ष टीका, पृ० ६०

काल उतना ही समझना चाहिये । क्योंकि उनके अवन्धकाल में ही इनका बन्ध हो सकता है । इस समयप्रमाण को इस प्रकार समझना चाहिए कि—

कोई जीव बाईस सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करके छठे नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ पराधात आदि इन सात प्रकृतियों की प्रतिपत्ती प्रकृतियों का बन्ध न होने से इन सात प्रकृतियों का निरन्तर बन्ध किया और अंतिम समय में सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्यगति में जन्म लिया । यहाँ अणुव्रतों का पालन करके चार पत्य की स्थिति वाले देवों में जन्म लिया और सम्यक्त्व सहित मरण करके पुनः मनुष्य हुआ और महाव्रत धारण करके मरकर नौवें श्रवैयक में इकतीस सागर की आयु वाला देव हुआ । वहाँ मिथ्यादृष्टि होकर मरते समय पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य हुआ । वहाँ से तीन बार मर-मरकर अच्युत स्वर्ग में जन्म लिया और इस प्रकार छियासठ सागर पूर्ण किये । अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे मिश्र गुणस्थान में आया और उसके बाद पुनः सम्यक्त्व प्राप्त किया और दो बार विजयादिक में जन्म लेकर छियासठ सागर पूर्ण किये । इस प्रकार छठे नरक वगैरह में भ्रमण करते हुए जीव को कहीं भवस्वभाव से और कहीं सम्यक्त्व के कारण पराधात आदि प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है ।

शुभ विहायोगति, पुरुषवेद, सुभगत्रिक, उच्चगोत्र और समचतुरस्र संस्थान इन सात प्रकृतियों का उत्कृष्ट निरन्तर बन्धकाल एकसी बत्तीस^१

१ पंचसंग्रह की टीका में इन प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल तीन पत्य अधिक एक सी बत्तीस सागर बताया है । वहाँ कहा है कि तीन पत्य की आयु वाला तिर्यच अथवा मनुष्य भव के अंत में सम्यक्त्व को प्राप्त करके पहले बताये हुये क्रम से १३२ सागर तक संसार में भ्रमण करता है ।

सागर है। अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियां होने से इनका जघन्य बन्धकाल एक समय है लेकिन उत्कृष्ट बन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर होने का कारण यह है कि गाथा ५७ में इनकी विपक्षी प्रकृतियों का उत्कृष्ट अवन्धकाल एकसौ बत्तीस सागर बताया है, अतः इनका बन्धकाल उसी क्रम से उतना ही समझना चाहिये।

एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक बन्धने वाली इकतालीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

अशुभ विहायोगति, अशुभ जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), वज्रक्षयभनाराच संहनन को छोड़कर वेष क्षयभनाराच आदि पांच अशुभ संहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पांच अशुभ संस्थान, आहारकद्विक, नरकद्विक, उद्योतद्विक, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति, स्थावर दशक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, युगलद्विक, (हास्य-रति और शोक-अरति) और असाता वेदनीय।

उक्त इकतालीस प्रकृतियों का निरन्तर बन्धकाल कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त बताया है। ये प्रकृतियां अध्रुवबन्धिनी हैं अतः अपनी-अपनी विरोधी प्रकृतियों की बन्धयोग्य सामग्री के होने पर इनका अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् बन्ध रुक जाता है। इन इकतालीस प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध होने के उत्कृष्ट काल को अन्तर्मुहूर्त मानने का कारण यह है कि साता वेदनीय, रति, हास्य, स्थिर, शुभ और यशःकीर्ति की विरोधिनी प्रकृतियां असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति का बन्ध छोटे गुणस्थान तक होता है, अतः वहां तक तो इनका निरन्तर बन्ध अन्तर्मुहूर्त तक होता है किन्तु उसके बाद के गुणस्थानों में भी इनका बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है, क्योंकि उन गुणस्थानों का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), तीर्थंकर नाम, वज्रऋषभ-
नाराच संज्ञक, आचारिक बंधोपास का निरन्तर बंधकाल उत्कृष्ट से
तेतीस सागर है। क्योंकि अनुत्तरवासी देवों के मनुष्यगति के योग्य
प्रकृतियों का हो बंध होता है। जिससे वे अपने जन्म-समय से लेकर
तेतीस सागर की आयु तक उक्त प्रकृतियों की विरोधिनी नरकद्विक,
तिर्य्यचद्विक, देवद्विक, वैक्रियद्विक, पांच अशुभ संहनन ऋषभनाराच
आदि का बंध नहीं करते हैं। तीर्थंकर प्रकृति की कोई विरोधिनी
प्रकृति नहीं है, अतः उसका भी तेतीस सागर तक बराबर बंध होता है।

मनुष्यद्विक आदि उक्त पांच प्रकृतियों में से तीर्थंकर प्रकृति के
सिवाय चार प्रकृतियों का जघन्य बंधकाल एक समय है, क्योंकि उनकी
विरोधिनी प्रकृतियाँ हैं।

सामान्यतः यह बताया गया है कि अध्वन्यबंधिनी प्रकृतियों का
जघन्य बंधकाल एक समय है। लेकिन कुछ प्रकृतियों के जघन्य बंध-
काल में विशेषता होने से ग्रन्थकार ने संकेत किया है कि 'लहू वि आउ-
जिणे'—चार आयुक्रमों और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य बंधकाल भी
अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म और नरकायु आदि चार
आयु, कुल पांच प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य बंधकाल अन्तर्मुहूर्त
ही है। न कि जघन्य बंधकाल एक समय और उत्कृष्ट बंधकाल अन्त-
र्मुहूर्त है।

आयुक्रम के बंधकाल के बारे में पहले बता चुके हैं कि एक भव में
एक बार ही आयु का बंध होता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त के लिये
ही होता है। तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण इस
प्रकार समझना चाहिए कि कोई जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके
उपशम श्रेणि चढ़ा, वहाँ नीचे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक तीर्थंकर
प्रकृति का बंध नहीं किया क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बंध का निरोध

आठवें गुणस्थान के छठे भाग में ही हो जाता है। पुनः उपशम श्रेणि से गिरकर अन्तर्मुहूर्त तक तीर्थकर प्रकृति का बंध करके वह जीव उपशम श्रेणि चढ़ा और वहाँ उसका अवन्धक हुआ। उस समय तीर्थकर प्रकृति का जघन्य बंधकाल अन्तर्मुहूर्त घटित होता है।

इस प्रकार से अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के निरन्तर^१ बंधकाल के कथन के साथ स्थितिबंध का विवेचन पूर्ण होता है। अब आगे रसबंध (अनुभाग बंध) का विवेचन करते हैं।

रसबंध

बंध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और रस इन चार भेदों में से प्रकृति-बंध और स्थितिबंध का वर्णन करने के बाद अब रसबंध अथवा अनुभाग बंध का वर्णन करते हैं। सबसे पहले ग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणों को बतलाते हैं।

तिथ्वो असुहसुहाणं संकेतबिसोहिओ विवज्जयउ ।

मवरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहि ॥६३॥

चउठाणाई असुहा सुद्धहा विग्घदेसघाइआवरणा ।

पुमसंजलणिगवुतिचउठाणरसा सेभ दुगभाई ॥६४॥

शब्दार्थ— तिथ्वो—तीव्ररस, असुहसुहाणं—अशुभ और शुभ प्रकृतियों का, संकेतबिसोहिओ—संक्लेश और विशुद्धि द्वारा, विवज्ज-

१ गो० कर्मकांड में अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का सिर्फ जघन्य बन्धकाल ही बतलाया है—

अवरो भिण्णमुहुतो तित्थाहाराण सक्कआऊणं ।

समओ छावट्ठीणं बंधो तम्हा दुधा सेसा ॥ १२३

तीर्थकर, आहारकट्टिक और चार आयुओं के निरन्तर बंध होने का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष छियासठ प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध का जघन्य काल एक समय है।

यद्—विपरीतता से, मंदरसो—मंदरल, गिरिमहिरयजस्त्रेहा—
पर्वत, पृथ्वी, रेती और जल की रेखा के, सरित—ममान, कसाएहि—
कषाय द्वारा ।

चउठाणार्ह—चतुःस्थानादि, असुहा—अशुभ प्रकृतियों में, सुह-
ग्रहा—शुभ प्रकृतियों में विपरीतता से, विग्धदेसघादआवरणा—
अन्तराय और देशघाती आवरण प्रकृतियां, पुमसंजलण—पुरुषवेद
और संज्वलन कषाय, इगवुतिचउठाणरसा—एक, दो, तीन, चार
स्थानिक रसयुक्त, सेसा—बाकी की प्रकृतियां, कुममाइ—दो आदि
स्थानिक रसयुक्त ।

नाथार्थ—अशुभ और शुभ प्रकृतियों का तीव्र रस अनु-
क्रम से संक्लेश और विगुद्धि के द्वारा बंधता है । पर्वत, पृथ्वी,
रेती और पानी में की गई रेखा के समान कषाय द्वारा—

अशुभ प्रकृतियों में चतुःस्थानिक आदि रस होता है
और शुभ प्रकृतियों में विपरीतता द्वारा चतुःस्थानिक आदि
रस होता है । पांच अन्तराय, देशघाती आवरण करने वाली
प्रकृतियां, पुरुषवेद और संज्वलन कषाय चतुष्क, ये प्रकृतियां
एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चारस्थानिक रस-
युक्त और बाकी की प्रकृतियां द्विस्थानिक आदि तीन प्रकार
के रसयुक्त बंधती हैं ।

लिशेवार्थ—लोक में कार्मण वर्गणार्थे व्याप्त हैं । इन कर्म परमाणुओं
में जीव के साथ बंधने से पहले किसी प्रकार का रस—फलजनन शक्ति
नहीं रहती है । किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तब
ग्रहण करने के समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामों का निमित्त
पाकर उनमें अमंतगुणा रस पड़ जाता है जो अपने विपाकोदय में उस-
उस रूप में अपना-अपना फल देकर जीव के गुणों का घात करते हैं ।

इसीलिए बंध को प्राप्त कर्म पुद्गलों में फल देने की जो शक्ति होती है, उसे रसबंध अथवा अनुभाग बंध कहते हैं। इसको अब उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुँचकर वह दूध के रूप में परिणत होता है तथा उसके रस में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। अर्थात् उमी सूखे घास को खाकर ऊंटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई भी बहुत अधिक होती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई है तथा बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढ़ापन व चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कायाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते हैं। जो यथासमय अपना फल देते हैं।

जैसे ऊंटनी के दूध में अधिक शक्ति होती है और बकरी के दूध में कम। वैसे ही शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का अनुभाग तीव्र भी होता है और मंद भी। अर्थात् अनुभाग बंध के दो प्रकार हैं—तीव्र अनुभाग बंध और मंद अनुभाग बंध। ये दोनों प्रकार के अनुभाग बंध शुभ प्रकृतियों में भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियों में भी। इसीलिये ग्रन्थकार ने अनुभाग बंध का वर्णन शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध के कारणों को बतलाते हुए प्रारंभ किया है।

अशुभ और शुभ प्रकृतियों के तीव्र और मंद अनुभाग बंध होने के कारणों को बतलाने हुए कहा है कि संक्लेश परिणामों से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बंध होता है और विषुद्ध भावों से शुभ

प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा इससे विपरीत भावों से मंद अनुभाग बंध होता है अर्थात् विशुद्ध भावों से अशुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध तथा संक्लेश भावों से शुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध होता है ।

अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को नीम वगैरह के कड़ुवे रस की उपमा और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को ईख के रस की उपमा दी जाती है । इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे नीम का रस कटुक होता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियों को अशुभ फल देने के कारण उनका रस बुरा समझा जाता है । ईख का रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियों का रस सुखदायक होता है ।

अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों के तीव्र और मंद रस की चार-चार अवस्थायें होती हैं । जिनका प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथा २ की व्याख्या में संकेत मात्र किया गया है । यहां कुछ विशेष रूप में कथन करते हैं ।

तीव्र और मंद रस की अवस्थाओं के चार-चार प्रकार इस तरह हैं—१ तीव्र, २ तीव्रतर, ३ तीव्रतम, ४ अत्यन्त तीव्र और १ मंद, २ मंदतर, ३ मंदतम और अत्यन्त मंद । यद्यपि इसके असंख्य प्रकार हैं यानी एक-एक के असंख्य प्रकार जानना चाहिये लेकिन उन सबका समावेश इन चार स्थानों में हो जाता है । इन चार प्रकारों को क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक कहा जाता है । अर्थात् एकस्थानिक से तीव्र या मंद, द्विस्थानिक से तीव्रतर या मंदतर, त्रिस्थानिक से तीव्रतम या मंदतम और चतुःस्थानिक से अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मंद का ग्रहण करना चाहिये । इनको इस तरह समझना चाहिये कि जैसे नीम का तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से ही कटुक होता है ओ उसकी तीव्र अवस्था है । जब उस रस

को अग्नि पर पकाने से सेर का आधा सेर रह जाता है तो वह कटुक-तर हो जाता है, यह अवस्था तीव्रतर है। सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम हो जाता है, यह तीव्रतम अवस्था है और जब सेर का पाव भर रह जाता है जो अत्यन्त कटुक है, यह अत्यन्त तीव्र अवस्था होती है। यह अशुभ प्रकृतियों के तीव्र रस (अनुभाग) को चार अवस्थाओं का दृष्टान्त है। शुभ प्रकृतियों के तीव्र रस की चार अवस्थाओं का दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे ईख के पेरने पर जो स्वाभाविक रस निकलता है, वह स्वभाव से मधुर होता है। उस रस को आग पर पका कर सेर का आधा सेर कर लिया जाता है तो वह मधुरतर हो जाता है और सेर का एक तिहाई रहने पर मधुरतम और सेर का पाव भर रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इस प्रकार तीव्र रस को चार अवस्थाओं को समझना चाहिये।

अब मंद रस की चार अवस्थाओं को स्पष्ट करते हैं। जैसे नोम के कटुक रस या ईख के मधुर रस में एक चुल्लू पानी डाल देने पर वह मंद हो जाता है। एक गिलास पानी डालने पर मंदतर, एक लोटा पानी डालने पर मन्दतम तथा एक घड़ा पानी डालने पर अत्यन्त मंद हो जाता है। इसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियों के मंद रस की मंद, मंदतर, मन्दतम और अत्यन्त मंद अवस्थाएँ समझना चाहिये।

इस तीव्रता और मंदता का कारण कषाय की तीव्रता और मंदता है। तीव्र कषाय से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र और शुभ प्रकृतियों में मंद अनुभाग बंध होता है और मंद कषाय से अशुभ प्रकृतियों में मंद और शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बंध होता है। अर्थात् संक्लेश परिणामों की वृद्धि और विशुद्ध परिणामों की हानि से अशुभ प्रकृतियों का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र तथा शुभ प्रकृतियों का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त मंद अनुभाग बंध होता है और विशुद्ध परिणामों की वृद्धि तथा संक्लेश परिणामों की हानि से शुभ प्रकृतियों

का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का मंद, मंदतर, मंदतम और अत्यन्त-मंद अनुभाग बंध होता है।

अब तीव्र और मंद अनुभाग बंध के उक्त चार-चार भेदों के कारणों का निर्देश करते हैं कि 'गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहि'—पर्वत की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान, धूलि की रेखा के समान और जल की रेखा के समान कषाय परिणामों से क्रमशः अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), तीव्रतम (त्रिस्थानिक), तीव्रतर (द्विस्थानिक) और तीव्र (एकस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। यह संकेत अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा से किया गया है और शुभ प्रकृतियों में इसके विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् जल व धूलि रेखा के समान परिणामों से अत्यन्त तीव्र (चतुःस्थानिक), पृथ्वी की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतम (त्रिस्थानिक) और पर्वत की रेखा के समान परिणामों से तीव्रतर (द्विस्थानिक) अनुभाग बंध होता है। शुभ प्रकृतियों में तीव्र (एकस्थानिक) रस बंध नहीं होता है, जिसका विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

पूर्व में यह बताया गया है कि अनुभाग बंध का कारण कषाय है और तीव्र, तीव्रतर आदि व मंद, मंदतर आदि चार-चार भेद अनुभाग बंध के ही हैं। इनका कारण हेतु काषायिक परिणामों की अवस्थायें हैं। कषाय के चार भेद हैं क्रोध, मान, माया और लोभ और इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थायें होती हैं। अर्थात् क्रोध कषाय की चार अवस्थायें होती हैं। इसी प्रकार मान की, माया की और लोभ की चार-चार अवस्थायें होती हैं। जिनके नाम क्रमशः अनन्तानुबंधी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कषाय हैं। शास्त्रकारों ने इन चारों कषायों के लिये चार उपमायें दी हैं। जिनका संकेत गाथा में किया गया है। अनन्तानुबंधी कषाय

की उपमा पर्वत की रेखा से दी जाती है। जैसे पर्वत में पड़ी दरार सैकड़ों वर्ष बीतने पर भी नहीं मिटती है, वैसे ही अनन्तानुबंधी कषाय की वासना भी असंख्य अन्तों तक बनी रहती है। इस कषाय के उदय से जीव के परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट होते हैं और पाप प्रकृतियों का अत्यन्त तीव्र रूप चतुःस्थानिक अनुभाग बंध करता है। किन्तु शुभ प्रकृतियों में केवल मधुरतर रूप द्विस्थानिक ही रसबंध करता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबंध नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय को पृथ्वी की रेखा की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे तालाब में पानी सूख जाने पर जमीन में दरारें पड़ जाती हैं और वे दरारें समय पाकर पुर जाती हैं। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है कि इस कषाय की वासना भी अपने समय पर शांत हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर अशुभ प्रकृतियों में भी त्रिस्थानिक रसबंध होता है और शुभ प्रकृतियों में भी त्रिस्थानिक रसबंध होता है। अर्थात् कटुकतम और मधुरतम अनुभाग बंध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय को बालू या धूलि की रेखा की उपमा दी जाती है। जैसे बालू में खींची गई रेखा स्थायी नहीं होती है, जल्दी ही पुर जाती है। उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषाय की वासना को समझना चाहिए कि वह भी अधिक समय तक नहीं रहती है। इस कषाय का उदय होने पर पाप प्रकृतियों में द्विस्थानिक अर्थात् कटुकतर तथा पुण्य प्रकृतियों से चतुःस्थानिक रसबंध होता है।

संज्वलन कषाय की उपमा जलरेखा से दी जाती है। जैसे जल में खींची गई रेखा खींचने के साथ ही तत्काल मिटती जाती है, वैसे ही संज्वलन कषाय की वासना भी अन्तर्मुहूर्त में ही नष्ट हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर पुण्य प्रकृतियों में चतुःस्थानिक रसबंध

होता है और पाप प्रकृतियों में केवल एकस्थानिक अर्थात् कटुक रूप ही रसबंध होता है ।

इस प्रकार अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कपाय से अशुभ प्रकृतियों में क्रमशः चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबंध होता है तथा शुभ प्रकृतियों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबंध होता है ।

अनुभाग बंध के चारों प्रकारों के कारण चारों कपायों को बतलाकर अब किस प्रकृति में कितने प्रकार का रसबंध होता है, यह स्पष्ट करते हैं ।

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में ८२ अशुभ प्रकृतियाँ और ४२ शुभ प्रकृतियाँ हैं ।^१ इन ८२ पाप प्रकृतियों में से अन्तराय कर्म की ५, ज्ञानावरण की केवलज्ञानावरण को छोड़कर दोष ४, दर्शनावरण की केवलदर्शनावरण को छोड़कर चक्षुदर्शनावरण आदि ३, संज्वलन कपाय चतुष्क और पुरुषवेद इन सत्रह प्रकृतियों में एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक, इस प्रकार चारों ही प्रकार का रसबंध होता है ।^२ क्योंकि ये सत्रह प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं । घाति कर्मों की जो सर्वघातिनी प्रकृतियाँ हैं उनके तो सभी स्पर्धक सर्वघाती ही है किन्तु देशघाति प्रकृतियों के कुछ स्पर्धक सर्वघाती होते हैं और कुछ स्पर्धक देशघाती । जो स्पर्धक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस वाले होते हैं

१ वणचतुष्क को पुण्य और पाप दोनों रूप होने से दोनों में ग्रहण किया जाता है । जब उन्हें पुण्य प्रकृतियों में ग्रहण करें तब पाप प्रकृतियों में और पाप प्रकृतियों में ग्रहण करें तब पुण्य प्रकृतियों में ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

२ आवरणदेसघादंतरायसजलणपुरससत्तरसं ।

चटुविभ्रभावपरिणदा तिदिधा भावा द्व सेतानं ।

वे तो नियम से सर्वघाती ही होते हैं और जो स्पर्धक द्विस्थानिक रस वाले होते हैं, वे देशघाती भी होते हैं और सर्वघाती भी, किन्तु एकस्थानिक रस वाले स्पर्धक देशघाती ही होते हैं ।^१ इसीलिये इन सबह प्रकृतियों का एक, द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक, चारों प्रकार का रसबंध माना जाता है । इनका एकस्थानिक रसबन्ध तो नौवें गुणस्थान के संख्यात भाग बीत जाने पर बंधता है और नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबंध होता है किन्तु एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है । क्योंकि शेष प्रकृतियों में ६५ पाप प्रकृतियाँ हैं और नौवें गुणस्थान के संख्यात भाग बीत जाने पर उनका बन्ध नहीं होता है । अर्थात् अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानिक रसबन्ध नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के संख्यात भाग के बीत जाने के बाद ही होता है और वहाँ अन्तराय आदि की उक्त १७ प्रकृतियों को छोड़कर शेष अशुभ प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं होता है । इसीलिये शेष ६५ प्रकृतियों का एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है । इन ६५ प्रकृतियों में केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का भी समावेश है । लेकिन इन दोनों प्रकृतियों के बारे में यह समझना चाहिये कि इनका बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है, किन्तु इनके सर्वघातिनी होने से इनमें एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता है ।

शेष ४२ पुण्य प्रकृतियों में भी एकस्थानिक रसबंध नहीं होता है । इसका कारण यह है कि जैसे ऊपर चढ़ने के लिये जितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़नी हैं, उतारने के लिये उतनी ही सीढ़ियाँ उतरनी होती हैं । वैसे ही संकिलष्ट परिणामी जीव जितने संक्लेश के स्थानों पर चढ़ता

१ चरितद्राणरसाद्यं सञ्चविवाद्गणिं ह्येति फट्ढाङ् ।

दुष्टाणियाणिभीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥

है, विशुद्ध भावों के होने पर उतने ही स्थाना से उतरता है तथा उप-
शम श्रेणि चढ़ते समय जितने विशुद्धिस्थानों पर चढ़ता है, गिरते
समय उतने ही संक्लेशस्थानों पर उतरता है। इस प्रकार से तो
जितने संक्लेश के स्थान, उतने ही विशुद्धि के स्थान हैं। किन्तु जब
क्षपक श्रेणि को दृष्टि से विचार करते हैं तो विशुद्धि के स्थान संक्लेश
के स्थानों से अधिक हैं। क्योंकि क्षपक श्रेणि चढ़ने वाला जीव जिन
विशुद्धिस्थानों पर चढ़ता है, उन से नीचे नहीं उतरता है, यदि
उन विशुद्धि के स्थानों के बराबर संक्लेशस्थान भी होते तो उपशम
श्रेणि के समान क्षपक श्रेणि में जीव का पतन अवश्य होता, किन्तु
ऐसा होता नहीं है, क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने के बाद जीव
नीचे नहीं आता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि क्षपक श्रेणि में
विशुद्धि के स्थानों की संख्या अधिक है और संक्लेशस्थानों की संख्या
विशुद्धि के स्थानों की अपेक्षा कम। विशुद्धिस्थानों के रहते हुए शुभ
प्रकृतियों का केवल चतुःस्थानिक ही रसबंध होता है तथा अत्यन्त
संक्लेश स्थानों के रहने पर शुभ प्रकृतियों का बंध ही नहीं होता है।
कोई जीव अत्यन्त संक्लेश के समय नरकगति योग्य वैक्रिय शरीर आदि
शुभ प्रकृतियों का बंध करते हैं, किन्तु उनके भी भवस्वभाव के कारण
उस समय द्विस्थानिक ही रसबंध होता है तथा मध्यम परिणामों से
बंधने वाली शुभ प्रकृतियों में भी द्विस्थानिक रसबंध होता है। अन-
एव शुभ प्रकृतियों में कहीं भी एकस्थानिक रसबंध नहीं होता है।

इस प्रकार से अनुभाग बंध के स्थानों और उनके कारण कषाय-
स्थानों की तथा कितनी प्रकृतियों का चारों स्थानिक वाला बंध होता
है, आदि को बतलाकर पुनः शुभ और अशुभ रस का विशेष स्वरूप
कहते हैं।

निबुच्छरसो सहजो वृत्तिचउभाग कडिडवकभार्गतो ।

इगठानाई असुहो असुहान सुहो सुहानं तु ॥६५॥

शब्दार्थ—निम्बुच्छुरसो—नीम और ईख का रस, सहजो—स्वाभाविक, दुतिःसुहृन्मन्त्रिण—दो, तीन और चार भाग में उवाले जाने पर, इक्कसतांतो—एक भाग शेष रहे वह, इगठाणाई—एक-स्थानिक आदि, असुहो—अशुभ रस, असुहाण—अशुभ प्रकृतियों का, सुहो—शुभ रस, सुहाण—शुभ प्रकृतियों का, सु—और ।

गाथायं—नीम और ईख का स्वाभाविक रस तथा उसको दो, तीन, चार भाग में उवाले जाने पर एक भाग शेष रहे, उसे अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानिक आदि अशुभ रस और शुभ प्रकृतियों का शुभ रस जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में अनुभाग बंध के एकस्थानिक, द्विस्थानिक आदि चार भेद बतलाये हैं । उनका विशेष स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ शुभ और अशुभ प्रकृतियों के स्वभाव का भी संकेत यहां किया गया है ।

अशुभ प्रकृतियों को नीम और उनके रस को नीम के रस की तथा शुभ प्रकृतियों को ईख तथा उनके रस को ईख के रस की उपमा दी है । जैसे नीम का रस स्वभाव से ही कड़ुआ होने से पीने वाले के मुख को कड़ुवाहट से भर देता है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियों का रस भी अनिष्टकारक और दुःखदायक होता है तथा जैसे ईख स्वभावतः मीठा और उसका रस मधुर, आनन्ददायक होता है, वैसे ही शुभ प्रकृतियों का रस भी जीवों को आनन्ददायक होता है ।

यह तो सामान्यतया बतलाया गया है कि नीम और ईख के पेरने पर उनमें से निकलने वाला स्वाभाविक रस स्वभावतः कड़ुआ और मीठा होता है । इस कड़ुवेपन और मीठेपन को एकस्थानिक रस जानना चाहिए । इस स्वाभाविक एकस्थानिक रस के द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक प्रकारों को क्रमशः इस प्रकार समझना

चाहिये कि नीम और ईख का एक-एक सेर रस लेकर उन्हें आग पर उबाला जाये और जलकर आधा सेर रह जाये तो वह द्विस्थानिक रस कहा जायेगा, क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उस पके हुए रस में दूनी कड़ुवाहट और दूनी मधुरता आ गई। वही रस उबलने पर सेर का तिहाई रह जाता है तो विस्थानिक रस समझना चाहिए, क्योंकि उसमें पहले के स्वाभाविक रस से तिगुनी कड़ुवाहट या तिगुनी मधुरता आ गई है। वही रस जब उबलने पर एक सेर का पाव भर रह जाता है तो वह चतुःस्थानिक रस है, क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमें चौगुनी कड़ुवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है।

अब उक्त उदाहरण के आधार से अशुभ और शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक आदि को घटाते हैं। जैसे नीम के एकस्थानिक रस से द्विस्थानिक रस में दुगुनी कड़ुवाहट होती है, विस्थानिक में तिगुनी कड़ुवाहट और चतुःस्थानिक में चौगुनी कड़ुवाहट होती है, वैसे ही अशुभ प्रकृतियों के जो स्पर्धक सबसे जघन्य रस वाले होते हैं, वे एकस्थानिक रस वाले कहे जाते हैं, उनसे द्विस्थानिक स्पर्धकों में अनन्तगुणा रस होता है, उनसे विस्थानिक स्पर्धकों में अनन्तगुणा रस और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्धकों में अनन्तगुणा रस होता है। इसी प्रकार शुभ प्रकृतियों में भी समझ लेना चाहिये कि एकस्थानिक से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थानों में अनन्तगुणा शुभ रस होता है।

उक्त चारों स्थान अशुभ प्रकृतियों में कषायों की तीव्रता बढ़ने से और शुभ प्रकृतियों में कषायों की मंदता बढ़ने से होते हैं। कषायों की तीव्रता के बढ़ने से अशुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है और कषायों की मंदता के बढ़ने से शुभ प्रकृतियों में द्विस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया

जाता है। शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबंध नहीं होता है।^१

इस प्रकार से अनुभाग बंध का स्वरूप, उसके कारण और भेदों का वर्णन करके अब अनुभाग बन्ध के स्वामियों को बतलाते हैं। पहले उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन करते हैं।

तिग्बभिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहृमनिरयतिगं ।

तिरिमणुपाउ तिरिनरा तिरिदुगळेवट्ट सुरनिरया ॥६६॥

अर्थ—तिग्ब—तीन अनुभाग बंध, रसगणरायव—
एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का, सुरमिच्छा—
मिथ्यादृष्टि देव, विगलसुहृमनिरयतिगं—विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और
नरकत्रिक का, तिरिमणुपाउ—तिर्यचायु और मनुष्यायु का, तिरिनरा—
तिर्यच और मनुष्य, तिरिदुगळेवट्ट—तिर्यचद्विक और सेवार्त संहनन
का, सुरनिरया—देव और नारक।

१ गो० कर्मकांड में भी अनुभाग बंध का वर्णन कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलना
शुक्लता है, लेकिन कथनशैली भिन्न है। उसमें घातिकर्मों की शक्ति के
चार विभाग किये हैं—लता, दाह, अस्थि और पत्थर (गो०-१८०)।
जैसे ये चारों पदार्थ उत्तरोत्तर अधिक कठोर होते हैं, उसी प्रकार कर्मों
की शक्ति समझना चाहिए। इन चारों विभागों के क्रमशः एक, द्वि, त्रि
और चतुः स्थानिक नाम दिये जा सकते हैं। इनमें लता भाग देशघाती
है और दाह भाग का अनंतवां भाग देशघाती और शेष बहुभाग सर्वघाती
है। अस्थि और पत्थर भाग तो सर्वघाती ही हैं। अघातीकर्मों के पुण्य
और पाप रूप दो विभाग करके पुण्य प्रकृतियों के गुड़, खांड, शक्कर
और अमृत रूप चार विभाग किये हैं और पाप प्रकृतियों में नीम, कंजीर,
विष और हुलाहल इस तरह चार विभाग किये हैं (गो० १८४)। इन
विभागों को भी क्रमशः एक, द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक नाम दिया जा
सकता है।

गाथायं — एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। विकलेन्द्रियत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, नरकत्रिक, तिर्यचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि तिर्यच और मनुष्य करते हैं और तिर्यचद्विक और सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं।

विशेषार्थ - अनुभाग बंध के दो प्रकार हैं - उत्कृष्ट और जघन्य ! अनुभाग बंध का स्वरूप समझाकर इस गाथा से उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन प्रारम्भ किया गया है। चारों गति के जीव कर्म बंध के साथ ही अपनी-अपनी कार्पायिक परिणति के अनुसार कर्मों में यथायोग्य फलदान शक्ति का निर्माण करते हैं।

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से किस गति और गुणस्थान वाले जीव उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं - को बतलाते हुए सर्वप्रथम कहा है कि 'तिव्वमिगथावरायव मुरमिच्छा'—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम इन तीन प्रकृतियों का 'मिथ्यादृष्टि देव' उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं। मिथ्यादृष्टि देवों को उक्त तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने का कारण यह है कि नारक तो मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म नहीं लेते हैं, अतः उक्त प्रकृति का बंध ही नहीं होता तथा आतप प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के लिये जिनकी विशुद्धि की आवश्यकता है, उतनी विशुद्धि के होने पर मनुष्य और तिर्यच पञ्चेन्द्रिय तिर्यच में जन्म लेने के योग्य अन्य शुभ प्रकृतियों का बंध

१ ईशान स्वर्ग तक के देवों का यहाँ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव ही मरकर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म ले सकते हैं उससे ऊपर के देव एकेन्द्रिय पर्याय धारण नहीं करते हैं।

करते हैं और एकेन्द्रिय तथा स्थावर प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के लिये जितने संक्लेश भावों की आवश्यकता है, उतना संक्लेश होने पर वे नरकगति के योग्य अशुभ प्रकृतियों का बंध करते हैं। किन्तु देवगति में उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर भी नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध भवस्वभाव से ही नहीं होता है। अतः नारक, मनुष्य और तिर्यंच उक्त तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध नहीं करते हैं, लेकिन ईशान स्वर्ग तक के देव ही उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं।

त्रिकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त), नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य करते हैं—विगलसुहुमनिरयतिर्गतिरिमणुयाउतिरिनरा। इसका कारण यह है कि तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष नौ प्रकृतियों को नारक और देव जन्म से ही नहीं बांधते हैं तथा तिर्यंच और मनुष्य आयु का उत्कृष्ट अनुभाग बंध के ही जीव करते हैं जो मरकर भोगभूमि में जन्म लेते हैं, जिससे देव और नारक इन दो प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट अनुभाग बंध नहीं कर सकते हैं। किन्तु उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते हैं। इसी प्रकार शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग भी अपने-अपने योग्य संक्लेश परिणामों के धारक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच ही करते हैं। अतः उक्त ग्यारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचों को होता है।

‘तिरिदुगच्छेवद्दु सुरनिरिया’—तिर्यंचद्विक और सेवार्त संहनन इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं। क्योंकि यदि तिर्यंच और मनुष्यों में उतने संक्लेश परिणाम हों तो उनको नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध होता है किन्तु देव

और नारक अति संक्लिष्ट परिणाम होने पर तिर्यचगति के योग्य प्रकृतियों का ही बंध करते हैं। इसीलिये उक्त तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी देवों और नारकों को बतलाया है।

उक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध होने के बारे में इतना विशेष जानना चाहिये कि देवगति में सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बंध ईशान स्वर्ग से ऊपर के सानत्कुमार आदि देव ही करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्ग एक ही देव अति संक्लिष्ट परिणामों के होने पर एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियों का ही बंध करते हैं, किन्तु सेवार्त संहनन एकेन्द्रिय योग्य नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रियों के संहनन नहीं होता है।

विजम्बिसुराहारदुगं सुखगह वन्नचउतेयजिणसायं ।
समचउपरघातसदस पणिविसासुच्च खवगाउ ॥६७॥
तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगधइरं ।
अपमत्तो अमराउं चउगहमिच्छा उ सेमाणं ॥६८॥

शब्दार्थ - विजम्बिसुराहारदुगं—वैक्रियद्विक, देवद्विक और आहारकद्विक का, सुखगह—शुभ विहायोगति, वन्नचउतेय—वर्ण-चतुष्क और लजसचतुष्क, जिण—तीर्थंकर नामकर्म, सायं—साता वेदनीय का, समचउ—समचतुग्न सस्थान, परघा—पराघात, सदस—प्रसदशक, पणिविसासुच्च—पंचेन्द्रिय जाति, उच्छवास नाम-कर्म और उच्च शोध का, खवगाउ—क्षपक श्रेणि वाले को।

तमतमगा—तमतमप्रभा के नारक, उज्जोयं—उद्योत नाम-कर्म का, सम्मसुरा—सम्यग्दृष्टि देव, मणुयउरलदुग—मनुष्यद्विक, आहारिकद्विक, धइरं—वज्रकृष्णनाराच संहनन का, अपमत्तो—अप्रमत्त संयत, अमराउं—देवायु का, चउगहमिच्छा—चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव, उ—और, सेमाणं—शेष प्रकृतियों का।

गाथार्थ—वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, तीर्थंकर नामकर्म, साता वेदनीय, समचतुरस्र संस्थान, पराघात, त्रसदशक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध अपक श्रेणि चढ़ने वाले करते हैं ।

तमःतमप्रभा के नारक जीव उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बांधते हैं तथा सम्यग्दृष्टि देव मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्ररूपभनाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभाग बांधते हैं । शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में पूर्व गाथा में बताई गई सत्रह प्रकृतियों के अलावा शेष रही प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन किया है । जिनमें कुछ प्रकृतियों का नामोल्लेख करके शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीवों को बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है ।

‘विउब्बिसुरा...सासुच्च’ पद में वैक्रियद्विक से लेकर उच्छ्वास, उच्चगोत्र तक बत्तीस प्रकृतियों को ग्रहण किया गया है । जिनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध अपक श्रेणि आरोहण करने वाले मनुष्यों को बतलाया है । उनमें से साता वेदनीय, उच्च गोत्र और त्रसदशक में गभित यशःकीर्ति नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध दसवें सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान के अन्त में होता है । क्योंकि इन तीन प्रकृतियों के बंधकों में वही सबसे विशुद्ध है और पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों से होता है ।

उक्त तीन प्रकृतियों के सिवाय शेष उनतीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग में देवगति के

योग्य प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति के समय होता है। इन उनतीस प्रकृतियों के बंधकों में अपूर्वकरण क्षमक ही अति विशुद्ध होता है।

उक्त बतीस प्रकृतियों के नाम गुणस्थानों के क्रम से इस प्रकार हैं—

वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारकद्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कामणअगुरुजघु, निर्माण), तीर्थंकर, समचतुरस्र संस्थान, पराधात, यशःकीर्ति नामकर्म को छोड़कर त्रसदशक में गर्भित त्रस, वादर, पर्याप्ति आदि नौ प्रकृतियाँ। पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, इन उनतीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का बंध आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग में देवगति योग्य प्रकृतियों के बंधविच्छेद के समय होता है।

साता वेदनीय, यशःकीर्ति नामकर्म और उच्च गोत्र इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में होता है।

इस प्रकार से अभी तक १७ और ३२ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन करने के बाद अब शेष प्रकृतियों के बारे में विचार करते हैं—

‘तमःतमगा उज्जोयं’ यानी तमःतमप्रभा नामक सातवें नरक के नारक उद्योत नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध करते हैं। इसका कारण यह है कि सातवें नरक का नारक सम्यक्त्वप्राप्ति के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करते समय अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व का अंतरकरण करता है। उसके करने पर मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं—एक अन्तरकरण से नीचे की स्थिति का, जिसे प्रथम स्थिति कहते हैं और इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है तथा दूसरा उससे ऊपर की स्थिति का, जिसे द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की स्थिति के अंतिम समय में यानी जिससे

आगे के समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय में उस जीव के उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। क्योंकि यह उद्योत प्रकृति शुभ है और विशुद्ध परिणामों से ही उसका उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है तथा उसके बांधने वालों में सातवें नरक का उक्त नारक ही अति विशुद्ध परिणाम वाला है। क्योंकि अन्य गतियों में इतनी विशुद्धि होने पर मनुष्यगति अथवा देवगति के योग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। उद्योत प्रकृति तिर्यचगति के योग्य प्रकृतियों में से है और सातवें नरक का नारक मरकर नियम से तिर्यच में जन्म लेता है, जिससे सातवें नरक का नारक मिथ्यात्व में प्रति-समय तिर्यचगति योग्य कर्मों का बंध करता है।

मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहतन, इन पांच प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवों को बतलाया है—सम्मसुरा मण्डुयउरलदुगधइरं। यद्यपि इन पांच प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध विशुद्ध परिणाम वाले नारक भी कर सकते हैं, लेकिन वे नरक के दुःखों से पीड़ित रहने के कारण उतनी विशुद्धि प्राप्त नहीं कर पाते हैं तथा उनको देवों की तरह तीर्थंकरों की विभूति के दर्शन, उपदेशश्रवण, वंदन आदि परिणामों को विशुद्ध करने वाली सामग्री भी नहीं मिलती है, जिससे नारकों का ग्रहण नहीं किया गया है। तिर्यच और मनुष्य तो अति विशुद्ध परिणाम वाले होने पर देवगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। इसीलिये इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध का स्वामी सम्यग्दृष्टि देवों को बतलाया है।

देवायु के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी अप्रमत्त मुनि को बतलाया है। क्योंकि यहां उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाया जा रहा है, अतः देवायु का बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति आदि से वही अति विशुद्ध होते हैं।

इस प्रकार से ४२ पुण्य प्रकृतियों और १४ पाप प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों को तो अलग-अलग बतला दिया है। इनसे शेष रही ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध का स्वामी चारों गति के संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि जीवों को बतलाया है—चउगइमिच्छा उ सेसाणं ।^१

समस्त बंधयोग्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाकर अब उनके जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

थीणतिगं अणमिच्छं मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।

बिषतिपकसाय अविरय वेस पमसो अरइसोए ॥६१॥

शब्दार्थ—थीणतिगं—स्थानद्वित्रिक, अणमिच्छं—अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का, मंदरसं—जघन्य अनुभाग बंध संजमुम्मुहो—सम्यक्त्व चरित्र के अभिमुख, मिच्छो—मिथ्यादृष्टि, बिषतिपकसाय—दूसरी और तीसरी कषाय का, अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि, वेस—देशविरति, पमसो—प्रमत्तविरत, अरइसोए—अरति और शोक मोहनीय का ।

- १ यहाँ सामान्य से ६८ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बन्धक चारों गति के तीव्र कषायबन्त मिथ्यादृष्टि जीव बतलाये हैं। इसमें उतना विशेष समझना चाहिए कि हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, पहले और अन्तिम को छोड़कर शेष संहनन और संस्थान के सिवाय ५६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध तीव्र कषायी चारों गति के मिथ्यादृष्टि करते हैं और उक्त बारह प्रकृतियों का उस-उस प्रकृति के बन्ध योग्य संक्लेश में वर्तमान जीव उत्कृष्ट अनुभागाबन्ध करते हैं। जैसे कि नपुंसकवेद के रसबंध में तीव्र संक्लेश चाहिए, उसकी अपेक्षा स्त्रीवेद के रसबंध में कम और उसकी अपेक्षा भी पुरुषवेद के उत्कृष्ट रसबंध में हीन संक्लेश चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

गाथा— स्त्यानद्वित्रिक, अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय का सम्यक्त्व सहित चारित्र्य प्राप्त करने के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जघन्य अनुभाग बंध करते हैं। देश-विरति चारित्र्य के सन्मुख हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि दूसरी कषाय का और सर्वविरति चारित्र्य के सन्मुख होने वाला देश-विरति तीसरी कषाय का और प्रमत्तसंयत अरति व शोक मोहनीय का जघन्य अनुभाग बंध करता है।

विशेषार्थ— उत्कृष्ट अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाकर इस गाथा से जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन प्रारम्भ करते हैं।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि विशुद्ध परिणामों से अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध और संक्लेश परिणामों से शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है। इस गाथा में जिन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध बतलाया है, वे सब अशुभ प्रकृतियां हैं। अतः उनका अनुभाग बंध करने वाले स्वामियों के लिये विशेषण दिया है— ‘संजमुम्मुहो’ संयम के अभिमुख मनुष्य, जो गाथा में बताई गई अशुभ प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी है।

गाथा में आये इस ‘संजमुम्मुहो’ पद को प्रत्येक के साथ लगाया जाता है अर्थात् जो संयम धारण करने के अभिमुख है—जो जीव तत्काल दूसरे समय में ही संयम धारण कर लेगा, उसके अपने-अपने उस गुणस्थान के अंतिम समय में उस प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध होता है। यहां संयम के अभिमुख पद को प्रत्येक गुणस्थान के साथ जोड़कर आशय समझना चाहिये। जो इस प्रकार है—स्त्यानद्वित्रिक, अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्व मोहनीय इन आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध सम्यक्त्व संयम के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अंतिम समय में करता है। अप्रत्याख्यानवरण

कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध संयम—देशसंयम के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अन्त समय में करता है । प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध संयम अर्थात् सर्वविरति—महाव्रतों को धारण करने के सन्मुख देशविरति गुणस्थान वाला जीव अपने गुणस्थान के अंत समय में करता है तथा अरति व शोक का जघन्य अनुभाग बंध संयम अर्थात् अप्रमत्त संयम के अभिमुख प्रमत्त मुनि अपने गुणस्थान के अन्त में करता है ।^१ सारांश यह है कि स्त्यानद्वित्रिक आदि आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध पहले गुणस्थान वाला जब सम्यक्त्व के अभिमुख होकर चौथे गुणस्थान में जाता है तब पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में करता है । अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध पांचवें गुणस्थान—देशविरति

- १ 'संजमुष्मुहो'ति सम्यक्त्वसंयममभिमुखः सम्यक्त्वसामायिकं प्रतिपित्सुः^१ । अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य " अविरत सम्यग्दृष्टि संयममभिमुखः—देशविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं वदन्नाति । तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य देशविरतिः " संयमोन्मुखः^२ "सर्वविरतिसामायिकं प्रतिपित्सुर्मन्दरसं वदन्नाति । तथा " प्रमत्तयतिः संयमोन्मुखः—अप्रमत्तसंयमं प्रतिपित्सुः— ।

—पंचम कर्मग्रन्थ टीका, पृ० ७१

लेकिन कर्ममकृति पृ० १६० तथा पंचसंग्रह प्रथम भाग में संयम का अर्थ संयम ही किया गया है । यथा—अष्टांशं कर्मणा सम्यक्त्वं संयमं च युगपत्प्रतिपत्सुकामो मिथ्यादृष्टिप्रचरयसमये जघन्यानुभागबंध-
स्वामी, अप्रत्याख्यानावरणकषायाणां विरतसम्यग्दृष्टिः संयमं प्रतिपत्सुकामः प्रत्याख्यानावरणानां देशविरतः सर्वविरतिप्रतिपित्सुर्जघन्यानुभाग-
बन्धं करोति ।

गी० कर्मकांड गाथा १७१ में 'संजमुष्मुहो' पद का आशय बतलाने के लिये 'संजमगुणपच्छिदे' पद आया है । टीकाकार ने संयम का अर्थ संयम ही किया है ।

की ओर उत्सुख चौथा गुणस्थानवर्ती जीव चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में करता है। प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध पांचवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान में जाता है तब पांचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में तथा अरति और शोक इन दो प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में जाने वाला छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में करता है। यानी आगे-आगे का गुणस्थान प्राप्त करने से पहले समय में स्थानद्वितिक आदि प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

उक्त प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध होने के प्रसंग में इतना और समझ लेना चाहिये कि यदि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में न जाकर पांचवें या छठे या सातवें गुणस्थान में जाये, इसी तरह चौथे गुणस्थान से पांचवें में न जाकर छठे या सातवें गुणस्थान में जाये तो भी उनका जघन्य अनुभाग बंध होगा। क्योंकि उक्त प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध के लिये विषुद्ध परिणामों की आवश्यकता है और उस दशा में तो पहले से भी अधिक विषुद्ध परिणाम होते हैं। इसी से गाथा में 'संजमुम्मुहो' पद दिया गया है। जिसका यह अर्थ है कि अमुक-अमुक गुणस्थान वाले संयम के भेदों में से किसी भी संयम की ओर अभिमुख होते हैं तो उनको उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

अब आगे अन्य प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

अपमाद हारगदुगं दुनिद्दसुवन्नहासरद्धकुच्छा ।

भयमुधघायमपुध्वो अनियट्टी पुरिससंजलणे ॥७०॥

शब्दार्थ—अपमाद—अप्रमत्त मुनि, हारगदुगं—आहारक-
द्विक, दुनिद्द—दो निद्रा, असुवन्न—अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हासरद्ध-
कुच्छा—हास्य, रति और जुगुप्सा, भय—भय, उधघायं—उपघात

नामकर्म का, अपूर्वकरी—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, अनियन्त्री—
अनिवृत्तिवादी गुणस्थान वाला, पुरिस—पुरुष वेद, संजलने—
संज्वलन कषाय का।

साधारण—आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त
मुनि करते हैं। दो निद्रा, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, हास्य, रति,
जुगुप्सा, भय और उपघात नामकर्म का अपूर्वकरण गुण-
स्थान वाले जघन्य अनुभाग बंध करते हैं और अनिवृत्तिवादी
गुणस्थानवर्ती पुरुष वेद, संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग
बंध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में आहारकद्विक आदि प्रकृतियों के जघन्य
अनुभाग बंध के स्वामियों को बतलाते हैं।

सर्वप्रथम आहारकद्विक के बारे में कहते हैं कि 'अपमाइ हारणदुर्ग'
आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग) का जघन्य
अनुभाग बंध अप्रमत्त मुनि—सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनि
करते हैं। लेकिन कब करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है कि आहारक-
द्विक यह प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध अप्रमत्त-
मुनि उस समय करते हैं जब वे छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान के अभिमुख
होते हैं। यानि सातवें गुणस्थान में छठे गुणस्थान की ओर अवरोहण
करने की स्थिति में होते हैं तब उनके परिणाम संक्लिष्ट होते हैं और
उस स्थिति में आहारकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध करते हैं।

निद्राद्विक (निद्रा और प्रचला), अशुभ वर्णचतुष्क, (अशुभ वर्ण,
अशुभ गंध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श) तथा हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और
उपघात, इन ग्यारह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध अपूर्वकरण
गुणस्थानवाले तथा पुरुष वेद और संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभाग
बंध अनिवृत्तिवादीसंपराय गुणस्थान वाले करते हैं। यहाँ ये दोनों

गुणस्थान क्षपक श्रेणि के लेना चाहिये । क्योंकि निद्रा आदि अशुभ प्रकृतियाँ हैं और अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों से होता है और उनके बंधकों में क्षपक अपूर्वकरण तथा क्षपक अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान वाले जीव ही विशेष विशुद्ध होते हैं । इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध अपनी-अपनी व्युत्पत्ति के समय होता है ।

विग्धावरणे सुहृमो मणुतिरिया सुहृमविगलतिगआऊ ।

वेगुव्विषयकममरा निरया उज्जोयउरलदुगं ॥७१॥

शब्दार्थ—विग्धावरणे—पाँच अंतराय और नी आवरण (ज्ञान-दर्शन के) का, सुहृमो—सूक्ष्मसंपराय वाला, मणुतिरिया मनुष्य और तिर्यंच, सुहृमविगलतिग—सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, आऊ—चार आयु का, वेगुव्विषयकं—वैक्रियषट्क का, अमरा—देव, निरया—नारक, उज्जोय—उद्योत नामकर्म का, उरलदुगं—औदारिकद्विक का ।

गोशब्ध—पाँच अंतराय तथा पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला करता है । मनुष्य और तिर्यंच सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियषट्क का जघन्य अनुभाग बंध तथा उद्योत नामकर्म एवं औदारिकद्विक का जघन्य अनुभाग बंध देव तथा नारक करते हैं ।

विशेषार्थ—‘विग्धावरणे सुहृमो’ अंतराय कर्म की पाँच प्रकृतियों (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय), मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों तथा चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरण की चार प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय नामक

दसवें गुणस्थानवर्ती क्षपक उस गुणस्थान के चरमसमय में करता है। क्योंकि इनके बंधकों में वही सबसे विशुद्ध है।

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त नामकर्म), विकलत्रिक, चार आयु और वैक्रियषट्क (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देव-गति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी), इन सोलह प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग के स्वामी मनुष्य और तिर्यच हैं। इन सोलह प्रकृतियों में ते मनुष्यायु और तिर्यचायु के सिवाय चौदह प्रकृतियों को तो देव व नारक जन्म से ही नहीं बांधते हैं तथा मनुष्य और तिर्यच आयु का जघन्य अनुभाग बंध जघन्य स्थितिबंध के साथ ही होता है। क्योंकि ये दोनों प्रशस्त प्रकृतियां हैं अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध तो संक्लेश परिणामों से होता ही है किन्तु जघन्य स्थितिबंध भी संक्लेश परिणामों से होता है। देव और नारक जघन्य स्थिति वाले मनुष्य और तिर्यचों में उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः वे इनका जघन्य बंध नहीं करते हैं। अर्थात् इन दो प्रकृतियों का जो जघन्य स्थितिबंध करता है वही उनका जघन्य अनुभाग बंध भी करता है। इसलिये सूक्ष्मत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी मनुष्य और तिर्यच को बतलाया है। उद्योत और औदारिकद्विक इन तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध देव और नारक करते हैं। इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि औदारिक अंगोपांग का जघन्य अनुभाग बंध ईशान स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव करते हैं। क्योंकि ईशान स्वर्ग तक के देव उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं और एकेन्द्रियों को अंगोपांग नहीं होते हैं। अतः ईशान-स्वर्ग तक के देवों के औदारिक अंगोपांग नामकर्म का जघन्य अनुभाग बंध नहीं होता है।

मनुष्य और तिर्यचों के उक्त तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग

बन्ध न होने का कारण यह है कि जो जीव तिर्यचगति के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करता है, वही इनका भी जघन्य अनुभाग बन्ध करता है। किन्तु मनुष्य और तिर्यचों के उतने संक्लिष्ट परिणाम हों जितने कि इन तीन प्रकृतियों के जघन्य अनुभागबन्ध के लिये आवश्यक हैं तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। इसीलिये मनुष्य और तिर्यचों को इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध नहीं बताया है।

तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरयविणिगथावरयं ।

आसुहुमायव सम्मो व सायधिरनुभजसा सिअरा ॥७२॥

शब्दार्थ तिरिदुग—तिर्यचद्विक, निअं—नीचगोत्र का, तमतमा—तमःतमप्रभा के नारक जिणं—तीर्थंकर नामकर्म का, अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य, निरयविण - नरक के सिवाय तीन गति वाले जीव, इगथावरयं—एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का, आसुहुमा सौधर्म ईशान स्वर्ग तक के देव, आयव आतप नामकर्म का, सम्मो व—सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि, सायधिरनुभजसा—सातावेदनीय, स्थिर नाम, शुभ नाम और यशःकीर्ति नामकर्म का, सिअरा—इनको प्रतिपक्षी प्रकृतियों सहित ।

भावार्थ—तिर्यचद्विक और नीचगोत्र का जघन्य अनुभाग बन्ध तमःतमप्रभा नामक सातवें नरक के नारक करते हैं। तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभागबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। नरकगति के सिवाय शेष तीन गति वाले जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। सौधर्म और ईशान स्वर्ग तक के देव आतप नामकर्म का जघन्य अनुभागबन्ध करते हैं। सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और इन चारों की प्रतिपक्षी प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

विशेषार्थ—‘तिरिदुगनिअं तमतमा’ तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और नीचगोत्र इन तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध सातवें नरक में बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण यह है कि सातवें नरक का कोई नारक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये जब यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता हुआ अन्त के अतिवृत्तिकरण को करता है तब वहाँ अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में इन तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध होता है। ये तीनों प्रकृतियाँ अशुभ हैं और सर्वविशुद्ध जीव ही उनका जघन्य अनुभागबंध करता है। अतः इनके बंधकों में सातवें नरक का उक्त नारक ही विशेष विशुद्ध है। क्योंकि इस सरीखी विशुद्धि होने पर तो दूसरे जीव मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र का बन्ध करते हैं। जिससे तिर्यचद्विक और नीच गोत्र इन तीन प्रकृतियों के लिये सातवें नरक के नारक का ग्रहण किया है।

तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य अनुभागबंध सामान्य से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को बतलाया है—जिणमविरय। लेकिन यह विशेष समझना चाहिये कि यह शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध संक्लेश से होता है अतः बद्धनरकायु अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक में उत्पन्न होने के लिये जब मिथ्यात्व के अभिमुख होता है तब वह तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बंध करता है। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है लेकिन शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध संक्लेश से होता है और वह संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के बंधकों में मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इसीलिए तीर्थंकर प्रकृति के जघन्य अनुभाग बंध के लिये अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ग्रहण किया है। तिर्यचगति में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है जिससे यहां मनुष्य को बतलाया है और जिस मनुष्य ने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने से पहले

नरकायु नहीं बांधी है वह नरक में नहीं जाता है, अतः बद्धनरकायु का ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व सहित मर कर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु उनके विशुद्ध होने से वे तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध नहीं कर सकते हैं। इसीलिये उनका यहां ग्रहण नहीं किया है।

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध नरकगति के सिवाय शेष तीर्थंकर, मनुष्य और देव इन तीन गतियों के जीव करते हैं। लेकिन इन तीन गतियों वाले जीवों के संबन्ध में यह विशेष जानना कि परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले जीव करते हैं। क्योंकि ये दोनों प्रकृतियां अशुभ हैं, अतः अति संक्लिष्ट परिणाम वाले जीव उनका उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध करते हैं और अति विशुद्ध जीव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का बन्ध करते हैं। इसीलिये मध्यम परिणाम का ग्रहण किया है। सारांश यह है कि जब कोई जीव एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का बन्ध करके पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म का बंध करता है और उनका बंध करके पुनः एकेन्द्रिय व स्थावर नामकर्म का बंध करता है तब इस प्रकार का परिवर्तन करके बंध करने वाला परावर्तमान मध्यम परिणाम वाला अपने योग्य विशुद्धि के होने पर उक्त दो प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध करता है।

आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध ईशान कल्प तक के देवों को बतलाया है। यद्यपि गाथा में 'आसुहुम' पद है, जिसका अर्थ 'सौधर्म स्वर्ग तक' होता है। लेकिन सौधर्म और ईशान स्वर्ग एक ही श्रेणी में विद्यमान होने से दोनों को ग्रहण कर लेना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग तक के वैमानिक देव आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध करते हैं।

उक्त देवों के ही आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध करने का

कारण यह है कि आतप शुभ प्रकृति है और शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध विशेष संक्लिष्ट परिणामों से होता है। अतः उन देवों के एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों के बंध के समय आतप प्रकृति का जघन्य अनुभाग बंध होता है। यदि आतप प्रकृति के जघन्य अनुभाग बंध करने योग्य संक्लिष्ट परिणाम मनुष्य और तिर्यचों के हों तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं तथा नारक और सानत्कुमार आदि कल्पों के देव जन्म से ही इस प्रकृति का बन्ध नहीं करते हैं। इसीलिये ईशान स्वर्ग तक के देवों को ही इसका बन्धक बतलाया है।

सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और इनकी प्रतिपक्षी असाता-वेदनीय, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति, इन आतप प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग बन्ध के स्वामी सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हैं। इन बंधकों के लिये यह विशेष समझना चाहिये कि वे परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले हों। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

प्रमत्त मुनि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त असातावेदनीय की अन्तःकोटा-कोटि सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद सातावेदनीय का बन्ध करता है, पुनः असातावेदनीय का बन्ध करता है। इसी तरह देशविरत, अविरत सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव साता के बाद असाता का और असाता के बाद साता वेदनीय का बन्ध करते हैं। इनमें से मिथ्यादृष्टि जीव साता के बाद असाता का और असाता के बाद साता का बंध तब तक करता है जब तक साता वेदनीय की स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम होती है। उसके बाद और संक्लिष्ट परिणाम होने पर केवल असाता का ही तब तक बन्ध करता है जब तक उसकी तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। प्रमत्त संयत से आगे अप्रमत्त संयत आदि गूणस्थानों में जीव केवल सातावेदनीय का ही बन्ध करता है।

इसका सारांश यह है कि साता वेदनीय के जघन्य अनुभाग बन्ध के योग्य परावर्तमान मध्यम परिणाम साता वेदनीय की पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध से लेकर छठे गुणस्थान में असातावेदनीय के अन्तः-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबंध तक पाये जाते हैं। परावर्तमान परिणाम तभी तक हो सकते हैं जब तक प्रतिपक्षी प्रकृति का बंध होता है। यानी तब तक साता के साथ असाता वेदनीय का भी बंध संभव है जब तक परावर्तमान परिणाम होते हैं। लेकिन साता वेदनीय के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर आगे जो परिणाम होते हैं वे इतने संक्लिष्ट होते हैं कि उनसे असाता वेदनीय का ही बंध हो सकता है। इसीलिये साता और असाता वेदनीय के जघन्य अनुभागबंध का स्वामी परावर्तमान मध्यम परिणाम वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों को बतलाया है।

अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर और स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागर बतलाई है। प्रमत्त मुनि अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति बांधता है और विशुद्धि के कारण फिर इनकी प्रतिपक्षी स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति का बंध करता है, उसके बाद पुनः अस्थिर आदिक का बंध करता है। इसी प्रकार देशविरति, अविरत सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि, सासादन, मिथ्यादृष्टि स्थिरादिक के बाद अस्थिरादिक का और अस्थिरादिक के बाद स्थिरादिक का बंध करते हैं। उनमें से मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियों का उक्त प्रकार से तब तक बंध करता है जब तक स्थिरादिक का उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के योग्य इन स्थितिबंधों में ही उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में स्थिरादिक के उत्कृष्ट स्थितिबंध के

पश्चात् तो अस्थिरादिक का ही बंध होता है और अप्रमत्त आदि गुण-स्थानों में स्थिरादिक का ही । मिथ्यादृष्टि में संक्लेश परिणामों की अधिकता है और अप्रमत्त में विशुद्ध परिणामों की अधिकता, अतः दोनों में ही अनुभाग बंध अधिक मात्रा में होता है । इसीलिए इन दोनों के सिवाय शेष बताये गये स्थानों में ही अस्थिर आदि छह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है ।

तसवन्नतेष्वचउमणुखगइदुग पणिविसासपरघुच्चं ।

संघयणागिइनपुत्थीसुभगिअरति मिच्छा अउगइया ॥५३॥

शब्दार्थ—तसवन्नतेष्वचउ—त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, तैजस-चतुष्क, मणुखगइदुग—मनुष्यद्विक, विहायोगतिद्विक, पणिवि—पंचेन्द्रिय जाति, सास—उच्छ्वास नामकर्म, परघुच्चं—पराघात नाम और उच्च गोत्र का, संघयणागिइ—छह संहनन और छह संस्थान, नपुत्थी—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सुभगिअरति—सुभगत्रिक और इतर दुर्भगत्रिक का, मिच्छा—मिथ्यादृष्टि, अउगइया—चारों गति वाले ।

गाथा—त्रसचतुष्क, वर्णचतुष्क, तैजसचतुष्क, मनुष्य-द्विक, विहायोगतिद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, छह संहनन, छह संस्थान, नपुंसक वेद, स्त्री वेद, सुभगत्रिक, दुर्भगत्रिक का चारों गति वाले मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य अनुभाग बंध करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में चालीस प्रकृतियों का नामोल्लेख कर उनके जघन्य अनुभाग बंध का स्वामी चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव को बतलाया है । इनमें से कुछ प्रशस्त और कुछ अप्रशस्त प्रकृतियां हैं ।

त्रसचतुष्क (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक), वर्णचतुष्क (शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श), तैजसचतुष्क (तैजस, कर्मण, अगुहलघु, निर्माण), पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास और पराघात ये पन्द्रह प्रकृतियां प्रशस्त हैं अतः

इनका जघन्य अनुभाग तब उत्कृष्ट संक्लेश से होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच अपने उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से जब नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं उस समय इन पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध करते हैं तथा नारक और ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव संक्लेश के होने पर पंचेन्द्रिय तिर्यच पर्याय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने के समय में और ईशान स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोड़कर शेष चैतन्य प्रकृतियों को एकेन्द्रिय जीव के योग्य प्रकृतियों को बांधने समय इनका जघन्य अनुभाग बंध करते हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच तो त्रसचतुष्क आदि पन्द्रह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने के साथ करते हैं। ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तथा नारक पंचेन्द्रिय तिर्यचों में जन्म लेने योग्य प्रकृतियों का बंध करते हुए तथा ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेने योग्य प्रकृतियों का बंध करते हुए पंचेन्द्रिय जाति और त्रस को छोड़ उसके योग्य उक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध करते हैं।

ईशान स्वर्ग तक के देवों में पंचेन्द्रिय जाति और त्रस नामकर्म को छोड़ने का कारण यह है कि इन दोनों का बंध ईशान स्वर्ग तक के देवों को विबुद्ध दशा में ही होता है। अतः उनके उक्त दोनों प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध नहीं होता है।

स्त्री वेद और नपुंसक वेद ये दोनों प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं, इनका जघन्य अनुभाग बंध विबुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

मनुष्यद्विक, वज्रक्षयभनाराज संहनन आदि छह संहनन और समचतुरस्र संस्थान आदि छह संस्थान, शुभ और अशुभ विहायोगति, सुभगत्रिक (सुभग, सुस्वर, आदेय) और दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर,

अनादेय) और उच्च गोत्र का जघन्य अनुभाग बंध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं, लेकिन वे मध्यम परिणाम वाले होते हैं ।

इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि तिर्यच और सम्यग्दृष्टि मनुष्य देवद्विक का बन्ध करते हैं, मनुष्यद्विक का नहीं । संस्थानों में से समचतुरस्र संस्थान का बंध करते हैं । संहनन का बंध नहीं करते हैं । शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय और उच्च गोत्र का ही बन्ध करते हैं और मिथ्यादृष्टि दुर्भग आदि का बंध करते हैं ।

सम्यग्दृष्टि देव और सम्यग्दृष्टि नारक मनुष्यद्विक का ही बंध करते हैं—तिर्यचद्विक का नहीं । संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान का और संहननों में वज्रश्लेषभनारान्न संहनन का बंध करते हैं । शुभ विहायोगति, सुभग आदि ही बांधते हैं और उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं । जिससे उनके प्रतिपक्षी प्रकृतियों का बंध नहीं होना है और उनका बंध न होने से परिणामों में परिवर्तन नहीं होता है तथा परिवर्तन न होने से परिणाम विणुद्ध बने रहते हैं जिससे प्रकृत प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध नहीं होता है । इसी कारण से सम्यग्दृष्टि का ग्रहण न करके मिथ्यादृष्टि का ग्रहण किया है ।

मनुष्यद्विक को उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है और शुभ विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय, उच्च गोत्र, प्रथम संहनन और प्रथम संस्थान की उत्कृष्ट स्थिति दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है । इन शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति से प्रारंभ होकर प्रतिपक्षी प्रकृतियों के साथ उनकी जघन्य स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम के स्थितिबंध के अध्यवसाय तक परावर्तमान मध्यम परिणामों से होता है । वह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त के परावर्त से बंधता है । हुण्ड संस्थान और सेवार्त संहनन की अनुक्रम से वामन संस्थान और कीलिका संहनन के साथ अपनी-अपनी जघन्य

स्थिति तक परावृत्ति होने पर । इसी प्रकार शेष संहनन, संस्थान की सम्भवित शेष संहनन और संस्थान के साथ अपनी-अपनी जघन्य स्थिति तक परावृत्ति के होने पर जानना चाहिये । इन स्थितिस्थानों में मिथ्या-दृष्टि परावर्तमान मध्यम परिणाम से जघन्य अनुभाग बंध को करता है । इसी तरह अन्य प्रकृतियों के लिए भी समझना चाहिये ।

इस प्रकार से बंधयोग्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों^१ का कथन करने के पश्चात् अब आगे मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनुभाग बंध के बंधों का विचार करते हैं ।

चउतेयवन्नवेयणिय नामणुक्कोस सेसघुवबंधी ।

घाईणं अजहन्नी गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥

सेसंमि दुहा.....

शब्दार्थ—चउतेयवन्न—तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क, वेयणिय—वेदनीय कर्म, नाम—नाम कर्म का, अणुक्कोस—अनु-त्कृष्ट अनुभाग बंध, सेसघुवबंधी—बाकी की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, घाईणं—घाति प्रकृतियों का, अजहन्नी—अजघन्य अनुभाग बंध, गोए—गोत्र कर्म का, दुविहो—दो प्रकार के अनुभाग बन्ध (अनु-त्कृष्ट और अजघन्य बन्ध) इमो—ये, चउहा—चार प्रकार के, (सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव) ।

सेसंमि—बाकी के तीन प्रकार के अनुभाग बंध के, दुहा—दो प्रकार ।

१. गो० कर्मकांड गा० १६५-१६६ तक में उत्कृष्ट अनुभाग बंध के और गाथा १७०-१७७ तक में जघन्य अनुभाग बंध के स्वामियों का कथन किया गया है । दोनों की कर्मग्रन्थ से समानता है । तुलना के लिये उक्त अंश परिशिष्ट में दिया है ।

गाथायं—तैजस चतुष्कः, तर्ण चतुष्कः, वेदनीय कर्मा और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध तथा बाकी की ध्रुव-बंधिनी और घाती प्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध और गोत्रकर्म के दोनों बन्ध (अनुत्कृष्ट और अजघन्य) चारों प्रकार के हैं ।

उक्त प्रकृतियों के शेष अनुभाग बन्ध और बाकी की अन्य शेष प्रकृतियों के सभी बंध दो ही प्रकार के हैं ।

विशेषायं—इस गाथा में मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनुभाग बंध के भंगों का विचार किया गया है ।

बंध के चार प्रकार हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य । इनमें से कर्मों की सबसे कम अनुभाग शक्ति को जघन्य और जघन्य अनुभाग शक्ति से ऊपर के एक अविभागी अंश को आदि लेकर सबसे उत्कृष्ट अनुभाग तक के भेदों को अजघन्य कहते हैं । इन जघन्य और अजघन्य भेदों में अनुभाग के अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं ।

सबसे अधिक अनुभाग शक्ति को उत्कृष्ट और उसमें से एक अविभागी अंश कम शक्ति से लेकर सर्वजघन्य अनुभाग तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहते हैं । इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में भी अनुभाग शक्ति के समस्त भेद गर्भित हो जाते हैं । इसको उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं कि कल्पना से सर्वजघन्य का प्रमाण ८ है और उत्कृष्ट का प्रमाण १६ । तो इसमें ८ को जघन्य कहेंगे और आठ से ऊपर नौ से लेकर सोलह तक के भेदों को अजघन्य तथा सोलह को उत्कृष्ट और सोलह से एक कम पन्द्रह से लेकर आठ तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहेंगे । मूल और उत्तर प्रकृतियों में इन भेदों का विचार सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भंगों के साथ किया गया है ।

गाथा में बताया गये वेदों का विवरण इस प्रकार है कि तैजस-चतुष्क (तैजस, कार्मण, अग्निरुल्लघु, निर्माण) तथा वर्णचतुष्क—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श (यहां शुभ वर्णचतुष्क समझना चाहिये), वेदनीय कर्म और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव इस प्रकार चार तरह का होता है। जो इस प्रकार है -

तैजसचतुष्क और शुभ वर्णचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान में देवगति योग्य तीस प्रकृतियों के वन्धविच्छेद के समय होता है। इसके सिवाय उपशम श्रृणि आदि अन्य स्थानों में उक्त प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट बंध ही होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में विन्कुल बंध नहीं होता है और ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर कोई जीव उक्त प्रकृतियों का पुनः अनुत्कृष्ट अनुभाग बन्ध करता है तब वह सादि कहलाता है और इस अवस्था को प्राप्त होने से पहले उनका बंध अनादि कहलाता है, क्योंकि उसके वह बंध अनादि से होता चला आ रहा है। भव्य जीव का बंध अध्रुव और अभव्य जीव का बंध ध्रुव होता है। इस प्रकार उक्त आठ प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध सादि आदि चार प्रकार का होता है।

किन्तु इनके शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग बंध के सादि और अध्रुव यह दो ही भंग होते हैं। क्योंकि पूर्व में बताया है कि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभाग बंध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान वाला करता है जो इससे पहले नहीं होता है। इसीलिये सादि है और एक समय तक होकर आगे नहीं होता है, अतः अध्रुव है। ये प्रकृतियां शुभ हैं जिससे इनका जघन्य अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेशवाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है और कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक दो समय के बाद वही जीव उनका अजघन्य बंध करता है। कालान्तर में उत्कृष्ट संक्लेश होने पर

वह पुनः उनका जघन्य अनुभाग बंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य अनुभाग बंध सादि और अध्रुव है।

वेदनीय और नामकर्म का भी अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध सादि आदि चार प्रकार का है। क्योंकि साता वेदनीय और यशःकोति नामकर्म की अपेक्षा वेदनीय और नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग बंध अपक सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में ही होता है और शेष स्थानों में अनुत्कृष्ट बंध होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में उनका बंध नहीं होता है। जिससे ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है वह सादि और उससे पहले अनादि। भव्य जीव का बंध ध्रुव और अभव्य का अध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्म के अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के सादि आदि चार भंग होते हैं।

वेदनीय और नामकर्म के अनुत्कृष्ट बंध के सिवाय शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध के सादि और अध्रुव भंग ही होते हैं। उत्कृष्ट बंध तो अपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में ही होता है, अन्य गुणस्थान में नहीं, अतः सादि है और बारहवें आदि गुणस्थानों में नहीं होने से अध्रुव है। जघन्य अनुभाग बंध मध्यम परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता है। यह जघन्य अनुभाग बंध अजघन्य अनुभाग बंध के बाद होने से सादि है और कम से कम एक समय और अधिक से अधिक चार समय तक जघन्य बंध होने के पश्चात् पुनः अजघन्य बंध होता है, जिससे जघन्य बंध अध्रुव और अजघन्य बंध सादि है। उसके बाद उसी भव में या दूसरे किसी भव में पुनः जघन्य बंध के होने पर अजघन्य बंध अध्रुव होता है। इस प्रकार शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध सादि और अध्रुव होते हैं।

अब ध्रुवबंधिनी और अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंधों के बारे में

विचार करते हैं। तैजस चतुष्क के सिवाय शेष ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता है। पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अंतराय, ये चौदह प्रकृतियां अशुभ हैं और इनका जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में होता है और ग्यारहवें में इनका बंध नहीं होता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुभाग बंध होता है वह सादि है और उससे पहले का बंध अनादि है। भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का बंध ध्रुव है।

संज्वलन चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में अपने बंधविच्छेद के समय में होता है। इसके सिवाय अन्य सब जगह अजघन्य बन्ध होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में बंध नहीं होता है, अतः वहां से च्युत होकर जो बंध होता है वह सादि है, उससे पहले का अनादि, भव्य का बंध अध्रुव और अभव्य का बन्ध ध्रुव है।

निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णचतुष्क, उपघात, भय और जुगुप्सा का क्षपक अपूर्वकरण में अपने-अपने बंधविच्छेद के समय में एक समय तक जघन्य अनुभाग बंध और अन्य सब स्थानों पर अजघन्य अनुभाग बंध होता है। उपशम श्रेणि में गिरने पर पुनः उनका अजघन्यबंध होता है जो सादि है। बंधविच्छेद से पहले उनका बंध अनादि, अभव्य का बंध ध्रुव और भव्य का बंध अध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध देश-विरति गुणस्थान के अंत में संयमाभिमुख करता है और उससे पहले होने वाला बंध अजघन्य बंध है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का जघन्य अनुभाग बंध क्षायिक सम्यक्त्व और संयम प्राप्त करने का इच्छुक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अंत में करता है।

इसके सिवाय सर्वत्र उसका अजघन्य अनुभाग बंध होता है। स्यात्तद्धि, निद्रा-निद्रा और प्रचला-प्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का जघन्य अनुभाग बंध विष्णु परिणामी मिथ्यादृष्टि अपने गुणस्थान के अंतिम समय में करता है और शेष सर्वत्र उनका अजघन्य अनुभाग बंध होता है। उसके बाद संयम वगैरह को प्राप्त करके वहां से गिरकर पुनः उनका अजघन्य अनुभाग बंध करता है तो वह सादि और उसके पहले का अनादि, अभव्य का बंध ध्रुव और भव्य का बंध अध्रुव होता है। इस प्रकार ४३ ध्रुवप्रकृतियों का अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता है।

अब उनके जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के दो-दो प्रकारों को स्पष्ट करते हैं। उक्त ४३ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध सूक्ष्मसंपराय आदि गुणस्थानों में होता है जो उन-उन गुणस्थानों में पहली बार होने से सादि है। बारहवें आदि ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होने से अध्रुव है। उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेश वाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव करता है जो एक या दो समय तक होता है। उसके बाद अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध करता है। कालान्तर में उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर पुनः उनका उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध में सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं।

अब अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चारों अनुभाग बंधों को बतलाते हैं। अध्रुवबंधिनी होने से इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग बंध के सादि और अध्रुव यह दो प्रकार होते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चारों घाति कर्म अशुभ हैं। इनका अजघन्य अनुभाग बंध चार प्रकार का होता

हैं। अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध और शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विषुद्ध परिणामी बंधक करना है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय अशुभ हैं अतः इनका जघन्य अनुभाग बंध अपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत समय में होता है और मोहनीय का बंध नौवें गुणस्थान तक होता है। जिससे नौवें गुणस्थान के अंत में उसका जघन्य अनुभाग बंध होता है। इन गुणस्थानों के सिवाय शेष सभी स्थानों में उक्त चारों कर्मों का अजघन्य अनुभाग बंध होता है। ग्यारहवें और दसवें गुणस्थान में उक्त चारों कर्मों का बंध न करके वहां से गिरने के बाद जब पुनः उनका अजघन्य अनुभाग बंध होता है तब वह सादि है और जो जीव नौवें, दसवें आदि गुणस्थानों में कभी नहीं आये, उनकी अपेक्षा वह अजघन्य बंध अनादि है। अभव्य का बंध ध्रुव है और भव्य का बंध अध्रुव है।

अब घातिकर्मों के शेष तीन—जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंधों में होने वाले सादि और अध्रुव प्रकारों को स्पष्ट करते हैं। मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभाग बंध क्षपक अनिवृत्तिबादर के अंतिम समय में और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का क्षपक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में। यह बंध पहली बार ही होता है अतः सादि है और बारहवें गुणस्थान में जाने पर होता ही नहीं अतः अध्रुव है। यह अनादि नहीं है। क्योंकि उक्त गुणस्थानों में आने से पहले कभी नहीं होता है और अभव्य के नहीं होने से ध्रुव भी नहीं है। अनुत्कृष्ट के बाद उत्कृष्ट बंध होता है अतः सादि है और उसके एक या दो समय बाद पुनः अनुत्कृष्ट बंध होता है अतः उत्कृष्ट बंध अध्रुव है और अनुत्कृष्ट बंध सादि है। कम-से-कम अन्त-सुहृत् और अधिक-से-अधिक अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बाद उत्कृष्ट संक्लेश होने पर पुनः उत्कृष्ट बंध होता है

जिससे अनुत्कृष्ट बंध अध्रुव है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट बंध बदलते रहने के कारण सादि और अध्रुव हैं।

गोत्र कर्म में अजघन्य और अनुत्कृष्ट बंध चार प्रकार का और जघन्य और उत्कृष्ट बंध दो प्रकार का होता है। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के प्रकार वेदनीय और नाम कर्म के समान समझना चाहिये। अब जघन्य और अजघन्य बंध के बारे में विचार करते हैं कि सातवें नरक का नारक सम्यक्त्व के अभिमुख होता हुआ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है तब अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व का अन्तर्करण करता है, जिससे मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। एक नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति और दूसरी शेष ऊपर की स्थिति। नीचे की स्थिति का अनुभव करते हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के अन्तिम समय में नीच गोत्र की अपेक्षा से गोत्र कर्म का जघन्य अनुभाग बंध होता है। अन्य स्थान में यदि इतनी दिग्विद्धि हो तो उससे उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग बंध होता है। सातवें नरक में मिथ्यात्व दशा में नीच गोत्र का ही बंध होने से उसका ग्रहण किया है तथा जो नारक मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व के अभिमुख नहीं, उसके नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग बंध और सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर उच्च गोत्र का अजघन्य अनुभाग बंध होता है। नीच गोत्र का यह जघन्य अनुभाग बंध अन्यत्र सम्भव नहीं है और उसी अवस्था में पहली बार होने से सादि है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर वही जोव उच्च गोत्र की अपेक्षा से नीच गोत्र का अजघन्य अनुभाग बंध करता है अतः जघन्य अनुभाग बंध अध्रुव है और अजघन्य अनुभाग बंध सादि है। इससे पहले होनेवाला अजघन्य अनुभाग बंध अतादि है। अभव्य का अजघन्य बंध ध्रुव और भव्य का अध्रुव है। इस प्रकार गोत्र कर्म के जघन्य अनुभाग बंध के दो और अजघन्य अनुभाग बंध के चार विकल्प जानना चाहिए।

आयुर्कर्म के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग बंध के सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प होते हैं। क्योंकि भुज्यमान आयु के त्रिभाग में ही आयु कर्म का बंध होता है जिससे उसका जघन्यादि रूप अनुभाग बंध सादि है और अन्तर्मुहूर्त के बाद उस बंध के अवश्य रुक जाने से अध्रुव है। इस प्रकार आयुर्कर्म के जघन्य आदि अनुभाग बंधों के सादि और अध्रुव प्रकार समझना चाहिये।

इस प्रकार से मूल एवं उत्तर प्रकृतियों में उत्कृष्ट आदि अनुभाग बंधों के सादि आदि भंगों को जानना चाहिये। अब अनुभाग बंध का वर्णन करने के पश्चात् आगे प्रदेशबंध का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। प्रदेशबंध के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर्गणाओं का निरूपण करते हैं।

प्रदेशबंध

.....इगदुगणुगाह जा अभवणंतगुणियाणू ।

खंधा उरलोच्चियवगणा उ तह अगहणंतरिया ॥७५॥

शब्दार्थ—इगदुगणुगाह—एकाणुक, द्व्यणुक आदि, जा—यावत्, तक, अभवणंतगुणियाणू—अभध्य से अनंत गुणे परमाणु वाला खंधा—स्कंध, उरलोच्चियवगणा—औदारिक के योग्य वर्गणा, तह—तथा, अगहणंतरिया—ग्रहणयोग्य वर्गणा के बीच अग्रहणयोग्य वर्गणा।

गाथा—एकाणुक, द्व्यणुक आदि से लेकर अभव्य जीवों से भी अनन्तगुणे परमाणु वाले स्कंधों तक ही औदारिक की

- १ गो० कर्मकांड में अनुभाग बंध के जघन्य, अजघन्य आदि प्रकारों में सादि आदि का विचार दो गाथाओं में किया गया है। एक में मूल प्रकृतियों की अपेक्षा, दूसरी में उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा। उक्त विचार कर्मग्रंथ के समान है। गाथायें परिशिष्ट में देखिये।

ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है तथा एक-एक परमाणु की वृद्धि से ग्रहणयोग्य वर्गणा से अन्तरित अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है ।

विशेषार्थ—यह लोक परमाणु और स्कंध रूप पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है और पुद्गलकाय अनेक वर्गणाओं में विभाजित है, जिनमें एक कर्मवर्गणा भी है । ये वर्गणाएँ जीव के योग और कणाय का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती हैं । पुद्गल के एक परमाणु के अवगाहस्थान को प्रदेश कहते हैं । अतः कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल स्कंधों का परिमाण परमाणु द्वारा आंका जाता है कि अमुक समय में इतने परमाणु वाले पुद्गलस्कन्ध अमुक जीव को कर्म रूप में परिणत हुए हैं, इसी को प्रदेशबंध कहते हैं । अतः प्रदेशबंध का स्वरूप समझने के पूर्व कर्मवर्गणा का ज्ञान होना जरूरी है । कर्मवर्गणा का स्वरूप समझने के लिए भी उसके पूर्व की औदारिक आदि वर्गणाओं का स्वरूप जान लिया जाये । इसीलिये उन-उन वर्गणाओं का भी स्वरूप समझना चाहिये । इस कारण औदारिक आदि वर्गणाओं का यहां स्वरूप कहते हैं ।

ये औदारिक आदि वर्गणाएँ दो प्रकार की होती हैं—ग्रहणयोग्य, अग्रहणयोग्य । अग्रहणवर्गणा को आदि लेकर कर्मवर्गणा तक वर्गणाओं का स्वरूप गाथा में स्पष्ट किया जा रहा है ।

समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा^१ कहते हैं । ये वर्गणाएँ

- १ कर्मग्रन्थ की टीका में स्वजातीय स्कंधों के समूह का नाम वर्गणा कहा है । जबकि कर्मप्रकृति की टीका में स्कंध और वर्गणा को एकार्थक कहा है । क्योंकि स्कंध - वर्गणा की अवगाहना अंगुल के अमंढयातवें भाग कही है । यदि स्वजातीय स्कंधों के समूह को वर्गणा कही जाये तो उसके लोक-
(शेष अगले पृष्ठ पर)

अनंत होती हैं। जैसे लक्षणों को काल में जो कुछ राशियों परमाणु पाये जाते हैं, उन्हें पहली वर्गणा कहते हैं। दो प्रदेशों के मेल से बनने वाले स्कंधों की दूसरी वर्गणा, तीन प्रदेशों के मेल से बननेवाले स्कंधों की तीसरी वर्गणा कहलाती है। इसी प्रकार एक-एक परमाणु बढ़ते-बढ़ते संख्यात प्रदेशी स्कंधों को संख्याताणु वर्गणा, असंख्यात प्रदेशी स्कंधों को असंख्याताणु वर्गणा, अनंत प्रदेशी स्कंधों को अनन्ताणु वर्गणा और अनंतानन्त प्रदेशी स्कंधों की अनन्तानन्ताणु वर्गणा समझना चाहिये।

ये वर्गणायें अग्रहणयोग्य और ग्रहणयोग्य, दो प्रकार की हैं। जो वर्गणायें अल्प परमाणु वाली होने के कारण जीव द्वारा ग्रहण नहीं की जातीं, उन्हें अग्रहणवर्गणा कहते हैं। अभिव्य जीवों को राशि से अनंत-गुणे और सिद्ध जीवों को राशि के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओं से बने स्कंध यानी इतने परमाणु वाले स्कंध जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं और जीव उन्हें ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप परिणमाता है। इसलिये उन्हें औदारिक वर्गणा कहते हैं। किन्तु औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओं में यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है, उसके ऊपर एक-एक परमाणु बढ़ते स्कंधों की पहली, दूसरी, तीसरी आदि अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य होती हैं। जिससे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से अनन्तवें

स्वाप्न होने से उसकी अवगाहना लोकप्रमाण होगी। वर्गणा और स्कंध को जहाँ एकार्थक कहा गया हो वहाँ तो अवगाहना संबंधी आपत्ति नहीं। किन्तु जहाँ स्वजातीय स्कंधों के समूह का नाम वर्गणा कहा जाये वहाँ अवगाहना स्कंध की सी जाये तो बराबर एकरूपता बनती है। अतः कर्मग्रन्थ की टीका के अनुसार स्कंध की अवगाहना लेना चाहिये किन्तु वर्गणा को नहीं।

भाग अधिक परमाणु वाली औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस अनन्तवें भाग में अनन्त परमाणु होते हैं। अतः जघन्य वर्गणा से लेकर उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जानना चाहिये।

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वर्गणा से ऊपर एक-एक परमाणु बढ़ते स्कन्धों से बनने वाली वर्गणायें औदारिक की अपेक्षा से अधिक प्रदेश वाली और सूक्ष्म होती हैं, जिससे औदारिक के ग्रहण-योग्य नहीं होती हैं और जिन स्कन्धों से वैक्रिय शरीर बनता है, उनकी अपेक्षा से अल्प प्रदेश वाली और स्थूल होती हैं जिससे वे वैक्रिय शरीर के ग्रहण-योग्य नहीं होती हैं। इस प्रकार औदारिक शरीर की उत्कृष्ट वर्गणा के ऊपर एक-एक परमाणु बढ़ते स्कन्धों की अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं। जैसे औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसी की उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तवें भाग अधिक है, वैसे ही अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसकी उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी है। इस गुणाकार का प्रमाण अभव्य राशि से अनन्तगुणा और सिद्धराशि का अनन्तवां भाग है।

इस अग्रहणयोग्य वर्गणा के ऊपर पुनः ग्रहणयोग्य वर्गणा आती है और ग्रहणयोग्य वर्गणा के ऊपर अग्रहणयोग्य वर्गणा। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे से अन्तरित हैं।

इस प्रकार से औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का कथन करने के बाद वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य, अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का स्पष्टीकरण करते हैं।

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।

सुहुमा कमावगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—एमेव—पूर्वोक्त के समान, विउव्वाहारतेयभासाणु-
पाणमणकम्मे—वैक्रिय, आहारक, तैजस, माधा, स्वासोष्ण्वास, मन

गाथाय - शरीरादि अष्टक, तीन वेद, दो युगल, सोलह कषाय, उद्योतद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, पाँच निद्रार्थ, वस-वीशक और चार आयु ये परावर्तमान प्रकृतियाँ हैं। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं।

विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों का कथन किया है।

परावर्तमान प्रकृतियाँ दूसरी प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा बंधो-दय दोनों को रोक कर अपना बंध, उदय या बंधोदय करने के कारण परावर्तमान कहलाती हैं। इनमें अघाती—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्मों की अधिकांश प्रकृतियों के साथ घाती कर्म दर्शनावरण व मोहनीय की भी प्रकृतियाँ हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं -

(१) दर्शनावरण—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्यात्तद्धि।

(२) वेदनीय—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(३) मोहनीय—अनलानुबंधी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानानावरण कषाय चतुष्क, संज्वलन कषाय चतुष्क, हास्य, रति, शोक, अरति, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद।

(४) आयुकर्म—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु।

(५) नामकर्म—शरीराष्टक की ३३ प्रकृतियाँ (औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर, औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रिय आदि पाँच जाति, नरकगति आदि चार गति, शुभ-अशुभ विद्यायोगनि, चार आनुपूर्वी), आतप, उद्योत, वस दशक, स्थावर दशक।

(६) गोत्रकर्म—उत्तम गोत्र, नीच गोत्र।

इस प्रकार $५ + २ + २३ + ४ + ५५ + २ = ८९$ प्रकृतियां परावर्तमान हैं। इनमें से अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क आदि सोलह कषाय और पांच निद्राये ध्रुवबंधिनी होने से तो बंधदशा में दूसरी प्रकृतियों का उपरोध नहीं करती हैं। लेकिन उदयकाल में मजानीय प्रकृति को रोक कर प्रवृत्त होती हैं, क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ में म एक जीव को एक समय में एक कषाय का उदय होता है। इसी प्रकार पांच निद्राओं में किसी एक का उदय होने पर शेष चार निद्राओं का उदय नहीं होता है। अतः परावर्तमान हैं।

स्थिर, शुभ, अस्थिर, अशुभ ये चार प्रकृतियां उदयदशा में विरोधिनी नहीं हैं किन्तु बन्धदशा में विरोधिनी हैं। क्योंकि स्थिर के साथ अस्थिर का और शुभ के साथ अशुभ का बंध नहीं होता है। इसलिए ये चारों प्रकृतियां परावर्तमान हैं। शेष ६६ प्रकृतियां बंध और उदय दोनों स्थितियों में परस्पर विरोधिनी होने से परावर्तमान हैं।

इस प्रकार से परावर्तमान कर्म प्रकृतियों का वर्णन करने के साथ ग्रन्थकार द्वारा निदिष्ट ध्रुवबन्धि आदि अपरावर्तमान पर्यन्त बारह द्वारों का विवेचन किया जा चुका है। जिनका विवरण पृ० ७२ पर दिये गये कोष्ठक में देखिये।

अब कर्म प्रकृतियों का विपाक की अपेक्षा निरूपण करने हैं।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्मप्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब तक तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियां भी जब अपना फल देने के अभिमुख होती हैं तब उनका विपाककाल कहलाता है।

माणुओं का संघात होता है त्यों-त्यों उनका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रूप परिमाण होता है ।

औदारिक आदि वर्गणाओं को अवगाहना जो उत्तरोत्तर होत-होन अंगुल के असंख्यातवें भाग कड़ो है वह पूर्व को अपेक्षा क्रम से एक के बाद दूसरी उत्तरोत्तर असंख्यातवां भाग होत समझना चाहिये । इस न्यूनतर की वजह से ही अल्प परमाणु वाले औदारिक शरीर के दिखने पर भी उसके साथ विद्यमान रहने वाले तैजस और कार्मण शरीर उससे कई गुने परमाणु वाले होने पर भी दिखाई नहीं देते हैं ।

तैजस वर्गणा के बाद भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा का उल्लेख करके सबसे अंत में कार्मण वर्गणा को रखा है, इसका कारण यह है कि तैजस वर्गणा से भी भाषा आदि वर्गणायें अधिक सूक्ष्म हैं । अर्थात् तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओं से वे वर्गणायें अधिकसूक्ष्म हैं जो बातचीत करते समय शब्द रूप परिणत होती हैं, उनसे भी वे वर्गणायें सूक्ष्म हैं जो श्वासोच्छ्वास रूप परिणत होती हैं । श्वासोच्छ्वास वर्गणा से भी मानसिक चिन्तन का आधार बनने वाला मनोवर्गणायें और अधिक सूक्ष्म हैं । कर्मवर्गणा मनोवर्गणा से भी सूक्ष्म है । इससे यह अनुमान हो जाए कि वे कितनी अधिक सूक्ष्म हैं किन्तु उनमें परमाणुओं की संख्या कितनी अधिक होती है ।

औदारिक शरीर की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का विवचेचन पूर्व गाथा में किया जा चुका है । शेष रही वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओं को यहां स्पष्ट करते हैं ।

औदारिक शरीर की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कंधों के परमाणुओं से एक अधिक परमाणु जिन स्कंधों में पाये जाते हैं उन स्कंधों की समूह रूप वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है । इस जघन्य वर्गणा के स्कंध के प्रदेशों से एक अधिक प्रदेश जिस-जिस स्कंध में पाया जाता है उनका समूह रूप दूसरी

वर्गणा वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अनन्त वर्गणायें वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य होती हैं। वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसके अनन्तवें भाग अधिक वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

वैक्रिय शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा है वह वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से बहुत प्रदेश वाली और सूक्ष्म होती है तथा आहारक शरीर की अपेक्षा से कम प्रदेश वाली और स्थूल होती है। अतः वैक्रिय और आहारक शरीर के लायक न होने से उसे अग्रहणवर्गणा कहते हैं। यह जघन्य अग्रहण वर्गणा है। उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते स्कन्धों की अनन्त वर्गणायें अग्रहणयोग्य हैं।

अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है वह आहारक शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और इस जघन्य वर्गणा से अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की आहारक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। आहारक शरीर की इस ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा से अनन्तगुण प्रदेशों की वृद्धि होने पर अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। ये वर्गणायें आहारक शरीर की अपेक्षा बहुप्रदेश वाली और सूक्ष्म हैं और तैजस शरीर की अपेक्षा से अल्प प्रदेश वाली और स्थूल हैं, अतः ग्रहणयोग्य नहीं हैं।

उक्त उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है।

उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते तैजसशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा के अनन्तर्वे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की उत्कृष्ट वर्गणा होती है। तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा से अनन्तगुणे अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है। ये अनन्त अग्रहणयोग्य वर्गणायें तैजस शरीर की अपेक्षा से बहुत प्रदेश वाली और सूक्ष्म होने तथा भाषा की अपेक्षा स्थूल और अल्प प्रदेश वाली होने से अग्रहणयोग्य हैं।

उक्त उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है वह भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के अनन्तर्वे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की भाषाप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इस प्रकार अनन्त वर्गणायें भाषा की ग्रहणयोग्य होती हैं। भाषा की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कन्धों की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

इस वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध प्रदेशों के अनन्तर्वे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वास की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और

उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है । इस वर्गणा के स्कंधों से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की मनोद्वय की ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है । जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कंधों के प्रदेशों से अनन्तगुणे भाग अधिक प्रदेश वाले स्कंधों की मनोद्वय की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है ।

मनोद्वय की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है । उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कंध प्रदेशों से अनन्तगुणे प्रदेश वाले स्कंधों की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है । इस उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा कर्म की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है और उसके ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के अनन्तवै भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की कर्म की योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है ।

इस प्रकार से आठ वर्गणा ग्रहणयोग्य और आठ वर्गणा अग्रहणयोग्य होती हैं । अग्रहण वर्गणायें ग्रहण वर्गणाओं के मध्य में होती हैं । अर्थात् अग्रहण वर्गणा, आदारिक वर्गणा, अग्रहण वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा इत्यादि । जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, उनसे अनन्तगुणे परमाणु उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा के एक-एक स्कन्ध में होने हैं और जघन्य ग्रहणयोग्य वर्गणा के एक स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं उसके अनन्तवै भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा के स्कन्धों में होते हैं ।

इस समस्त कथन का सारांश यह है कि पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों में एक-एक प्रदेश बढ़ने पर आगे-आगे की जघन्य वर्गणा का प्रमाण आता है । अग्राह्य वर्गणा की उत्कृष्ट वर्गणा अपनी

जघन्य वर्गणा से सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग गुणित है और ग्राह्य वर्गणा की उत्कृष्ट वर्गणा अपनी जघन्य वर्गणा से अनन्तवें भाग अधिक है ।

यहां पर वर्गणाओं के सोलह भेद^१ बताने और उनके कथन करने का उद्देश्य यही है कि जो चीज कर्म रूप परिणत होती है, उसके स्वरूप की रूपरेखा दृष्टि में आ जाये ।

ग्रहणयोग्य वर्गणाओं का स्वरूप और उनकी अवगाहना का प्रमाण बतलाकर अब आगे की गाथा में अग्रहण वर्गणाओं के परिमाण का कथन करते हैं ।

इषिकक्कहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अग्रहणा ।

सत्त्वत्थ जह्नुच्चिया नियणंतसाहिया जिट्ठा ॥५७॥

शब्दार्थ — इषिकक्कहिया -- एक एक परमाणु द्वारा अधिक सिद्धाणंतसा -- मिट्टी के अनन्तवें भाग, अंतरेसु -- अंतराल में, अग्रहणा -- अग्रहणयोग्य वर्गणा, सत्त्वत्थ -- सर्व वर्गणाओं में, जह्नुच्चिया -- जघन्य ग्रहण वर्गणा से, नियणंतसाहिया -- अपने अनन्तवें भाग अधिक, जिट्ठा -- उत्कृष्ट वर्गणा ।

१ पंचमंग्रह में भी कर्मग्रन्थ के समान ही वर्गणाओं का निरूपण दिया है । वहां १५ वर्गणाओं से आगे की वर्गणाओं को इस प्रकार बताया है—

कम्मोच्चरि ध्रुवेयसुण्णा पत्तच्चसुण्णवाधरिया ।

सुण्णा सुहमा सुण्णा महंखंधो सगुणनाभाओ । — वध्नत्तरण १६
कर्मवर्गणा से ऊपर ध्रुववर्गणा, अध्रुववर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येक-
शरीरवर्गणा, शून्यवर्गणा, यादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोद-
वर्गणा, शून्यवर्गणा और महात्कंध वर्गणा होती हैं ।

कर्मप्रकृति और गो० जीवकांड में भी कुछ सामान्य से नामभेद के साथ यही वर्गणायें कही हैं ।

गाथायं—औदारिक आदि वर्गणाओं के मध्य में एक-एक परमाणु द्वारा अधिक सिद्धों के अनन्तवें भाग परिमाण वाली अग्रहणयोग्य वर्गणा होती हैं। औदारिक आदि सभी वर्गणाओं का उत्कृष्ट अपने-अपने योग्य जघन्य से अनन्तवें भाग अधिक होता है।

विशेषायं पूर्व की दो गाथाओं में ग्रहणयोग्य वर्गणाओं के नाम और उनकी अवगाहना का प्रमाण बतलाया है और यह भी कहा है कि ग्रहणयोग्य वर्गणाओं अग्रहणयोग्य वर्गणाओं से अन्तरित होती हैं। इस गाथा में अग्रहणयोग्य वर्गणाओं का प्रमाण और ग्रहणयोग्य वर्गणाओं के जघन्य और उत्कृष्ट भेदों का अन्तर बतलाया है।

यद्यपि पूर्व में ग्रहणयोग्य वर्गणाओं का विचार करते समय अग्रहणयोग्य वर्गणाओं के प्रमाण का भी संकेत कर आये हैं, तथापि संक्षेप में पुनः यहां स्पष्ट कर देते हैं कि उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा के प्रत्येक स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, उनमें एक अधिक परमाणु वाले स्कन्धों के समूह की अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। इसके बाद दो अधिक परमाणु वाले स्कन्धों के समूह की दूसरी अग्रहणयोग्य वर्गणा जानना चाहिए। इसी प्रकार तीन अधिक, चार अधिक, आदि तीसरी, चौथी आदि अग्रहणयोग्य वर्गणायें समझ लेना चाहिए।

अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा के एक स्कन्ध में जितने परमाणु हों उनको सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणु वाले स्कन्धों के समूह की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। इसीलिये प्रत्येक अग्रहणयोग्य वर्गणा को संख्या सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग बतलाई है। क्योंकि जघन्य अग्रहण वर्गणा के एक स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं वे सिद्धराशि के अनन्तवें भाग से गुणा करने पर आते हैं। इसीलिये जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक

वर्गणा के उतने ही विकल्प होते हैं यानी अग्रहण वर्गणा के जो अनन्त भेद होते हैं, वे भेद प्रत्येक अग्रहण वर्गणा के जानना चाहिये । न कि कुल अग्रहण वर्गणायें सिद्ध राशि के अन्तर्गत भाग प्रमाणा हैं ।

अग्रहण वर्गणाओं के बारे में दूसरी बात यह भी जानना चाहिये कि ये ग्रहण वर्गणाओं के अन्तराल में ग्रहण वर्गणा के बाद अग्रहण वर्गणा और अग्रहण वर्गणा के बाद ग्रहण वर्गणा, इस क्रम से होती हैं । ऐसा नहीं है कि उनमें से कुछ वर्गणायें औदारिक वर्गणा से पहले होती हैं और कुछ बाद में । इसी प्रकार वैक्रिय आदि की ग्रहणयोग्य वर्गणाओं के बारे में समझना चाहिये ।

अग्रहण वर्गणाओं का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग गुणित है और ग्रहणयोग्य वर्गणाओं का उत्कृष्ट अपने-अपने जघन्य से अनन्तवें भाग अधिक है । यानी जघन्य ग्रहणयोग्य स्कन्ध से अनन्तवें भाग अधिक परमाणु उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य स्कन्ध में होते हैं ।

इस प्रकार से वर्गणाओं का ग्राह्य-अग्राह्य, उत्कृष्ट-जघन्य आदि सभी प्रकारों से विवेचन किये जाने के पश्चात् अब आगे की गाथा में जीव जिस प्रकार के कर्मस्कन्ध को ग्रहण करता है, उसे बतलाते हैं ।

अंतिमचउफासदुर्गंधपंचवन्नरसकर्मखंधवलं ।

सर्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥७८॥

एगपएसोगाढं नियसर्वपएसउ गहेड जिऊ ।

शब्दार्थ अंतिमचउफास — अन्त में चार स्पर्श, दुर्गंध — दो गंध, पंचवन्नरस — पांच वर्ण और पांच रस वाले, कर्मखंधवलं — कर्मस्कन्ध दलिकों को, सर्वजियणंतगुणरसं — सर्व जीवों में भी अनन्त गुणों रस वाले, अणुजुत्तं — अणुओं से युक्त, अर्जंतयपएसं — अनन्त प्रदेश वाले, एगपएसोगाढं — एक क्षेत्र में अबमाद रूप में विद्य-

मान, नियसःखपएसड—अपने समस्त प्रदेशों द्वारा, गहेद—ग्रहण करना है, जिउ—जीव ।

गाथार्थ—अन्त के चार स्पर्श, दो गंध, पांच वर्ण और पांच रस वाले सब जीवों से भी अनन्त गुणों रस वाले अणुओं से युक्त अनन्त प्रदेश वाले और एक क्षेत्र में अवगाह रूप से विद्यमान कर्मस्कन्धों को जीव अपने सर्व प्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है ।

विशेषार्थ—गाथा में जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्धों का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया है कि जीव किस क्षेत्र में रहने वाले कर्मस्कन्धों को ग्रहण करता है और उनके ग्रहण की क्या प्रक्रिया है ।

जीव द्वारा जो कर्मस्कन्ध ग्रहण किये जाते हैं वे पौद्गलिक हैं अर्थात् पौद्गल परमाणुओं का समूहविशेष हैं । इसीलिए उनमें भी पौद्गल के गुण—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं । अर्थात् जैसे पौद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है वैसे ही कर्मस्कन्ध भी रूप आदि वाले होने से पौद्गलजातीय हैं ।

एक परमाणु में पांच प्रकार के रसों में से कोई एक रस, पांच प्रकार के रूपों में से कोई एक रूप, दो प्रकार की गंधों में से कोई एक गंध और आठ प्रकार के स्पर्श—गुरु-लघु, कोमल-कठोर, शीत-उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष में से दो अविरुद्ध स्पर्श होते हैं ।^१

१ कारणमेव तदन्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यनिष्पन्नश्च ॥

—तत्त्वार्थभाष्य में उद्धृत

परमाणु किसी से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु दूसरी वस्तुओं को (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार से एक परमाणु में एक रूप, एक रस, एक गंध और अंत के चार स्पर्शों में से दो स्पर्श होते हैं किन्तु इन परमाणुओं के समूह से जो स्कन्ध तैयार होते हैं, उन्हें पाँचों वर्ण, पाँचों रस, दोनों गंध और चार स्पर्श हो सकते हैं। क्योंकि उस स्कन्ध में बहुत से परमाणु होते हैं और उन परमाणुओं में से कोई किसी रूप वाला, कोई किसी रस वाला, कोई किसी गंध वाला होता है तथा किसी परमाणु में अंत के चार स्पर्शों शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्ष-में से स्निग्ध और उष्ण स्पर्श पाया जाता है और किसी में रूक्ष और शीत स्पर्श पाया जाता है। इसीलिये कर्मस्कन्धों को पंच वर्ण, पंच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाला कहा जाता है। इसी कारण ग्रन्थकार ने कर्मस्कन्ध को 'अंत के चार स्पर्श' दो गंध, पाँच वर्ण और पाँच रस वाला बतलाया है।

कर्मस्कन्धों को चतुःस्पर्शी कहने का कारण यह है कि स्पर्श के जो आठ भेद बतलाये गये हैं उनमें से आहारक शरीर के योग्य ग्रहण वर्गणा तक के स्कन्धों में तो आठों स्पर्श पाये जाते हैं किन्तु उससे

उत्पन्न करने वाला होने से कारण है। उससे छोटी दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अतः वह अन्य है। सूक्ष्म है, नित्य है तथा एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है। उसके कार्य को देखकर उसका अनुमान ही किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं होता है।

परमाणु में शीत और उष्ण में से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं।

- १ कर्मग्रन्थ की स्वोपज टीका में लिखा है कि बृहत्शतक की टीका में बतलाया है कि कर्मस्कन्ध में मृदु और लघु स्पर्श तो अवश्य रहते हैं। इनके सिवाय स्निग्ध, उष्ण अथवा स्निग्ध, शीत अथवा रूक्ष, उष्ण अथवा रूक्ष, शीत में से दो स्पर्श और रहते हैं। इसीलिये एक कर्मस्कन्ध में चार स्पर्श बतलाये जाते हैं।

ऊपर तैजसशरीर आदि प्रायोग्य वर्गणाओं के स्कन्धों में केवल चार ही स्पर्श होते हैं—

पञ्चरसपञ्चवर्णं हि परिणया अदृढकास वो गंधा ।

जीवाहारगजोभ्या चउफासयिसेसिया उव्वरि ॥

अर्थात् जीव के ग्रहण योग्य औदारिक आदि वर्गणायें पांच रस, पांच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गंध वाली होती हैं, किन्तु ऊपर की तैजस शरीर आदि के योग्य ग्रहण वर्गणायें चार स्पर्श वाली होती हैं ।

द्रव्यों के दो भेद हैं गुरुलघु और अगुरुलघु । इन दो भेदों में वर्गणाओं का बंटवारा करते हुए आवश्यक निरूपित में लिखा है

ओरासियवउच्चियआहारयतेय गुरुलहवव्वा ।

कम्मवणमासाडं एयाडं अगुरुलहुयाडं ॥४१॥

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्य गुरुलघु हैं और कार्मण, भाषा और मत्तोद्रव्य अगुरुलघु हैं । इन गुरुलघु और अगुरुलघु की पहिचान के लिये द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग ११ श्लोक चौबीस^२ में लिखा है कि आठ स्पर्शवाला बादर रूपी द्रव्य गुरुलघु होता है और चार स्पर्श वाले सूक्ष्म रूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक भी अगुरुलघु होते हैं । इसके अनुसार तैजस वर्गणा के गुरुलघु होने से उसमें तो आठ स्पर्श सिद्ध होते हैं और उसके बाद की भाषा, कर्म आदि वर्गों के अगुरुलघु होने से उनमें चार स्पर्श माने जाते हैं ।

इस प्रकार से अभी तक जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्म-स्कन्धों के स्वरूप की एक विशेषता बतलाई है कि 'अन्तिम चउफास

१ पञ्चसंग्रह ४१०

२ बादरमष्टस्पर्श द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम् ।

अगुरुलघु चतुस्पर्श सूक्ष्मं वियदाशमूर्तमपि ॥

दुर्गंधगन्धवन्नरसकम्मगन्धदलं' वे कर्मस्कन्ध अन्तिम चार स्पर्श, दो गंध, पांचवर्ण और पांच रस वाले होते हैं। अब आगे उनकी दूसरी वियोगता का वर्णन करते हैं कि वे कर्मस्कन्ध मन्वजियणंतगुणरसं सर्वं जोवरणि से अनन्तगुणे रस के धारक होते हैं। यहां रस का अर्थ खट्टे, मीठे आदि पांच प्रकार के रस नहीं किन्तु उन कर्मस्कन्धों में शुभाशुभ फल देने की शक्ति है। यह रस प्रत्येक पुद्गल में पाया जाता है। जिस तरह पुद्गल द्रव्य के सबसे छोटे अंश को परमाणु कहते हैं, उसी तरह शक्ति के सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते हैं। ये रसाणु बुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने से बनते हैं।^१ क्योंकि जैसे पुद्गल द्रव्य के स्कन्धों के टुकड़े किये जा सकते हैं वैसे उसके अन्दर रहने वाले गुणों के टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं। फिर भी हम दृश्यमान वस्तुओं में गुणों की हीनाधिकता को बुद्धि के द्वारा सहज में ही जान लेते हैं। जैसे कि भैंस, गाय और बकरी का दूध हमारे सामने रखा जाये तो उसकी परीक्षा कर कह देते हैं कि भैंस के दूध में चिकनाई अधिक है और गाय के दूध में उससे कम तथा बकरी के दूध में तो चिकनाई नहीं-जैसी है। इस प्रकार से यद्यपि चिकनाई गुण होने से उसके अलग-अलग खण्ड तो नहीं किये जा सकते हैं किन्तु उसकी तरतमता का ज्ञान किया जाता है। यह तरतमता ही इस बात को सिद्ध करती

१ रसाणु को गुणाणु या भावाणु भी कहते हैं और ये बुद्धि के द्वारा खण्ड किये जाने पर बनते हैं। जैसा कि पंचमग्रह में लिखा है—

पञ्चण्ह सरीराणं परमाणुण मईए अविभागी ।

कप्पियमाणं गंसी गुणाणु भावाणु वा होति ॥४१७॥

पांच शरीरों के योग्य परमाणुओं की इस शक्ति का बुद्धि के द्वारा खण्ड करने पर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं।

है कि बुद्धि द्वारा गुणों के भी अंश हो सकने के और उनके तरतम भाव का ज्ञान किया जाता है ।

इन गुणों के अंशों को रसाणु कहते हैं । ये रसाणु भी सबसे जघन्य रस वाले पुद्गल द्रव्य में सर्व जीवराशि से अनन्तगुणें होते हैं ।^१ इसीलिए कर्मस्कन्ध को सर्व जीवराशि से अनन्तगुणें रसाणुओं से युक्त कहा है—अणुजुत^२ । ये रसाणु ही जीव के भावों का निमित्त पाकर कटुक या मधुर (अशुभ या शुभ) रूप फल देते हैं ।

कर्मस्कन्धों की तीसरी विशेषता है कि अणतयथासं एक-एक कर्मस्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है । ऐसा नहीं है कि कर्मस्कन्धों के प्रदेशों की संख्या निश्चित हो । किन्तु प्रत्येक कर्मस्कन्ध अनन्तामन्त प्रदेश वाला है, यानी वह अनन्त परमाणु वाला होता है ।

पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्ध पौद्गलिक हैं और पौद्गलिक होने से उनमें रूप, रस आदि पौद्गलिक गुण पाये जाते हैं । उनमें सर्व जीवराशि से भी अनन्तगुणी फलदान शक्ति होती है तथा अनन्त प्रदेशी है । इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण करके योग्य कर्मस्कन्धों का स्वरूप जानना चाहिए ।

इस प्रकार कर्मस्कन्धों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के बाद

१ जीवमज्जवमाया सुभामुष्मासखलोगपरिमाणा ।

सत्त्वजियाणंतगुणा एक्केक्के हंति भावाण् ॥— पच्चसंगह ४३६

अनुभाग के कारण जीव के कषायोदय रूप परिणाम दो तरह के होते हैं—शुभ और अशुभ । शुभ परिणाम अमर्याद लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं । एक-एक परिणाम द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में सर्व जीवों में अनन्तगुणें भावाणु (रसाणु) होते हैं ।

अब यह बतलाते हैं कि जीवों द्वारा किस क्षेत्र में रहने वाले कर्मस्कन्धों को ग्रहण किया जाता है और ग्रहण करने की प्रक्रिया क्या है ।

प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्त लोक पुद्गल-द्रव्य से उसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य औदारिक आदि अनेक वर्गणाओं में विभाजित है और पुद्गलात्मक होने से ये समस्त लोक में पाई जाती है । उक्त वर्गणाओं में ही कर्मवर्गणा भी एक है, अतः कर्मवर्गणा भी लोकव्यापी है । इन लोकव्यापी कर्मवर्गणाओं में से प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है जो उसके अत्यन्त निकट होती हैं । एगपएसोगाढं—यानी जीव के अत्यन्त निकट-तम प्रदेश में व्याप्त कर्मवर्गणायें जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं । जैसे आग में तपाये लोहे के गोले को पानी में डाल देने पर वह अपने निकटस्थ जल को ग्रहण करता है किन्तु दूर के जल को ग्रहण नहीं करता है, वैसे ही जीव भी जिन आकाश प्रदेशों में स्थित होता है, उन्हीं आकाश प्रदेशों में रहने वाली कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा जीव द्वारा कर्मों के ग्रहण करने की प्रक्रिया यह है कि जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल में गिरने पर चारों ओर से पानी को खींचता है वैसे ही जीव भी सर्व आत्मप्रदेशों से कर्मों को ग्रहण करता है ।^१

१ (क) एगक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहि कम्मणां जोग्ग ।

ब्रध्वि भगहेवुहि य अणादियं तादिय उभय ॥ गो० कर्मकांड १८५

एक अभिन्न क्षेत्र में स्थित कर्मरूप होने के योग्य अनादि, मादि और उभयरूप द्रव्य को यह जीव सब प्रदेशों में कारण मिलने पर बांधता है ।

(ख) एगपएसोगाढे सव्वपदेसेहि कम्मणां जोगे ।

जीवो पोभालद्वे गिण्हइ साई अणाई वा ॥ —पंचमग्रह २८४

एक क्षेत्र में स्थित कर्मरूप होने के योग्य मादि अथवा अनादि पुद्गल द्रव्य को जीव अपने समस्त प्रदेशों से ग्रहण करता है ।

ऐसा नहीं होता है कि आत्मा के अमुक हिस्से से ही कर्मों का ग्रहण किया जाता हो। इसी बात को बतलाने के लिए गाथा में कहा है—
नियसब्धपएसउ गहेइ जिउ—यानी जीव अपने अमुक हिस्से द्वारा ही किसी निश्चित क्षेत्र में स्थिति कर्मस्कन्धों का ग्रहण नहीं करके समस्त आत्म-प्रदेशों द्वारा कर्मों का ग्रहण करता है।

इस प्रकार से जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्धों का स्वरूप और उनके ग्रहण करने की प्रक्रिया आदि का कथन करने के पश्चात् अब आगे यह स्पष्ट करते हैं कि जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों का किस क्रम से विभाग होता है।

थेवो आउ तदसो नामे गोए समो अहिउ ॥७६॥

विग्धावरणे मोहे सव्वोवरि वेणणीय जेणप्पे ।

तस्स फुडत्तं न हवइ ठिईविसेसेण सेसाणं ॥७७॥

शब्दार्थ—थेवो—सबसे अल्प, आउ आयुर्कर्म का, तदसो—उसका अंश, नामे—नामकर्म का, गोए—गोत्रकर्म का, समो—समान, अहिउ—विशेषाधिक, विग्धावरणे—अन्तराय और ब्राह्मणाधिक का, मोहे मोह का, सव्वोवरि—सबसे अधिक, वेणणीय—वेदनीय कर्म का, जेण जिस कारण से, अप्पे—अल्पदलित होने पर, तस्स—उसका (वेदनीय का), फुडत्त—स्पष्ट रीति से अनुभव, न हवइ—नहीं होता है, ठिईविसेसेण—स्थिति की अपेक्षा न, सेसाणं—लोप कर्मों का।

गान्धार्य—आयुर्कर्म का हिस्सा सबसे थोड़ा है। नाम और गोत्र कर्म का भाग आपस में समान है किन्तु आयुर्कर्म के भाग से अधिक है, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हिस्सा आपस में समान है किन्तु नाम और गोत्र के हिस्से से अधिक है। मोहनीय का हिस्सा उससे अधिक है और

सबसे अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। क्योंकि थोड़े द्रव्य के होने पर वेदनीय कर्म का अनुभव स्पष्ट रीति से नहीं हो सकता है। वेदनीय के अलावा शेष मानों कर्मों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भाग मिलता है।

विशेषार्थ इस नाया में जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों का ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों में विभाजित होने को बनलाया है।

जिस प्रकार भोजन के पेट में जाने के बाद कालक्रम से वह रस, रश्मि आदि रूप हो जाता है, उसी प्रकार जीव द्वारा प्रति समय ग्रहण की जा रही कर्मवर्गणायें भी उसी समय उतने हिस्सों में बंट जाती हैं जितने कर्मों का बंध उस समय उस जीव ने किया है।

पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि प्रति समय जीव द्वारा कर्मस्कन्धों का ग्रहण होता रहता है, लेकिन यह भी स्पष्ट किया है कि आयुर्कर्म का बंध सर्वदा न होकर भुज्यमान आयु के विभाग में होता है तथा वह भी अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इन विभागों में भी बंध न हो तो अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर अवश्य भी परभव की आयु का बंध हो जाता है। अतः जिस समय जीव आयुर्कर्म का बंध करता है उस समय तो ग्रहण किये जाने वाले कर्मस्कन्ध आयुर्कर्म सहित ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों में विभाजित हो जाते हैं यानी उनके आठ भाग हो जाते हैं और जिस समय आयु का बंध नहीं होता है, उस समय ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध आयुर्कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों में विभाजित होने हैं।

यह तो हुआ एक सामान्य नियम। लेकिन गुणस्थानक्रमारोहण के समय जब जीव दसवें सूक्ष्मतन्त्रपराय गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है तब आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का बंध करता है। अतः उस समय गृहीत कर्मस्कन्ध सिर्फ छह कर्मों में ही विभाजित

होते हैं और ग्यारहवें आदि गुणस्थानों से एक सातावेदनोय कर्म का बंध होता है। अतः उस समय ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्ध उस एक कर्म रूप ही हो जाते हैं।

इस प्रकार ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्धों का आठों कर्मों में विभाजित होने का क्रम समझना चाहिये। अब प्रत्येक कर्म को मिलने वाले हिस्से का स्पष्टीकरण करते हैं कि अपनी-अपनी कालस्थिति के अनुसार प्रत्येक कर्म को ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्धों का हिस्सा मिलना है। यानी जिस कर्म की स्थिति कम है तो उसे कम और अधिक स्थिति है तो उसे अधिक हिस्सा मिलेगा; लेकिन यह सामान्य नियम वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों पर लागू होता है। वेदनीय कर्म को अधिक हिस्सा मिलने के कारण को आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

सबसे कम स्थिति आयुर्कर्म की होने से सर्वप्रथम आयुर्कर्म से कर्मस्कन्धों के विभाजन को स्पष्ट किया जा रहा है कि 'थेवो आउ' आयुर्कर्म का भाग सबसे थोड़ा है। इसका कारण यह है कि आयुर्कर्म की स्थिति सिर्फ तेतीस सागर है जबकि नाम, गोत्र आदि शेष सात कर्मों में से किसी की बीस कोड़ाकोड़ी सागर, किसी की नौम कोड़ाकोड़ी सागर और किसी की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। अतः अन्य कर्मों की स्थिति की अपेक्षा आयुर्कर्म की स्थिति सबसे कम होने से आयुर्कर्म को ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों का सबसे कम भाग मिलता है।

आयुर्कर्म से नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा अधिक है। क्योंकि आयुर्कर्म की स्थिति तो सिर्फ तेतीस सागर ही है, जबकि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। नाम और गोत्र कर्म की स्थिति समान है अतः उन्हें हिस्सा भी बराबर-बराबर मिलना है—नामे गोए समो। अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों को नाम

और गोत्र कर्म से अधिक हिस्सा मिलता है। क्योंकि नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तो बीस-तीस कोड़ाकोड़ी सागर है जबकि अन्तराय आदि तीन कर्मों में से प्रत्येक की स्थिति तीस-तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। लेकिन इन तीनों कर्मों की स्थिति समान होने से उनका भाग आपस में बराबर-बराबर है। इन तीनों कर्मों से मोहनीय कर्म का भाग अधिक है, क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों को उनकी स्थिति के अनुसार क्रमशः अधिक पुद्गलस्कन्धों के प्राप्त होने को बतलाया। अब वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने के कारण को स्पष्ट करते हैं - सर्वोपरि वेदनीय। क्योंकि बहुत द्रव्य के बिना वेदनीय कर्म के सुख-दुःख आदि का अनुभव स्पष्ट नहीं होता है। अल्प द्रव्य मिलने पर वेदनीय कर्म अपने सुख-दुःख का वेदन कराने रूप कार्य करने में समर्थ नहीं होता है—जेणप्पे तस्स फुडत्तं न हवई। किन्तु अधिक द्रव्य मिलने पर ही वह अपना कार्य करने में समर्थ है। वेदनीय कर्म को अधिक द्रव्य मिलने का कारण यह है कि सुख-दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा अधिक होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति-समय सुख-दुःख का वेदन करता है, जिससे वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी-

१ चम्मो वुड्ढठिईणं भागो दलियस्स होइ सविमसो ।

तइयम्म सर्वजट्ठो तस्म फुडत्तं जओणप्पे ॥

- पंचसंग्रह २:५

अधिक स्थिति वाले कर्मों का भाग कम से अधिक होता है किन्तु वेदनीय का भाग सबसे ज्येष्ठ होता है क्योंकि अल्प दल होने पर उसका व्यक्त अनुभव नहीं हो सकता है।

लिए उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है ।^१ इसी से वेदनीय कर्म की स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर होने पर भी उसे सबसे अधिक भाग^२ मिलता है ।

इस प्रकार से मूल प्रकृतियों में कर्मस्कन्धों के विभाग को बतलाकर अब आगे की गाथा में उत्तर प्रकृतियों में उसका क्रम बतलाते हैं ।

नियत्राडलद्धदलियाणंतसो होइ सखघाईण ।

बज्जंतोण विमज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥८१॥

शब्दार्थ—नियत्राडलद्धदलिय—अपनी मूल प्रकृति रूप जाति द्वारा प्राप्त किये गये कर्म दलिकों का, अणंतंसो—अनन्तवां भाग, होई—होना है, सखघाईण—सर्वघाती प्रकृतियों का, बज्जंतोण—बंधने वाला, विमज्जइ—विभाजित होता है, सेसं शेष भाग, सेसाण—बाकी की प्रकृतियों में, पइसमयं—प्रत्येक समय में ।

गाथार्थ—अपनी-अपनी मूल प्रकृति द्वारा प्राप्त किये गये कर्मदलिकों का अनन्तवां भाग सर्वघाति प्रकृतियों को प्राप्त होता है और शेष बचा हुआ हिस्सा प्रतिसमय बंधने वाली प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है ।

विशेषार्थ—गाथा में यह बताया गया है कि मूल कर्मप्रकृतियों को प्राप्त होने वाला पुद्गल द्रव्य ही उन-उन कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में विभाजित होकर उन्हें प्राप्त होता है । क्योंकि उत्तर प्रकृतियों के

१ सुहृदृक्खणिमित्तरो बहुणिज्जरभोत्ति वेदणीयम्म ।

सखेहितो बहुगं दव्वं होदित्ति णिट्ठं ॥

गो० कर्मकांड १६३

२ स्थिति के अनुसार कर्मों को अल्प व अधिक भाग मिलने की रीति को गो० कर्मकांड में स्पष्ट किया गया है । उसको जानकारी परिशिष्ट में दी गई है ।

सिवाय मूल प्रकृति नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस प्रकार गृहीत पुद्गल द्रव्य उन्हीं कर्मों में विभाजित होता है जिन कर्मों का उस समय बंध होता है, उसी प्रकार प्रत्येक मूल प्रकृति को जो भाग मिलता है, वह भाग भी उसकी उन्हीं उत्तर प्रकृतियों में विभाजित होता है, जिनका उस समय बंध होता है और जो प्रकृतियाँ उस समय नहीं बंधती हैं, उनको उस समय भाग भी नहीं मिलता है।^१

ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार धातिकर्म हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यह चार अधातिकर्म हैं। धातिकर्मों को कुछ उत्तर प्रकृतियाँ सर्वधातिनी होती हैं और कुछ देशधातिनी। गाथा में सर्वधातिनी और देशधातिनी प्रकृतियों को लक्ष्य में रखकर प्राप्त द्रव्य के विभाग को बतलाया है कि—अणंतं सो होई सख्खाईणं—धातिकर्मों को जो भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वधातिनी प्रकृतियों में और शेष बहुभाव बंधने वाली देशधाति प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है^२—वर्ज्यंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं।

१ ज समय जावइयाहं बंधए ताण एरिस बिहीए।

पत्तेय पत्तेयं भागे निव्वरुए जीवो ॥ —पंचसंगह २८३

२ (क) जं सख्खातिपत्तं सगकम्मपएसणंतमो भागो।

आवरणाण चउद्धा तिहा य वह पंचहा विधे ॥

—कर्मप्रकृति, बंधनकरण, पा० २५

जो कर्मदलिक सर्वधाति प्रकृतियों को मिलता है, वह अपनी-अपनी मूल प्रकृति को मिलने वाले भाग का अनन्तवां भाग होता है और शेष द्रव्य का बटवारा देशधातिनी प्रकृतियों में हो जाता है। अतः ज्ञानावरण का शेष द्रव्य चार भागों में विभाजित होकर उसकी चार देश-
(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि ज्ञानावरण को उत्तर प्रकृतियाँ पांच हैं। उनमें से केवलज्ञानावरण प्रकृति सर्वधातिनी है और शेष चार देशधातिनी हैं। अतः जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरण रूप परिणत होता है, उसका अनन्तवां भाग सर्वधाती है अतः वह केवलज्ञानावरण को मिलता है और शेष देशधाती द्रव्य चार देशधाती प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं। उनमें केवलदर्शनावरण और निद्रा आदि स्त्यानर्द्धि पर्यन्त पांच निद्रायें सर्वधातिनी हैं और शेष तीन प्रकृतियाँ देशधातिनी हैं। अतः जो द्रव्य दर्शनावरण रूप परिणत होता है उसका अनन्तवां भाग सर्वधाति होने से वह छह सर्वधातिनी प्रकृतियों में बंट जाता है और शेष द्रव्य तीन देशधातिनी प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है।

मोहनीय कर्म को जो भाग मिलता है, उसमें अनन्तवां भाग सर्वधाती है और शेष देशधाती द्रव्य है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्र्यमोहनीय, अतः प्राप्त सर्वधाती द्रव्य के भी दो भाग हो जाते हैं। उसमें से एक भाग दर्शनमोहनीय को मिल जाता

धातिनी प्रकृतियों को और दर्शनावरण का शेष द्रव्य तीन भागों में विभाजित होकर उसकी तीन देशधातिनी प्रकृतियों को मिल जाता है किन्तु अन्तराय कर्म को मिलने वाला भाग पूरा का पूरा पांच भागों में विभाजित होकर उसकी पाँचों देशधातिनी प्रकृतियों को मिलता है, क्योंकि अन्तराय की कोई भी प्रकृति सर्वधातिनी नहीं है।

(ख) सङ्कुकोसरसो जो मूलविभागस्सण्ठिमो भागो ।

सद्वर्चाईण दिग्जड सो डयरो देसघाईण ॥

—पञ्चसंग्रह ४३४

मूल प्रकृति को मिले हुए भाग का अनन्तवां भाग प्रमाण जो उत्कृष्ट रस वाला द्रव्य है, वह सर्वधातिनी प्रकृतियों को मिलता है और शेष अङ्गुलकृष्ट रस वाला द्रव्य देशधातिनी प्रकृतियों को दिया जाता है।

और दूसरा भाग चारित्रमोहनीय को । दर्शनमोहनीय को प्राप्त पूरा भाग उसकी उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व को हो मिलता है, क्योंकि वह सर्वधातिनी है । किन्तु चारित्रमोहनीय के प्राप्त भाग के बारह भेद होकर अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, इन बारह भागों में बंट जाता है । मोहनीय कर्म के देशघाती द्रव्य के दो भाग होते हैं । उनमें से एक भाग कषायमोहनीय का और दूसरा नोकषाय मोहनीय का होता है । कषायमोहनीय के द्रव्य के चार भाग होकर संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ को मिल जाते हैं और नोकषाय मोहनीय के पांच भाग होकर क्रमशः तीन वेदों में से किसी एक बध्यमान वेद को, हास्य और रति के युगल तथा शोक और अरति के युगल में से किसी एक युगल को (युगल में से प्रत्येक को एक भाग) तथा भय और जुगुप्सा को मिलते हैं ।^१

१ (क) उक्कोसरसस्सद्धं मिच्छं अद्धं तु इयरघाईणं ।
संजलणं नोकसाया सेसं अद्धदयं लेति ॥

— पंचसंग्रह ४३५

मोहनीय कर्म के सर्वधाति द्रव्य का आधा भाग मिथ्यात्व को मिलता है और आधा भाग बारह कषायों को । शेष देशघाति द्रव्य का आधा भाग संज्वलन कषाय को और आधा भाग नोकषाय को मिलता है ।
(ख) मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि वज्झमाणीणं ।

— कर्मप्रकृति, बंधनकरण २६

स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार मोहनीय को जो भाग मिलता है उसके अनन्तर्वे भाग सर्वधाति द्रव्य के दो भाग किये जाते हैं । आधा भाग दर्शनमोहनीय को और आधा भाग चारित्रमोहनीय को मिलता है । शेष मूल भाग के भी दो भाग किये जाते हैं, उसमें से आधा भाग कषाय-
(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

अन्तराय कर्म को प्राप्त भाग पांच विभागों में विभाजित होकर उसकी दान-अन्तराय आदि पांचों उत्तर प्रकृतियों को मिलता है। क्योंकि अन्तराय कर्म देशघाती है और ध्रुवबंधी होने के कारण दाना-न्तराय आदि पांचों प्रकृतियां सदा बंधती हैं।

घातिकर्मों की उत्तर प्रकृतियों में प्राप्त द्रव्य के विभाजन को बतलाने के पश्चात् अब वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को प्राप्त भाग के विभाग को स्पष्ट करते हैं।

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियां हैं, किन्तु उनमें से प्रति समय एक ही गति का बंध होता है, अतः वेदनीय कर्म को जो द्रव्य मिलता है वह उस समय बंधने वाली एक प्रकृति को मिलता है। इसी प्रकार आयुकर्म के बारे में भी समझना चाहिए कि आयुकर्म की एक समय में एक ही उत्तर प्रकृति बंधती है तथा आयुकर्म को जो भाग मिलता है वह उस समय बंधने वाली एक प्रकृति को ही मिल जाता है।

नामकर्म को जो मूल भाग मिलता है वह उसकी बंधने वाली उत्तर प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। अर्थात् गति, जाति, शरीर, उपांग, बंधन, संघात, संहनन, संस्थान आनुपूर्वी, वर्णचतुष्क, अगुरु-लघु, पराघात, उद्योत, उपघात, उच्छ्वास, निर्माण, तीर्थकर, आतप, विहायोगति और असदशक अथवा स्थावरदशक में से जितनी प्रकृ-

मोहनीय को और आधा भाग नोकषाय मोहनीय को मिलता है। कषाय-मोहनीय को मिलने वाले भाग के पुनः चार भाग होते हैं और वे चारों भाग संज्वसन क्रोध, मान, माया और लोभ को दिये जाते हैं। नोकषाय मोहनीय के पांच भाग होते हैं। जो तीन वेदों में से किसी एक वेद को, हास्य-रति और शोक-अरति के युगलों में से किसी एक युगल को, भय और जुगुप्सा को दिये जाते हैं। क्योंकि एक समय में पांचों ही नोकषाय का बंध होता है।

तियों का एक समय में बंध होता है, उतने भागों में वह प्राप्त द्रव्य बंट जाता है।

उक्त प्रकृतियों में से कुछ एक के बारे में विशेषता यह है कि वर्ण-चतुष्क को जितना-जितना भाग मिलता है वह उनके अवान्तर भेदों में बंट जाता है। जैसे वर्ण नाम को मिलने वाला भाग उसके पांच भागों में विभाजित होकर शुक्ल आदि भेदों में बंट जाता है। इसी तरह गंध, रस और स्पर्श के अवान्तर भेदों के बारे में भी समझना चाहिए कि उन-उनको प्राप्त भाग उनके अवान्तर भेदों में विभाजित होता है। संघात और शरीर नामकर्म को जो भाग मिलता है वह तीन या चार भागों में विभाजित होकर संघात और शरीर नाम की तीन या चार प्रकृतियों को मिलता है। संघात और शरीर नाम के तीन या चार भागों में विभाजित होने का कारण यह है कि यदि औदारिक, तैजस और कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों और संघातों का एक साथ बंध होता है तो तीन भाग होते हैं और यदि वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर तथा संघात का बंध होता है तो चार विभाग हो जाते हैं।

बंधन नाम को प्राप्त होने वाले भाग के यदि तीन शरीरों का बंध हो तो सात भाग होते हैं और यदि चार शरीरों का बंध हो तो ग्यारह भाग होते हैं। सात और ग्यारह भाग इस प्रकार जानना चाहिए कि औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण इन सात बंधनों का बंध होने पर सात भाग अथवा वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण, इन सात बंधनों का बंध होने पर सात भाग होते हैं और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क तथा तैजस और कार्मण के तीन इस प्रकार ग्यारह बंधनों का बंध होने पर ग्यारह भाग होते हैं।

इसके सिवाय नामकर्म की अन्य प्रकृतियों में कोई अवान्तर विभाग नहीं होने से जो भाग मिलता है वह पूरा बंधने वाली उस एक प्रकृति को ही मिल जाता है। क्योंकि अन्य प्रकृतियाँ आपस में विरोधिनी हैं अतः एक का बंध होने पर दूसरी का बंध नहीं होता है। जैसे कि एक गति का बंध होने पर दूसरी गति का बंध नहीं होता है। इसी तरह जाति, संस्थान और संवत्सर भी एक भाग में एक ही बंधता है और त्रसदशक का बंध होने पर स्थावरदशक का बंध नहीं होता है।

गोत्रकर्म को जो भाग मिलता है, वह सबका सब उसकी बंधने वाली एक ही प्रकृति को मिलता है, क्योंकि गोत्रकर्म की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है।^१

इन बंधने वाली प्रकृतियों के विभाग-क्रम में से जब अपने-अपने गुणस्थानों में किसी प्रकृति का बंधविच्छेद हो जाता है तो उसका भाग सजातीय प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है और यदि सजातीय

१ वेदनीय, आयु, गोत्र और नाम कर्म के द्रव्य का बटवारा उनकी उत्तर प्रकृतियों में करने का क्रम कर्मप्रकृति में इस प्रकार बताया है—

वेद्यनिआयुगोएसु बज्जमाणीण भागो सि ॥

पिडपगतीसु बज्जंतिगाण वन्नरमगंधपासाण ।

सव्वार्सि संघाए तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥

—बंधनकरण गा० २६, २७

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो मूल भाग मिलता है, वह उनकी बंधने वाली एक-एक प्रकृति को ही मिल जाता है, क्योंकि इन कर्मों की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है। नामकर्म को जो भाग मिलता है, वह उसकी बंधने वाली प्रकृतियों का होता है। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श को जो भाग मिलता है, वह उनकी सब अवान्तर प्रकृतियों को मिलता है। संघात और शरीर को जो भाग मिलता है, वह तीन या चार भागों में बंट जाता है।

प्रकृति का भी बंधविच्छेद हो जाये तो उनके हिस्से का द्रव्य उनकी मूल प्रकृति के अन्तर्गत विजातीय प्रकृतियों को मिलता है। यदि उन विजातीय प्रकृतियों का भी बंध रुक जाता है तो उस मूल प्रकृति को द्रव्य न मिलकर अन्य मूल प्रकृतियों को द्रव्य मिल जाता है। जैसे कि स्थानाद्वित्रिक का बंधविच्छेद होने पर उनके हिस्से का द्रव्य उनकी सजातीय प्रकृति निद्रा और प्रचला को मिलता है और निद्रा व प्रचला का भी बंधविच्छेद होने पर उनका द्रव्य अपनी ही मूल प्रकृति के अन्तर्गत चक्षुदर्शनावरण आदि विजातीय प्रकृतियों को मिलता है। उनका भी बंधविच्छेद होने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में सब द्रव्य सातावेदनीय को ही मिलता है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के बारे में भी समझना चाहिए। सारांश यह है कि किसी प्रकृति का बंध-विच्छेद होने पर उसका भाग समान जातीय प्रकृति को मिल जाता है और उस समान जातीय प्रकृति का भी बंधविच्छेद होने पर मूल प्रकृति के अन्तर्गत उनकी विजातीय प्रकृतियों का मिलता है। यदि उस मूल प्रकृति का ही विच्छेद हो जाये तो विद्यमान अन्य मूल प्रकृतियों को वह द्रव्य प्राप्त होने लगता है।

इस प्रकार बताई गई रीति के अनुसार मूल और उत्तर प्रकृतियों को कर्मदलिक मिलते हैं^१ और गुणश्रेणि रचना के द्वारा ही जीव उन कर्मदलिकों के बहुभाग का क्षपण करता है। अतः अब आगे गुणश्रेणि का स्वरूप, उसकी संख्या और नाम बतलाते हैं। सर्वप्रथम गुणश्रेणि की संख्या और नामों को कहते हैं कि—

१ गो० कर्मकांड गा० १६६ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य के बटवारे का वर्णन किया है तथा कर्मप्रकृति (प्रदेशबध्ना गा २८) में दलिका के विभाग का पूरा-पूरा विवरण तो नहीं दिया है। किन्तु उत्तर प्रकृतियों में कर्मदलिकों के विभाग की हीनाधिकता बतलाई है। उक्त दोनों ग्रन्थों का संतव्य परिशिष्ट में दिया गया है।

सम्पदरसव्यविरहं अणविसंजोयदंसखवगे य ।

मोहसमसंनखवगे क्षीणसजोगियर गुणसेढी ॥८२॥

शब्दार्थ — सम्पदरसव्यविरहं — सम्यक्त्व, देशविरति, सर्व-
विरति, अणविसंजोय — अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन, दंसखवगे —
दर्शनमोहनीय का क्षपण, मोहसम — मोहनीय का उपशमन, संत —
उपशान्तमोह, खवगे क्षण, क्षीण — क्षीणमोह सजोगियर —
सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, गुणसेढी — गुणश्रेणि ।

साधार्थ — सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानु-
बन्धी का विसंयोजन, दर्शनमोहनीय का क्षपण, चारित्रमोह-
नीय का उपशमन, उपशान्तमोह, क्षपण, क्षीणमोह, सयोगि-
केवली और अयोगिकेवली ये गुणश्रेणियां हैं ।

विशेषार्थ — यद्यपि बद्ध कर्मों की स्थिति और रस का घात तो
बिना वेदन किये ही शुभ परिणामों के द्वारा किया जा सकता है किन्तु
निर्जरा के लिये उनका वेदन होना जरूरी है यानी कर्मों के दलिकों
का वेदन किये बिना उनकी निर्जरा नहीं हो सकती है । यों तो जीव
प्रतिसमय कर्मदलिकों का अनुभवन करता रहता है और उससे निर्जरा
होती है । कर्मों की इस भोगजन्य निर्जरा को औपक्रमिक निर्जरा
अथवा सविपाक निर्जरा कहते हैं । किन्तु इस तरह से एक तो परिमित
कर्मदलिकों को ही निर्जरा होती है और दूसरे इस भोगजन्य निर्जरा
के साथ नवीन कर्मों के बंध का क्रम भी चलता रहता है । अर्थात्
इस भोगजन्य निर्जरा के द्वारा नवीन कर्मों का बंध होता रहता है,
जिसके कर्मनिर्जरा का वास्तविक रूप में फल नहीं निकलता है,
जीव कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो पाता है । अतः कर्मबन्धन से मुक्त
होने के लिए कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक कर्मपरमाणुओं
का क्षय होना आवश्यक है और उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही

जानी चाहिये । अल्पसमय में उत्तरोत्तर कर्मपरमाणुओं की अधिक-से-अधिक संख्या में निर्जरा होने को गुणश्रेणि निर्जरा कहते हैं । इस प्रकार की निर्जरा तभी हो सकती है जब आत्मा के भावों में उत्तरोत्तर विष्णुद्वि की वृद्धि होती है । उत्तरोत्तर विष्णुद्वि स्थानों पर आरोहण करने से ही अधिक-से-अधिक संख्या में निर्जरा होती है ।

गाथा में विष्णुद्विस्थानों के क्रम से नाम कहे हैं । जिनमें उत्तरोत्तर अधिक-अधिक निर्जरा होती है । ये स्थान गुणश्रेणि निर्जरा अथवा गुणश्रेणि रचना का कारण होने से गुणश्रेणि कहे जाते हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ सम्यक्त्व (सम्यक्त्व की प्राप्ति होना), २ देशविरति, ३ सर्वविरति, ४ अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन, ५ दर्शनमोहनीय का क्षयण, ६ चारित्र्यमोह का उपशमन, ७ उपशान्तमोह, ८ क्षयण, ९ क्षीणमोह, १० सयोगिकेवली और ११ अयोगिकेवली ।

इनका संक्षेप में अर्थ इस प्रकार है कि जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये अपूर्वकरण आदि करण करते समय असंख्यातगुणी-

- १ समतदेमनगुन्मद्विरहउत्पत्तिअणविसंजोगे ।
दमणखवणे मोहस्त समणे उक्कमंत खवणे य ॥
खीणाइनिगे असंखगुणियगुणसेद्विद्वलिय जहुकमसो ।
ममत्ताइणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे ॥

—पंचसंगह ३१४, ३१५

सम्यक्त्व देशविरति और सम्पूर्ण विरति की उत्पत्ति में, अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में, दर्शनमोहनीय के क्षयण में, मोहनीय के उपशमन में, उपशान्तमोह में, क्षयण श्रेणि में और क्षीणकषाय आदि तीन गुणस्थानों में असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे वस्तुओं की गुणश्रेणि रचना होती है तथा सम्यक्त्व आदि स्यारह गुणश्रेणियों का काल क्रमशः संख्यातवै भाग, संख्यातवै भाग है ।

असंख्यातगुणी निर्जरा करता है तथा सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद भी उसका क्रम चालू रहता है। यह पहली सम्यक्त्व नाम की गुणश्रेणि है। आगे की अन्य गुणश्रेणियों की अपेक्षा इस श्रेणि में सम्यक्त्व-प्राप्ति के समय में—मंद विषुद्धि रहती है अतः उनकी अपेक्षा से इसमें कम कर्मदलिकों की गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उनके वेदन करने का काल अधिक होता है। परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व की स्थिति की अपेक्षा कर्मदलिकों की संख्या अधिक और समय कम समझना चाहिये। इस सम्यक्त्व नाम की प्रथम गुणश्रेणि को कर्मनिर्जरा का बीज कह सकते हैं।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् जीव जब विरति का एकदेश पालन करता है तब देशविशुद्ध नाम की दूसरी गुणश्रेणि होती है। इसमें प्रथम श्रेणि की अपेक्षा असंख्यात गुणों अधिक कर्मदलिकों की गुणश्रेणि रचना होती है और वेदन करने का समय उससे संख्यात गुणा कम होता है।

सम्पूर्ण विरति का पालन करने पर तीसरी गुणश्रेणि होती है। देशविरति से इसमें अनन्त गुणी विषुद्ध होती है जिससे इसमें पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणों अधिक कर्मदलिकों की गुणश्रेणि रचना होती है किन्तु उसके वेदन करने का समय उससे संख्यात गुणा हीन होता है।

जब जीव अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के समस्त कर्मदलिकों को अन्य कषाय रूप परिणामात्ता है तब चौथी गुणश्रेणि होती है। दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों—सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—का विनाश करते समय पांचवीं दर्शनमोहनीय का क्षयण गुणश्रेणि होती है। आठवें नौवें और दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का उपशमन करते समय चारित्रमोहनीय का उपशमन नामक छठी गुणश्रेणि

होती है। उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में सातवीं गुण-श्रेणि और क्षपकश्रेणि में चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में नौवीं गुणश्रेणि, सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में दसवीं गुण-श्रेणि और अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ग्यारहवीं गुणश्रेणि होती है।^१

इन सभी गुणश्रेणियों में क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असं-ख्यातगुणे कर्मदलिकों की गुणश्रेणि निर्जरा होती है किन्तु उसके वेदन करने का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा, संख्यातगुण हीन लगता है अर्थात् कम समय में अधिक-अधिक कर्मदलिकों का क्षय होता है। इसीलिये इन ग्यारह स्थानों को गुणश्रेणिस्थान कहते हैं।

१ गो० जीवकांड में भी गुणश्रेणियों की गणना इस प्रकार की है—

सम्पत्तुपत्तीये सावयविरदे अणंतकर्मसे ।

दंसणमोहकखवगे कषायउवसामगे य उवसंते ॥६६॥

खवगे य क्षीणमोहे जिनेसु दव्वा असंसगुणिदकमा ।

तविवरीया काला सखेज्जगुणक्कमा होति ॥६७॥

सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर, श्वावक के, मुनि के, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसर्जन करने की अवस्था में, दर्शनमोह का क्षपण करने वाले के, कषाय का उपशम करने वाले के, उपशान्त मोह के, क्षपक श्रेणि के तीन गुणस्थानों में, क्षीणमोह गुणस्थान में तथा स्वस्थान केवली के और समुद्धात करने वाले केवली के गुणश्रेणि निर्जरा का द्रव्य उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा, असंख्यातगुणा है और काल उसके विपरीत है अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणा, संख्यातगुणा काल लगता है—काल उत्तरोत्तर संख्यात गुणहीन है।

कर्मग्रंथ में हमें केवल इतना ही अन्तर है कि अयोगिकेवली के स्थान पर समुद्धातकेवली को गिनाया है।

इन गुणश्रेणियों^१ का यदि गुणस्थान के क्रम से विभाग किया जाये तो उनमें चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी गुणस्थान तथा सम्यक्त्वप्राप्ति के अभिमुख मिथ्यादृष्टि भी संमिलित हो जाते हैं। विशुद्धि की वृद्धि होने पर ही चौथे, पांचवें आदि गुणस्थान होते हैं। अतः आगे-आगे के गुणस्थानों में जो उक्त गुणश्रेणियाँ होती हैं, उनमें अधिक-अधिक विशुद्धि होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार गुणश्रेणियों के ग्यारह स्थानों को बतलाकर अब आगे की गाथा में गुणश्रेणी का स्वरूप तथा गुणश्रेणियों में होने वाली निर्जरा का कथन करते हैं।

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।

एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जोया ॥२॥

शब्दार्थ—गुणसेढी—गुणाकारप्रदेशों की रचना, दलरयणा—ऊपर की स्थिति से उतरते हुए प्रदेशों की रचना, अणुसमय—प्रत्येक समय की, उदयाद—उदय क्षण से, असंखगुणणाए—असंख्य गुणना से, एयगुणा—ये पूर्वोक्त गुण वाले, पुण—पुनः, कमसो—

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र २।४५ में गुणश्रेणियों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—
सम्यग्दृष्टिश्चावकधिरतान्तवियोजकदशानमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिज्जराः ।

इसमें मयोगि, अयोगि केवली के स्थान पर सिर्फ 'जिन' को रखा और टीकाकारों ने उसे एक ही स्थान गिना है।

(ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में मयोगि और अयोगि को गिनाया है—

खवगो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया ।

एदे उवरि उवरि असंखगुणकम्मणिज्जराया ॥१०८॥

किन्तु इसकी संस्कृत टीका में केवली और समुद्धात केवली को गिनाया है और 'अजोईया' को उन्होंने छोड़ दिया है।

अनुक्रम से, असंख्यातगुणनिर्जरा असंख्यात गुण निर्जरा वाले, जीवा — जीव ।

गाथार्थ—ऊपर की स्थिति से उदय क्षण से लेकर प्रति-समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे कर्मदलिकों की रचना को गुणश्रेणि कहते हैं तथा पूर्वोक्त सम्यक्त्व, देशविरति, सर्व-विरति आदि गुण वाले जीव अनुक्रम से असंख्यातगुणी, असं-ख्यातगुणी निर्जरा करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा के पहले खरण में गुणश्रेणि का स्वरूप और दूसरे चरण में पूर्व गाथा में बतलाये गये गुणश्रेणि वाले जीवों के कर्मनिर्जरा का प्रमाण बतलाया है ।

पूर्व में जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि ग्यारह नाम बतलाये हैं वे तो स्वयं गुणश्रेणि नहीं हैं किन्तु उन उनमें क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा होने से गुणश्रेणि के कारण हैं । अतः करण में कार्य का उपचार करके उन्हें गुणश्रेणि कहा जाता है । गुणश्रेणि तो एक क्रियाविशेष है जो इस गाथा में बतलाई गई है—गुणसेढी दलरयणा।

इस क्रिया का प्रारम्भ सम्यक्त्व प्राप्ति से होता है । अतः सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बारे में विचार करते हैं । पहले यह बताया जा चुका है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जीव यथाप्रवृत्तकरण अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करणों को करता है । अपूर्वकरण में प्रवेश करते ही निम्नलिखित चार काम प्रारम्भ हो जाते हैं—

एक स्थितिघात, दूसरा रसघात, तीसरा नवीन स्थितिबंध और चौथा गुणश्रेणि । स्थितिघात के द्वारा पहले बांधे हुए कर्मों की स्थिति को कम कर दिया जाता है । अर्थात् स्थितिघात के द्वारा उन्हीं दलिकों की स्थिति का घात किया जाता है जिनकी स्थिति एक अन्त-

मुहूर्त से अधिक होती है। अतः स्थिति का घात कर देने से जो कर्म-दलिक बहुत समय बाद उदय में आते हैं वे तुरन्त ही उदय में आने योग्य हो जाते हैं। जिन कर्मदलिकों की स्थिति कम हो जाती है उनमें से प्रति समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण करके उदय समय से लेकर ऊपर की ओर स्थापित कर दिये जाते हैं। कर्मदलिकों के निक्षेप करने का क्रम इस प्रकार होता है कि ऊपर की स्थिति से कर्मदलिकों को ग्रहण करके उनमें से उदय समय में थोड़े दलिकों का निक्षेप होता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का दलिकों का निक्षेपण होता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक प्रतिसमय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेपण किया जाता है।^१ अर्थात् पहले समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते

१ कर्मप्रकृति (उपशमनाकरण) की १५वीं गाथा, उसकी प्राचीन जूणि तथा पंचसंग्रह में भी इसी प्रकार गुणश्रेणि का स्वरूप आदि बतलाया है। जो इस प्रकार है—

गुणसेवी निखेवो समये ममये असंखगुणाए ।

अद्यादुगाईरितां सेस सेसे य निखेवो ॥

—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण, गा० १५

प्रतिसमय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों के निक्षेपण करने को गुणश्रेणि कहते हैं। उसका काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक है। इस काल में से ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों ऊपर के शेष समयों में ही दलिकों का निक्षेपण किया जाता है।

उवरिल्लाओ द्वितिउ पोगले घेतूण उदयसमये बोवा पविस्सवति,
यित्थिसमये असंखेज्जगुणा एवं आव अन्तोमुहुत्त ।

—कर्मप्रकृति जूणि

थाइयठिइओ दलियं घेतुं-घेतुं असंखणगुणाए ।

साहियहुकरणकाले उवयाइ सयइ गुणसेवि ॥ —पंचसंग्रह ७४६

हैं, उनमें से थोड़े दलिक उदय समय में दाखिल कर दिये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक उदय समय से ऊपर के द्वितीय समय में दाखिल कर दिये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में, उससे असंख्यातगुणे दलिक क्रमशः चौथे, पाँचवें आदि समयों में दाखिल कर दिये जाते हैं। इसी क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों की स्थापना की जाती है। यह तो हुई प्रथम समय में गृहीत दलिकों के स्थापन करने की विधि। इसी प्रकार शेष दूसरे, तीसरे, चौथे आदि समयों में गृहीत दलिकों के निक्षेपण की विधि जानना चाहिये। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल के समयों तक ही होती रहती है।

सारांश यह है कि गुणश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः अन्तर्मुहूर्त तक ऊपर की स्थिति में से कर्मदलिकों का प्रति समय ग्रहण किया जाता है और प्रति समय जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका स्थापन असंख्यात गुणित क्रम से उदय क्षण से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक में कर दिया जाता है। जैसे कल्पना से अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण १६ समय मान लिया जाये तो गुणश्रेणि के प्रथम समय में जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन पूर्वोक्त प्रकार से १६ समयों में किया जायेगा। दूसरे समय में जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये, उनका स्थापन बाकी के १५ समयों में ही होगा, क्योंकि पहले उदयक्षण का वेदन हो चुका है। तीसरे समय में जो कर्मदलिक ग्रहण किये गये उनका स्थापन शेष चौदह समयों में ही होगा। इसी प्रकार से चौथे, पाँचवें आदि समयों के क्रम के बारे में समझना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक समय में गृहीत दलिकों का स्थापन सोलह ही समयों में होता है और इस तरह गुणश्रेणि का काल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त

काल तक असंख्यात गुणित क्रम से जो दलिकों की स्थापना की जाती है, उसे गुणश्रेणि कहते हैं ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जीव इस प्रकार की गुणश्रेणि रचना करता है । गुणश्रेणि उदय समय से होती है और ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणों दलिकस्थापित किये जाते हैं । अतः गुणश्रेणि करने वाला जीव ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर चढ़ता है त्यों-त्यों प्रति समय असंख्यात-गुणी, असंख्यातगुणों निजरा करता जाता है । इसका कारण यह है कि जिस क्रम से दलिक स्थापित होते हैं उसी क्रम से वे प्रतिसमय उदय में आते हैं, वे असंख्यात गुणित क्रम से स्थापित किये जाते हैं और उसी क्रम से उदय में आते हैं, जिससे सम्यक्त्व में असंख्यात-गुणों निजरा होती है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति के लिये जीव यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण ही करता है, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं करता और अपूर्वकरण में यहां गुणश्रेणि रचना भी नहीं होती है और अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर निश्चित ही देशविरति या सर्वविरति की प्राप्ति हो जाती है । जिससे अनिवृत्तिकरण की आवश्यकता नहीं रहती है ।

उक्त दोनों करण — यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण यदि अविरत दशा में किये जाते हैं तब तो देशविरति या सर्वविरति की प्राप्ति होती है और यदि देशविरति दशा में किये जाते हैं तो सर्वविरति ही प्राप्त होती है । देशविरति अथवा सर्वविरति की प्राप्ति होने पर जीव उदयावलि के ऊपर गुणश्रेणि की रचना करता है । जो प्रकृतियाँ उदयवती होती हैं, उनमें तो उदय क्षण से लेकर ही गुणश्रेणि होती है किन्तु अनुदयवती प्रकृतियों में उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर गुणश्रेणि होती है । पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यामन्तरण और छठे गुण-

स्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय अनुदयवती हैं अतः उनमें उदयावलीका को छोड़कर ऊपर के समय से गुणश्रेणि होती है ।

देशविरति और सर्वविरति को प्राप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव के परिणाम वर्धमान ही रहते हैं, लेकिन उसके बाद कोई नियम नहीं है । किसी के परिणाम वर्धमान भी रहते हैं, किसी के तदवस्थ रहते हैं और किसी के हीयमान हो जाते हैं^१ तथा जब तक देशविरति या सर्वविरति रहती है तब तक प्रतिसमय गुणश्रेणि भी होती है । हां यहां इतनी विशेषता जरूर है कि देशचारित्र अथवा सकलचारित्र के साथ उदयावलि के ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल तक परिणामों की नियत वृद्धि का काल उतना ही होने से असंख्यात गुणित क्रम से गुणश्रेणि की रचना करता है । उसके बाद यदि परिणाम वर्धमान रहते हैं तो परिणामों के अनुसार कभी असंख्यातवें भाग अधिक, कभी संख्यातवें भाग अधिक और कभी संख्यात गुणी और कभी असंख्यात गुणी गुणश्रेणि करता है । यदि हीयमान परिणाम हुए तो उस समय उक्त प्रकार से ही हीयमान गुणश्रेणि करता है और अवस्थित दशा में अवस्थित गुणश्रेणि को करता है । इसका तात्पर्य यह है कि वर्धमान परिणामों की दशा में दलिकों की संख्या बढ़ती हुई होती है, हीयमान दशा में घटती हुई होती है और अवस्थित दशा में अवस्थित रहती है । इस प्रकार देशविरति और सर्वविरति में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ।

चौथी गुणश्रेणि का नाम है अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना । अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन अविरतं सम्यग्दृष्टि, देशविरति

१ उदयावलि ए उर्मि गुणसेडि कुणइ सह चरितेण ।

अंतो असंखगुणणाए तसियं दइइए कालं ॥ — पंचसंग्रह ७६३

और सर्वविरति जीव करते हैं ।^१ अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तो चारों गति के लेना चाहिये और देशविरति मनुष्य व तिर्य्यच होते हैं तथा सर्वविरति मनुष्य ही होते हैं ।

जो जीव अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने के लिये उद्यत होता है वह यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है । यहां इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही गुणसंक्रमण भी होने लगता है यानी अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबन्धी कषाय के थोड़े दलिकों का शेष कषायों में संक्रमण करता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का पर कषाय रूप संक्रमण करता है । यह क्रिया अपूर्वकरण के अंतिम समय तक होती है और उसके बाद अनिवृत्तिकरण में गुण-संक्रमण और उद्बलन संक्रमण के द्वारा दलिकों का विनाश कर देता है । इस प्रकार अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में प्रति समय असंख्यात-गुणी निर्जरा जाननी चाहिये ।

दर्शनमोहनीय का क्षपण जिन काल में (केवलज्ञानी के विद्यमान रहने के समय में) उत्पन्न होने वाला वज्रशृङ्खभनाराच संहनन का धारक मनुष्य आठ वर्ष की उम्र के बाद करता है ।^२ अर्थात् दर्शन-मोहनीय की क्षपणा के लिये समय तो केवलज्ञान प्राप्त आत्मा की विद्यमानता का है और क्षपणा करने वाला मनुष्य वज्रशृङ्खभनाराच संहनन का धारक हो तथा कम-से-कम अवस्था आठ वर्ष से ऊपर

१ चउगइया पज्जता तिन्निवि संयोजणा विजोयति ।

करणेहि तीहि सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ॥

—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण ३१

२ दंसणमोहे वि तहा कयकरणद्धा य पच्छिमे होइ ।

जिणकालगो मणुस्सो पटुवगो अटुवासुप्पि ॥

—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण, ३२

हो। दर्शनमोहनीय की क्षपणा का क्रम भी अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना जैसा है। यहां भी पूर्ववत् तीन करण होते हैं और अपूर्वकरण में गुणश्रेणि आदि कार्य होते हैं।

उपशम श्रेणि का आरोहण करने वाला जीव भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है, लेकिन इतना अंतर है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थान में करता है, अपूर्वकरण-अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में करता है। यहां भी पूर्ववत् स्थितिघात गुणश्रेणि आदि कार्य होते हैं। अतः उपशमक भी क्रम से असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

चारित्रमोहनीय का उपशम करने के बाद उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर भी जीव गुणश्रेणि रचना करता है। उपशान्तमोह का काल अन्तर्मुहूर्त है, और उसके संख्यातवें भाग काल में गुणश्रेणि की रचना होती है, जिससे यहां पर भी जीव प्रति-समय असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जब जीव छठे गुणस्थान तक आकर क्षपक श्रेणि चढ़ता है अथवा उपशमश्रेणि पर आरुढ़ हुए बिना ही सीधा क्षपक श्रेणि पर चढ़ता है तो वहां भी यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन तीनों करणों को करता है और उनमें उपशमक और उपशान्तमोह गुणस्थान से भी असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली नामक गुणश्रेणियों भी उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, असंख्यातगुणी निर्जरा समझना चाहिए।

इन ग्यारह गुणश्रेणियों में से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त होने पर भी प्रत्येक के अन्तर्मुहूर्त का काल उत्तरोत्तर हीन होता है तथा निर्जरा द्रव्य का परिमाण सामान्य से असंख्यातगुणा, असंख्यात-

गुणा होने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ होता है। यानी परिणामों के उत्तरोत्तर विशुद्ध होने से उत्तरोत्तर कम-कम समय में अधिक-अधिक द्रव्य की निर्जरा होती है।

इस प्रकार गुणश्रेणि का विधान जानना चाहिये। गुणश्रेणि के उक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव ज्यों-ज्यों आगे के गुणस्थानों में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और क्रमशः संक्लेश की हानि तथा विशुद्धि का प्रकर्ष होने पर आगे-आगे के गुणस्थान कहलाते हैं। अतः अब आगे की गाथा में गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाते हैं।

पलियासंख्यसमुह सासणइयरगुण अंतरं हस्सं।

गुरु मिच्छो वे छसट्ठी इयरगुणे पुगलद्धंतो ॥८४॥

शब्दार्थ—पलियासंख्यसमुह—पल्य का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त, सासणइयरगुण—सासादन और दूसरे गुणस्थानों का, अंतरं—अन्तर, हस्सं—जघन्य, गुरु—उत्कृष्ट, मिच्छी—मिथ्यात्व में, वे छसट्ठी—दो छियासठ सागरोपम, इयरगुणे—दूसरे गुणस्थानों में, पुगलद्धंतो—कुछ न्यून अर्धपुद्गल परावर्त।

गाथार्थ—सासादन और दूसरे गुणस्थानों का जघन्य अन्तर अनुक्रम से पल्योपम का असंख्यातवां भाग और अन्तर्मुहूर्त है। मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तर दो बार के छियासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है और अन्य गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त है।

विशेषार्थ—पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो चुका है कि गुणश्रेणियों के जो सम्यक्त्व, देशविरति आदि नाम हैं, वे प्रायः गुणस्थान ही हैं। जैसे कि सम्यक्त्व गुण का जिस स्थान में प्रादुर्भाव होता है वह सम्यक्त्व गुणस्थान, जिस स्थान में देशविरति गुण प्रखर होता है वह देशविरति

गुणस्थान कहा जाता है आदि। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अतः उक्त गुणश्रेणियों का संबंध गुणस्थानों के साथ होने के कारण गाथा में गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल बतलाया है। कोई जीव किसी गुणस्थान से च्युत होकर पुनः जितने समय के बाद उस गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह समय उस गुणस्थान का अन्तरकाल कहलाता है।

सर्वप्रथम गुणस्थानों का जघन्य अन्तराल बतलाते हुए कहा है—
पात्वेयासंख्यसमुह सासणइयरगुण अंतरं हस्सं -- सासादनं नामक दूसरे गुणस्थान का जघन्य अन्तरकाल पत्य के असंख्यातवें भाग और शेष गुणस्थानों का अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। जिसको यहां स्पष्ट करते हैं।

सासादन गुणस्थान के जघन्य अन्तरकाल को पत्य के असंख्यातवें भाग इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सम्यक्त्व मोहनीय और 'मिथ्यात्व मोहनीय की उद्वलना' कर देने वाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सासादन सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है। यदि वही जीव उसी क्रम से पुनः सासादन गुणस्थान को प्राप्त करे तो कम-से-कम पत्य के असंख्यातवें भाग काल के बाद ही प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि सासादन गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में आने पर सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय की सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता होते हुए पुनः औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता है और औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना सासादन गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः मिथ्यात्व में जाने के बाद जीव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की प्रतिसमय

१ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमाने को उद्वलन कहते हैं।

उद्ध्वलना करता है यानी दोनों प्रकृतियों के दलिकों को मिथ्यात्व मोहनीय रूप परिणमाता रहता है ।

इस प्रकार उद्ध्वलन करते-करते पत्य के असंख्यातवें भाग काल में उक्त दोनों प्रकृतियों का अभाव हो जाता है और अभाव होने पर वही जीव पुनः औपशमिक सम्बन्धत्व को प्राप्त कर सासादन गुणस्थान में आ जाता है । इसीलिए सासादन गुणस्थान का अंतराल काल पत्य के असंख्यातवें भाग माना गया है ।

सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पत्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाने का कारण यह है कि कोई जीव उपशम श्रेणि से गिरकर सासादन गुणस्थान में आते हैं और अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः उपशम श्रेणि पर चढ़कर और वहां से गिरकर पुनः सासादन गुणस्थान में आते हैं । इस दृष्टि से तो सासादन का जघन्य अंतर बहुत थोड़ा रहता है, किन्तु उपशम श्रेणि से च्युत होकर जो सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह केवल मनुष्यगति में ही संभव है और वहां पर भी इस प्रकार की घटना बहुत कम होती है, जिससे यहां उसकी विवधा नहीं की है किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर जो सासादन की प्राप्ति बतलाई है, वह चारों गतियों में संभव है । अतः उसकी अपेक्षा से ही सासादन का जघन्य अन्तर पत्य के असंख्यातवें भाग बतलाया है । यानी श्रेणि की अपेक्षा नहीं किन्तु उपशम सम्यक्त्व से च्युत होने की अपेक्षा से सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पत्य के असंख्यातवें भाग बतलाया है ।

सासादन के सिवाय बाकी के गुणस्थानों में से क्षीणमोह, सयोगि-केवली और अयोगिकेवली, इन तीन गुणस्थानों का तो अंतर काल नहीं होता, क्योंकि ये गुणस्थान एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते हैं । शेष रहे गुणस्थानों में से मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि, अविरत सम्यग्-

दृष्टि देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त तथा उपशम श्रेणि के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय तथा उपशान्तमोह गुणस्थान से च्युत होकर जीव अन्तर्मुहूर्त के बाद ही पुनः उन गुणस्थानों को प्राप्त कर लेता है। अतः उनका जघन्य अन्तरकाल एक अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि जब कोई जीव उपशम श्रेणि पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है और वहाँ से गिरकर क्रमशः उतरते-उतरते पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है और उसके बाद पुनः एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है। क्योंकि एक भव में दो बार उपशम श्रेणि पर चढ़ने का विधान है। उस समय मिश्र गुणस्थान के सिवाय बाकी के गुणस्थानों में सँ प्रत्येक का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त होता है।

मिश्र गुणस्थान को छोड़ने का कारण यह है कि श्रेणि से गिरकर जीव मिश्र गुणस्थान में नहीं जाता है। अतः जब जीव श्रेणि पर नहीं चढ़ता तब मिश्र गुणस्थान तथा सासादन के सिवाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है। क्योंकि ये गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार से गुणस्थानों का जघन्य अन्तरकाल समझना चाहिये।

अब उत्कृष्ट की अपेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल बतलाते हुए सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का अन्तरकाल कहते हैं कि—गुरु मिच्छी बे छसठी—यानी मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तरकाल दो छियासठ सागर अर्थात् $६६ + ६६ = १३२$ सागर है। वह इस प्रकार है—कोई जीव विषुद्ध परिणामों के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ सागर समाप्त करके वह जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यात्व में

चला जाता है। वहाँ से पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके ६६ सागर की समाप्ति तक यदि उसने मुक्ति प्राप्त नहीं की तो वह जीव अवश्य मिथ्यात्व में चला जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का उत्कृष्ट अंतर दो छियासठ सागर—एकसौ बत्तीस सागर से कुछ अधिक होता है।

सासादन से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान तक के शेष गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त है—इयरगुणे पुग्गल-द्धंतो। क्योंकि इन गुणस्थानों से पतित होकर जीव अधिक-से-अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है और उसके बाद पुनः उसे उक्त गुणस्थानों की प्राप्ति होती है। इसीलिये इन गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त माना गया है।^१

क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों में अन्तर नहीं होने के कारण को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि ये एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होते हैं। यानी इन गुणस्थानों की प्राप्ति होने के बाद उनका क्षय नहीं होता है। जिससे जघन्य या उत्कृष्ट अंतरकाल का विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती है।

इस प्रकार से गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अंतरकाल बतलाने के बाद अब आगे की गाथाओं में अंतरकाल के वर्णन में आये पत्योपम, अर्धपुद्गल परावर्त का स्वरूप विस्तार से बतलाते हैं। पहले पत्योपम का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

उद्धारअद्धलितं पलिय तिहा समयवाससपसमए।

केसवहारो बोधोदहिआउत्तसाहपरिमाण ॥८५॥

१ पंचसंग्रह में भी गुणस्थानों का अन्तर इसी प्रकार का बतलाया है—
पलियासंखो सासायणतरं सेसयाण अंतमुहं।
मिच्छस्स वे छसद्धी इपरानं योग्गसद्धंतो ॥८५॥

शब्दार्थ—उद्धारअद्धखित्त—उद्धार, अद्धा और क्षेत्र, पलिय—
पल्योपम, तिहा—तीन प्रकार का, समयवाससयसमए—समय, सौ
वर्ष और समय में, केसबहारो—बालाग्र का उद्धरण करें, बीवो-
बहि—द्वीप और समुद्र, आउतसाइ—आयु और व्रसादि जीवों का,
परिमाणं—परिमाण, गणना ।

गाथार्थ—उद्धार, अद्धा और क्षेत्र, इस प्रकार पल्योपम
के तीन भेद हैं । उनमें अनुक्रम से एक समय में, सौ वर्ष में
और एक समय में बालाग्र का उद्धरण किया जाता है ।
जिससे उनके द्वारा क्रम से द्वीप समुद्रों, आयु और व्रसादि जीवों
की गणना की जाती है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में पल्योपम के भेद, उनका स्वरूप और उनके
उपयोग करने का लक्ष्य से निर्देश किया है ।

लोक में जो वस्तुयें सरलता से गिनी जा सकती हैं और जहाँ तक
गणित विधि का क्षेत्र है, वहाँ तक तो गणना करना सरल होता
लेकिन उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है । जैसे कि
तिल, सरसों, गेहूँ आदि धान्य गिने नहीं जा सकते, अतः उन्हें तोल
या माप वर्गैरह से आंक लेते हैं । इसी प्रकार समय की जो अवधि
वर्षों के रूप में गिनी जा सकती है, उसकी तो गणना की जाती है
और उसके लिये शास्त्रों में पूर्वांग, पूर्व आदि की संज्ञायें मानी हैं,
किन्तु इसके बाद भी समय की अवधि इतनी लम्बी है कि उसकी
गणना वर्षों में नहीं की जा सकती है । अतः उसके लिये उपमा-
प्रमाण का सहारा लिया जाता है । उस उपमाप्रमाण के दो भेद हैं—
पल्योपम^१ और सागरोपम ।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसे

१ अनाब वर्गैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं ।

पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—उद्धारअद्धखित्तं पलिय—उद्धार पल्योपम, अद्धा पल्योपम और क्षेत्र पल्योपम। इसी प्रकार सागरोपम काल के भी तीन भेद हैं—उद्धार सागरोपम, अद्धा सागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमें से प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो-दो प्रकार का होता है—एक बाहर और दूसरा सूक्ष्म।^१ इनका स्वरूप क्रमशः आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा ४०, ४१ में क्षुद्रभव का प्रमाण बतलाने के प्रसंग में प्राचीन कालगणना का संक्षेप में निर्देश करते हुए समय, आवलिका, उच्छ्र-वास, प्राण, स्तोक, लव और मुहूर्त का प्रमाण बतलाया है। उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध हैं और वर्षों की अमुक-अमुक संख्या को लेकर युग, शताब्द आदि संज्ञायें प्रसिद्ध हैं। उनके ऊपर प्राचीन काल में जो संज्ञायें निर्धारित की गई हैं, वे अनुयोगद्वारा सूत्र के अनुसार इस प्रकार हैं—

८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटितांग, ८४ लाख त्रुटितांग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अड्डांग, ८४ लाख अड्डांग का एक अड्ड। इसी प्रकार क्रमशः अववांग, अवव, हुहु अंग, हुहु, उत्पलांग, उत्पल, पद्यांग, पद्य, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं।^२ इन संज्ञाओं को बतलाकर

१ अनुयोगद्वारा सूत्र में सूक्ष्म और व्यवहारिक भेद किये हैं।

२ ये संज्ञायें अनुयोगद्वारा सूत्र (गा० १०७, सूत्र १३८) के अनुसार ही गई हैं। ज्योतिष्करण्ड के अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है— ८४ लाख (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

आगे लिखा है—‘एयावयाचेव गणिए एयावया चेव गणिअस्स विसए,
एत्तोऽवरं ओवमिए पवत्तइ ।’ अर्थात् शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने
से १९४ अंक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वहीं
तक है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा
प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण
को आधार बनाया है। पहला नाम है उद्धारपत्त, जिसका स्वरूप यह

पूर्व का एक लतांग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लाख लता का
एक महालतांग, ८४ लाख महालतांग का एक महालता, इसी प्रकार आगे
नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पथांग, पथ, महापथांग, महापथ,
कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग,
महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महान्रुटितांग, महान्रुटित, अड्डांग,
अड्ड, महाअड्डांग, महाअड्ड, ऊहांग, ऊह, महाऊहांग, महाऊह, शीर्ष-
प्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। (गाथा ६४-७१)

अनुयोगद्वारसूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता
का कारण काललोकप्रकाश में इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘अनुयोग-
द्वार, जम्बूद्वीपप्रश्रुति आदि माधुर वाचना के अनुगत हैं और
ज्योतिष्करण्ड आदि बल्मी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अंतर है।

दिगम्बर ग्रन्थ तत्त्वार्थराजवार्तिक में—पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत,
कुमुदांग, कुमुद, पथांग, पथ, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुदयांग
तुदय, अट्टांग, अट्ट, अममांग अमम, हूह अंग, हूह, लतांग, लता, महालता
आदि संज्ञायें दी हैं। ये सब संज्ञायें ८४ लाख की ८४ लाख से गुणा
करने पर बनती हैं। इस गुणन विधि में भेदाम्बर और दिगम्बर ग्रन्थ
एक मत हैं।

है कि—उत्सेधांगुल^१ के द्वारा तैय्यत एक गोला प्रमाण लंबा, एक योजन प्रमाण चौड़ा और एक योजन प्रमाण गहरा एक गोल पत्य—गढ़ा बनाना चाहिए, जिसकी परिधि कुछ कम ३३ योजन होती है। एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रों^२ से उस पत्य को इतना ठसाठस^३ भर देना चाहिये कि न आग उन्हें जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही उसमें प्रवेश हो सके। इस पत्य से प्रति समय एक-एक बालाग्र निकाला जाये। इस तरह करते-करते जितने समय में वह पत्यखाली हो जाये, उस काल को बादर उद्धार-पत्य कहते हैं।

दस कोटाकोटी बादर उद्धारपत्योपम का एक बादर उद्धारसागरोपम होता है।

इन बादर उद्धारपत्योपम और बादर उद्धारसागरोपम का इतना ही प्रयोजन है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धारपत्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम सरलता से समझ में आ जाये—

अस्मिन्निरूपिते सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि ।

अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥—द्रव्यलोकप्रकाश १।८९

- १ अंगुल के तीन भेद हैं—आस्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल। इनकी व्याख्या आगे की गई है।
- २ पत्य को बालाग्रों से भरने संबंधी अनुयोगद्वारा सूत्र आदि का विवेचन परिशिष्ट में दिया गया है।
- ३ पत्य को ठसाठस भरने के संबंध में द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग १।८२ में स्पष्ट किया है—

तथा च चक्रसैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता ।

न मनाक् क्रियते नीचैरेवं निबिडतागताम् ॥

वे केशाग्र इतने घने भरे हुए हों कि यदि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाये तो वे जरा भी नीचे न हो सकें।

अब सूक्ष्म उद्धारपत्योपम व सागरोपम का स्वरूप समझाते हैं । बादर उद्धारपत्य के एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि के द्वारा असंख्यात-असंख्यात टुकड़े करना । द्रव्य की अपेक्षा ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विषुद्ध आंख वाला पुरुष अपनी आंख से जितने सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य को देख सकता है, उसके भी असंख्यातवें भाग होते हैं तथा क्षेत्र की अपेक्षा सूक्ष्म पनक^१ जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असंख्यात गुणी अवगाहना वाले होते हैं, इन केशाग्रों को भी पहले की तरह पत्य में ठसाठस भर देना चाहिये । पहले की तरह ही प्रति समय केशाग्र के एक-एक खण्ड को निकालने पर संख्यात करोड़ वर्ष में वह पत्य खाली होता है । अतः उस काल को सूक्ष्म उद्धारपत्योपम कहते हैं । दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धारपत्योपम का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है ।

इन सूक्ष्म उद्धारपत्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से द्वीप और समुद्रों की गणना की जाती है । अठ्ठाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपम के अथवा पच्चीस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धारपत्योपम के जितने समय होते हैं, उतने ही द्वीप और समुद्र हैं—

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीवसमुद्धानं उद्धारो घेप्पइ ! केवइया णं भंते ! दीवसमुद्दा..... " जावइआणं अइद्वाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा ।

—अनुयोगद्वार सूत्र १३८

१ विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्य प्रणीत टीका (पृ० २१०) में पनक का अर्थ 'वनस्पति विशेष' किया है । प्रवचनसारोद्धार की टीका (पृ० ३०३) में उसकी अवगाहना बादर पर्याप्तक पृथ्वीकाय के शरीर के बराबर बतलाई है ।

अद्वापत्योपम—पूर्वोक्त बादर उद्धारपत्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली होता है, उतने समय को बादर अद्वापत्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी बादर अद्वापत्योपम काल की एक बादर अद्वासागरोपम काल होता है।

सूक्ष्म उद्धारपत्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खण्ड निकालने पर जितने समय में वह पत्य खाली होता है, उतने समय को सूक्ष्म अद्वापत्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्वापत्योपम का एक सूक्ष्म अद्वासागरोपम काल होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्वासागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने की ही एक उत्सर्पिणी होती है। इन सूक्ष्म अद्वापत्योपम और सूक्ष्म अद्वासागरोपम के द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक, चारों गति के जीवों की आयु, कर्मों की स्थिति आदि जानी जाती है।

एएहिं सुहुमेहिं अद्वाप० सागरोवमेहिं किं पओअणं ? एएहिं सुहुमेहिं अद्वाप० सागरो०। नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं आउअं मविज्जइ ।
—अनुयोगद्वार सूत्र १३६

क्षेत्रपत्योपम—पहले की तरह एक योजन लंबे-चीड़े और गहरे गड्ढे में एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए बालों के अग्रभाग को पूर्व की तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्रपत्योपम काल कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है। दस कोटाकोटी बादर क्षेत्रपत्योपम का एक बादर क्षेत्रसागरोपम काल होता है।

बादर क्षेत्रपत्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके उन्हें इसी पत्य में पहले की तरह भरो । उस पत्य में वे खंड आकाश के जिन प्रदेशों को छूट करें और जिन प्रदेशों को छूट न करें, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्रपत्योपम काल कहते हैं । दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपत्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है । इन सूक्ष्म क्षेत्रपत्योपम और सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार तथा दृष्टिवाद में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति और वस इन छह काय के जोबों के प्रमाण का विचार किया जाता है—

एएहि सुहुमेहि खेत्तप० सागरोवमेहि किं पओब्बणं ? एएहि सुहुम-
पलि० साग० दिट्ठिवाए दब्बा भविज्जंति ।

--- अनुयोगद्वारा सूत्र १४०

सूक्ष्म क्षेत्रपत्योपम काल के स्वरूप को व्याख्या के प्रसंग में जिज्ञासु का प्रश्न है कि यदि बालाग्रों से आकाश के स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो फिर बालाग्रों का कोई प्रयोजन नहीं रहता है, क्योंकि उस दशा में पूर्वोक्त पत्य के अन्दर जितने प्रदेश हों उनके अपहरण करने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । इसका समाधान यह है कि क्षेत्रपत्योपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है । उनमें से कुछ द्रव्यों का प्रमाण तो उक्त बालाग्रों से स्पृष्ट आकाश के प्रदेशों द्वारा मापा जाता है और कुछ का प्रमाण आकाश के अस्पृष्ट प्रदेशों से मापा जाता है । अतः दृष्टिवाद में वर्णित द्रव्यों के मान में उपयोगों होने के कारण बालाग्रों का निर्देश करना सप्रयोजन ही है, निष्प्रयोजन नहीं है—

‘दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् बालाग्रप्ररूपणाऽत्रप्रयोजन-
वतीति ।’

—अनुयोगद्वार टीका पृ० १६३

अंगुल के सेवों की व्याख्या

उद्धारपत्योपम का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में उत्सेधांगुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन लम्बे, चौड़े, गहरे गड्ढे—पत्य को बनाने का संकेत किया था और उसी के अनुसन्धान में आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल यह तीन अंगुल के भेद बतलाये हैं। यहाँ उनका स्वरूप समझाते हैं।

आत्मांगुल—अपने अंगुल के द्वारा नागने पर अपने शरीर की ऊँचाई १०८ अंगुल प्रमाण होती है। वह अंगुल उसका आत्मांगुल कहलाता है। इस अंगुल का प्रमाण सर्वदा एकसा नहीं रहता है, क्योंकि काल भेद से मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई घटती-बढ़ती रहती है।

उत्सेधांगुल—परमाणु दो प्रकार का होता है—एक निश्चय परमाणु और दूसरा व्यवहार परमाणु। अनन्त निश्चय परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है। यद्यपि वह व्यवहार परमाणु वास्तव में स्कन्ध है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे परमाणु कह दिया जाता है, क्योंकि वह इतना सूक्ष्म होता है कि तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा भी इसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता है, फिर भी माप के लिए इसको मूल कारण माना गया है। जो इस प्रकार है—अनन्त व्यवहार परमाणुओं की एक उत्शलक्षण-शलक्षिका और आठ उत्शलक्षण-शलक्षिका की एक श्लक्षण-शलक्षिका होती है।^१ आठ श्लक्षण-शलक्षिका का एक

१ जीवसमाप्त सूत्र में अनन्त उत्शलक्षण-शलक्षिका की एक श्लक्षण-शलक्षिका बतलाई है, लेकिन आगमों में अनेक स्थानों पर अठगुनी ही बतलाई है। अतः यहाँ भी आगम के अनुसार कथन किया है।

ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्र के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक पूर्वापर विदेह के मनुष्य का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों का एक भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का केशाग्र, उन आठ केशाग्रों की एक लीख, आठ लीख की एक सूका (जू), आठ यूका का एक यव का मध्य भाग और आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है ।

छह उत्सेधांगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ति, दो वितस्ति का एक हाथ, चार हाथ का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है ।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से अढ़ाई गुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणांगुल होता है । युग के आदि में भरत चक्रवर्ती का जो आत्मांगुल था उसको प्रमाणांगुल जानना चाहिये ।^१

दिगम्बर साहित्य में अंगुलों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है— अनन्तानंत सूक्ष्म परमाणुओं की उत्संज्ञासंज्ञा, आठ उत्संज्ञासंज्ञा की एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञा का एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तरकुरु देवकुरु के मनुष्य का एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रों का रम्यक और हरिवर्ष के मनुष्य का एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रों का हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्य का एक बालाग्र, उन आठ बालाग्रों का भरत, ऐरावत व विदेह के मनुष्यों का एक बालाग्र तथा लीख, यूका आदि

१ अनुयोगद्वार सूत्र पृ० १५६-१७२, प्रवचनसारोद्धार पृ० ४०५-८, द्रव्यलोक-प्रकाश पृ० १-२ ।

का प्रमाण पूर्ववत् समझना चाहिये । उत्सेधांगुल से पाँच सौ गुणा प्रमाणांगुल होता है । यही भरत चक्रवर्ती का आत्मांगुल है ।^१

इस प्रकार से पत्योपम के भेद और उनका स्वरूप जानना चाहिये ।^२ पूर्व में सासादन आदि गुणस्थानों का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त बतलाया गया है । अतः अब आगे तीन गाथाओं में पुद्गल परावर्त का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ।

दृष्ये खित्ते काले भावे चउह वुह बायरो सुहुमो ।

होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्ठो ॥८६॥

उरलाइसत्तगेणं एगजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।

जत्तियकालि स थूलो दृष्ये सुहुमो सगन्नयरा ॥८७॥

सोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंघठाना य ।

जह तह कमभरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥

शब्दार्थ—दृष्ये—द्रव्य विषयक, खित्ते—क्षेत्र विषयक, काले—काल विषयक, भावे—भाव विषयक, चउह—चार प्रकार का, वुह—दो प्रकार का, बायरो—बादर, सुहुमो—सूक्ष्म, होइ—होता है, अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण, पुग्गलपरट्ठो—पुद्गल परावर्त ।

उरलाइसत्तगेणं—औदारिक आदि सात वर्गणा रूप से, एगजिउ—एक जीव, मुयइ—छोड़ दे, फुसिय—स्पर्श करके, परिणमित करके, सव्वअणू—सभी परमाणुओं को, जत्तियकालि—जितने समय में, स—उतना काल, थूलो—स्थूल, बादर, दृष्ये—द्रव्यपुद्गल परावर्त, सुहुमो—सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त, सगन्नयरा—सात में से किसी एक एक वर्गणा के द्वारा ।

१ तत्त्वार्थ राजवातिक पृ० १४७-१४८

२ दिगम्बर साहित्य में किये गये पत्थों के वर्णन के लिये परिशिष्ट देखिये ।

लोगपणसा—लोक के प्रदेश, उत्सर्पिणिसमया—उत्सर्पिणी-
अवसर्पिणी के समय, अनुभागबंधठाणा—अनुभाग बंध के स्थान, व—
और, जह तह—जिस किसी भी प्रकार से, कण—अनुक्रम से,
मरणेण—मरण के द्वारा, पुट्टा—स्पर्श किये हुए, खिस्ताह—क्षेत्रादिक,
सूतिघरा—सूक्ष्म (बादर) और सूक्ष्म पुद्गल परावर्त ।

गणार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार
प्रकार वाले पुद्गल परावर्त के बादर और सूक्ष्म, ये दो-दो
भेद होते हैं । यह पुद्गल परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और
अनन्त अवसर्पिणी काल के बराबर होता है ।

जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले
समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा
रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य-
पुद्गल परावर्त कहते हैं और जितने काल में समस्त
परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से
किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने
काल को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं ।

एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त
प्रदेशों, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समय तथा अनुभाग
बंध के स्थानों को जिस किसी भी प्रकार (बिना क्रम के)
से और अनुक्रम से स्पर्श कर लेता है तब क्रमशः बादर और
सूक्ष्म क्षेत्रादि पुद्गल परावर्त होते हैं ।

विशेषार्थ—जैन साहित्य में प्रत्येक विषय की चर्चा द्रव्य, क्षेत्र,
काल और भाव की अपेक्षा से की जाती है । इन्हीं चार
अपेक्षाओं को लेकर यहाँ पुद्गल परावर्त का कथन किया जा रहा है ।
परावर्त का अर्थ है परिवर्तन, फेरबदल, उलटफेर इत्यादि । द्रव्य से यहाँ

पुद्गल द्रव्य का ग्रहण किया गया है। क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्तन के साथ पुद्गल शब्द लगा हुआ है और उसके ही द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीव के संसार भ्रमण का कारण पुद्गल द्रव्य ही है, संसार अवस्था में जीव उसके बिना रह ही नहीं सकता है। इसीलिये पुद्गल के सबसे छोटे अणु—परमाणु को यहां द्रव्य पद से माना है। आकाश के जितने भाग में वह परमाणु समाता है, उसे प्रदेश कहते हैं और वह प्रदेश लोकाकाश का ही एक अंश है, क्योंकि जीव लोकाकाश में ही रहता है। पुद्गल का एक परमाणु एक प्रदेश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में जितने समय में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह काल का सबसे छोटा हिस्सा है। भाव से यहां अनुभाग बंध के कारणभूत कषाय रूप भाव लिये गये हैं। इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्तन को लेकर चार परिवर्तन माने गये हैं।

यद्यपि द्रव्यपुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त में पुद्गल का परावर्तन नहीं होता है, क्योंकि क्षेत्रपुद्गल परावर्त में क्षेत्र का, कालपुद्गल परावर्त में काल का और भावपुद्गल परावर्त में भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्त का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तों की पुद्गल परावर्त संज्ञा रखी गई है।^१

१ पुद्गलानाम्—परमाणूनाम् आकारिकाविरूपतया विवाक्षितकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्तः=परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गल-परावर्तः। इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जब जीव मरण कर-करके पुद्गल के एक-एक परमाणु के द्वारा समस्त परमाणुओं को भोग लेता है, तो वह द्रव्यपुद्गल परावर्त और आकाश के एक-एक प्रदेश में मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को स्पर्श कर चुकता है तब वह क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है। इसी प्रकार काल और भाव पुद्गल परावर्तों के बारे में जानना चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि जब जीव अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है तब अभी तक एक भी ऐसा परमाणु नहीं बचा है कि जिसका उसने भोग न किया हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ वह न मरा हो और उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल का एक भी समय शेष नहीं रहा जिसमें वह मरा न हो और ऐसा एक भी कषायस्थान बाकी नहीं रहा, जिसमें वह न मरा हो। उसने उन सभी परमाणु, प्रदेश, समय और कषायस्थानों का अनेक बार अपने मरण के द्वारा भोग कर लिया है। इसी को दृष्टि में रखकर द्रव्यपुद्गल परावर्त आदि नामों से काल का विभाग कर दिया है और जो पुद्गल परावर्त जितने काल में होता है, उतने काल के प्रमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से कहा जाता है।

इसीलिए ग्रन्थकार ने पुद्गल परावर्त के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार भेदों का यहां वर्णन किया है।

पुद्गल परावर्त के काल का ज्ञान कराने के लिये गाथा में संकेत किया है कि वह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल के

स्वैकार्यसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते ।
 तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्तद्वौ पुद्गलपरावर्तनाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्त-
 स्थानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्त-
 शब्दः प्रवर्तमानो न विरुद्धयते । प्रवचन० टी० पृ० ३०८ उ०

बराबर होता है। अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल का एक पुद्गल परावर्त होता है।

पुद्गल परावर्त के चार भेद हैं— 'तन्मे चित्ते ज्ञाने भावे सत्तह' यानी द्रव्यपुद्गल परावर्त, क्षेत्रपुद्गल परावर्त, कालपुद्गल परावर्त और भावपुद्गल परावर्त। इन चारों भेदों में से प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म यह दो भेद होते हैं— दुह बायरो सुहुमो। अर्थात् पुद्गलपरावर्त का सामान्य से काल अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी प्रमाण है और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव ये चार मूल भेद हैं। ये मूल भेद भी प्रत्येक सूक्ष्म, बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। जिनके लक्षण नीचे स्पष्ट करते हैं। सर्वप्रथम बादर और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त का स्वरूप बतलाते हैं।

द्रव्यपुद्गल परावर्त—पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से लोक भरा हुआ है और उन वर्गणाओं में से आठ प्रकार की वर्गणायें ग्रहणयोग्य हैं यानी जीव द्वारा ग्रहण की जाती हैं और जीव उन्हें ग्रहण कर उनसे अपने शरीर, मन, वचन आदि की रचना करता है। ये वर्गणायें हैं—

१ औदारिक ग्रहणयोग्य वर्गणा, २ वैक्रिय ग्रहणयोग्य वर्गणा, ३ आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा, ४ तैजस ग्रहणयोग्य वर्गणा, ५ भाषा ग्रहणयोग्य वर्गणा, ६ श्वासोच्छ्वास ग्रहणयोग्य वर्गणा, ७ मनो ग्रहणयोग्य वर्गणा, ८ कर्मण ग्रहणयोग्य वर्गणा। इन वर्गणाओं में से जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को आहारक ग्रहणयोग्य वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, आनप्राण, मन और कर्मण शरीर रूप परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता

है, उसे बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं^१ और जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप परिणमा कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देते हैं, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं ।

उक्त कथन का सारांश यह है कि बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त में तो समस्त परमाणुओं को आहारक को छोड़कर सात रूप से भोगकर छोड़ा जाता है और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में उन्हें केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोड़ा जाता है । यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर रूप परिणमाते समय मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय शरीर आदि रूप ग्रहण करके छोड़ दिया या समस्त परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ दिया अथवा समस्त परमाणुओं को वैक्रिय शरीर रूप परिणमाते समय बीच-बीच में कुछ परमाणुओं को औदारिक आदि रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया तो वे गणना में नहीं लिये जाते हैं । किन्तु जिस शरीर रूप परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हें ही सूक्ष्म द्रव्यपुद्गल परावर्त में ग्रहण किया जाता है ।^२

१ आहारक शरीर को छोड़ने का कारण यह है कि आहारक शरीर एक जीव को अधिक-से-अधिक चार बार ही हो सकता है । अतः वह पुद्गल परावर्त में उपयोगी नहीं है—

आहारकशरीरं शोक्नुष्टतोऽप्येकजीवस्य चारवतुष्टयमेव सम्भवति, ततस्तस्य पुद्गलपरावर्तं प्रत्यनुपयोगान्न ग्रहणं कृतमिति ।

—प्रवचन० टीका, पृ० ३०८ उ०

२ एतस्मिन् सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्ते विवक्षितकशरीरव्यतिरेकेणान्य-शरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यजन्ते ते न गण्यन्ते, किन्तु प्रभूतेऽपि काले गते सति ये च विवक्षितकशरीररूपतया परिणम्यन्ते त एव गण्यन्ते ।

—प्रवचन० टीका पृ० ३०८ उ०

द्रव्यपुद्गल परावर्त के बारे में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि --

अहम् इमी दृग्वाह्य ओरालविवृतेयकम्मेहि ।

नीतेसदव्यग्रहणमि वायरो होइ परिपट्टो ॥^१

एके तु आचार्या एव द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूप प्रतिपादयन्ति—तथाहि, यवको जीवोऽनेकैर्बग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मण-शरीरवतुष्टयरूपतया यथास्थं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । यदा पुनरौदारिकावि-वतुष्टयमध्यावेकेन केनचिद्व्यष्टरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेष-शरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति ।^१

—समस्त पुद्गल परमाणुओं को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन चार शरीर रूप ग्रहण करके छोड़ देने में जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्यपुद्गल परावर्त कहते हैं और समस्त पुद्गल परमाणुओं को उक्त चारों शरीरों में से किसी एक शरीर रूप परिणमा कर छोड़ देने में जितना काल लगता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य-पुद्गल परावर्त कहते हैं ।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के द्रव्यपुद्गल परा-वर्त के स्वरूप को बतलाने के बाद अब क्षेत्र, काल और भावपुद्गल परावर्तों का स्वरूप बतलाते हैं । द्रव्यपुद्गल परावर्त के समान ही क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तों में से प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर यह दो-दो प्रकार हैं ।

सामान्य तौर पर जीव द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों का

१ प्रवचन० भा० ४१

१ पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १०३

अपने मरण के द्वारा स्पर्श करना क्षेत्रपुद्गल परावर्त का अर्थ है और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के सभी समयों का अपने मरण द्वारा स्पर्श करना तथा अनुभाग बंध के कारणभूत समस्त कषायस्थानों का अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेना क्रम से काल और भाव पुद्गल परावर्त कहलाते हैं। जिनका विशाद स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है।

क्षेत्रपुद्गल परावर्त—कोई एक जीव भ्रमण करता हुआ आकाश के किसी एक प्रदेश में मरा और वही जीव पुनः आकाश के किसी दूसरे प्रदेश में मरा, तीसरे, चौथे आदि प्रदेशों में मरा। इस प्रकार जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में मर चुकता है तो उतने काल को बादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहते हैं। बादर क्षेत्रपुद्गल परावर्त में क्रम-अक्रम आदि किसी भी प्रकार से समस्त आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर लेना ही पर्याप्त माना जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में भी आकाश प्रदेशों को स्पर्श किया जाता है, लेकिन उसकी विशेषता इस प्रकार है कि—कोई जीव भ्रमण करता-करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर क्रम से प्रदेश में मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब वह सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहलाता है।

उक्त कथन का सारांश और बादर व सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में अन्तर यह है कि बादर में तो क्रम का विचार नहीं किया जाता है, उसमें व्यवहित प्रदेश में मरण करने पर यदि वह प्रदेश पूर्व स्पष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है, यानी वहाँ क्रम से या बिना क्रम से समस्त प्रदेशों में मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण करना चाहिये और अक्रम

से जिन प्रदेशों में मरण किया जाता है अथवा पूर्व मरणस्थान में पुनः जन्म लेकर मरण किया जाता है तो उनकी गणना नहीं की जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि बादर की अपेक्षा सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त में समय अधिक लगता है। बादर का समय कम और सूक्ष्म का समय अधिक है।

सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त के संबन्ध में एक बात और जानना चाहिए कि एक जीव की अघन्य अवगाहना लोक के असंख्यातवें भाग बतलाई है, जिससे एक जीव यद्यपि लोकाकाश के एक प्रदेश में नहीं रह सकता तथापि किसी एक देश में मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। जिससे यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशों में मरण होता है तो वे गणना में नहीं लिये जाते हैं किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर का जो प्रदेश है, उसमें मरण करता है तो वह गणना में लिया जाता है।

प्रदेशों को ग्रहण करने के बारे में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि लोकाकाश के जिन प्रदेशों में मरण करता है वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता है—

अन्ये तु व्याचक्षते—येष्वाकाशप्रदेशेष्वगाढो जीवो मृतस्ते सर्वेऽपि आकाशप्रदेशाः गण्यन्ते, न पुनस्तन्मध्यवर्ती विवक्षितः कश्चिदेक एवाकाशप्रदेश इति।

—प्रवचन० टीका पृ० ३०६ उ०

कालपुद्गल परावर्त—जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में क्रम से या अक्रम से मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर कालपुद्गल परावर्त कहते हैं और कोई एक जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुनः उसके निकटवर्ती दूसरे समय में मरा, पुनः तीसरे समय में मरा, इस

प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समय में जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते हैं ।

क्षेत्र की तरहही यहां भी समयों की गणना क्रमवार करना चाहिये, अक्रमवारकी गणना नहीं करना चाहिये । इसका अर्थ यह हुआ कि कोई जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के बीत जाने के बाद पुनः अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ होने पर उसके दूसरे समय में मरे तो वह द्वितीय समय गणना में लिया जाता है । मध्य के शेष समयों में उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना में नहीं लिये जाते हैं । यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय में मरण को प्राप्त न हो किन्तु अन्य समयों में मरण करे तो उनका भी ग्रहण नहीं किया जाता है किन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीत जाने पर जब भी अवसर्पिणी के दूसरे समय में ही मरता है तब वह काल ग्रहण किया जाता है । इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पांचवें आदि समयों के बारे में भी समझना चाहिये कि जितने समयों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में क्रम से मरण कर चुकता है, उस काल को सूक्ष्म कालपुद्गल परावर्त कहते हैं ।

सावपुद्गल परावर्त—अनुभागबंधस्थान—कषायस्थान तरतम भेद को लिये असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर हैं अर्थात् उनकी संख्या असंख्यात है । उन अनुभागबंधस्थानों में से एक-एक अनुभागबंधस्थान में क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते हैं और सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान में मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे आदि अनुभागबंधस्थानों में मरा आदि । इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्मभावपुद्गल परावर्त कहलाता है ।

बादर और सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्तों में भी अन्य परावर्तों की तरह यह अन्तर समझना चाहिये कि कोई जीव सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान में मरण करके उसके बाद अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब प्रथम अनुभागस्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान में मरण करता है तो सूक्ष्म भावपुद्गल परावर्त में वह मरण गणना में लिया जाता है किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्त-अनन्त मरण गणना में नहीं लिये जाते हैं। इसी तरह कालान्तर में द्वितीय अनुभागबंधस्थान के अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबंधस्थान में जब मरण करता है तो वह मरण गणना में लिया जाता है। चौथे, पांचवें आदि स्थानों के लिये भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् बादर में तो क्रम-अक्रम किसी भी प्रकारसे होने वाले मरणों की और सूक्ष्म में सिर्फ क्रम से होने वाले मरणों की गणना की जाती है।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म पुद्गल परावर्तों का स्वरूप बत-

(क) पंचसंग्रह २।३७-४१ तक में भी इसी प्रकार द्रव्य आदि चारों पुद्गल परावर्तों का स्वरूप, भेद आदिका वर्णन किया है। वे गायार्थें इस प्रकार हैं—

पोगल परियट्टो इह दब्बाइ चउव्विहो मुणेयव्वो ।
 एक्केव्वो पुण दुविहो वायरमुहुमत्तभेएणं ॥
 संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाण् ।
 इगु जीवु भुयइ वायर अन्नयरत्तणुट्ठिओ सुहुमो ॥
 लोगस्स एएसेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहि ।
 खेत्तंमि वायरो सो मुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥
 उम्सप्पिणिगमगसु अणंतरपरंपराविभत्तीहि ।
 कालम्मि वायरो सो मुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥
 अणुभागट्ठाणेसु अणंतरपरंपराविभत्तीहि ।
 भावंमि वायरो सो मुहुमो मय्वेसुऽनुकमसो ॥

(ख) दिगम्बर साहित्य में परावर्तों का वर्णन भिन्न रूप से किया गया है। उक्त वर्णन परिशिष्ट में देखिये ।

रुाने के बाद अब सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामी बतलाते हैं ।

अप्ययरपयडिबंधो उक्कडजोगो य सझिपज्जत्तो ।

कुणइ पएसुवकोसं जहणयं तस्स वच्चासे ॥८६॥

शब्दार्थ—अप्ययरपयडिबंधो—अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला, उक्कडजोगी—उत्कृष्ट योग का धारक, य—और, सझिपज्जत्तो—संजी पर्याप्त, कुणइ—करता है, पएसुवकोसं—प्रदेशों का उत्कृष्ट बंध, जहणयं—जघन्य प्रदेशबंध, तस्स—उसका, वच्चासे—विपरीतता से ।

भावार्थ—अल्पतर प्रकृतियों का बंध करने वाला उत्कृष्ट योग का धारक और पर्याप्त संजी जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियों का बंध करने वाला जघन्य योग का धारक अपर्याप्त असंजी जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्कृष्ट प्रदेशबंध और जघन्य प्रदेशबंध करने वाले का कथन किया गया है । जो मूल और उत्तर प्रकृतियां अल्प बांधे वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है । क्योंकि कर्मप्रकृतियों के अल्प होने से प्रत्येक प्रकृति को अधिक प्रदेश मिलते हैं । इसीलिये अल्पतर प्रकृति का बंधक और उत्कृष्ट योग का धारक ऐसा संजी पर्याप्त जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है और इससे विपरीत स्थिति में यानी अधिक प्रकृतियों को बांधने वालों के कर्मदलिकों को अधिक भागों में (प्रकृतियों में) विभाजित हो जाने से प्रत्येक को अल्प प्रदेश मिलते हैं । इसीलिये अधिक प्रकृतियों का बंधक और मंद योग वाला असंजी अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेशबंध करता है । इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का कथन करने के प्रसंग में निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला गया है ।

१—जैसे अधिक द्रव्य की प्राप्ति के लिये भागीदारों का कम होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध का कर्ता थोड़ी प्रकृतियों का बाँधने वाला होना चाहिये । क्योंकि पहले कर्मों के बटवारे में यह बतलाया जा चुका है कि एक समय में कितने पुण्यों का बँट होता है, वे सब उन-उन प्रकृतियों में विभाजित हो जाते हैं जिनका उस समय बंध होता है । इसीलिये यदि बाँधने वाली प्रकृतियों की संख्या अधिक होगी तो बटवारे के समय उनको थोड़े-थोड़े प्रदेश मिलेंगे और यदि प्रकृतियों की संख्या कम होती है तो बटवारे में अधिक-अधिक दलिक मिलते हैं ।

२- अधिक प्राप्ति के लिये जैसे अधिक आय होना आवश्यक है, वैसे ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध करने वाला उत्कृष्ट योग वाला होना चाहिये । क्योंकि प्रदेशबंध का कारण योग है और यदि योग तीव्र होता है तो अधिक संख्या में कर्मदलिकों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होगा तथा योग मंद है तो कर्मदलिकों की संख्या में भी कमी रहती है । इसीलिये उत्कृष्ट प्रदेशबंध के लिये उत्कृष्ट योग का होना बतलाया है—उक्कड जोगी ।

३-४—उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी के लिये तीसरी बात यह आवश्यक है कि—सन्निपज्जतो—वह संजी पर्याप्तक होना चाहिये । क्योंकि अपर्याप्तक जीव अल्प आयु और शक्ति वाला होता है, जिससे वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं कर सकता । पर्याप्तक होने के साथ-साथ संजी होना चाहिये । क्योंकि पर्याप्तक होकर यदि वह संजी नहीं हुआ तो भी उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं कर सकता है । असंजी जीव की शक्ति भी अपरिपूर्ण रहती है ।

इसीलिये उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व के कथन के प्रसंग में—
 उत्कृष्ट योग होने पर उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है तथा संज्ञी पर्याप्त
 को ही उत्कृष्ट योग होता है, यह बतलाने के लिये गाथा में 'उक्कड-
 जोगी य सन्निपज्जत्तो' यह तीन सार्थक विशेषण दिये गये हैं। यद्यपि
 गाथा ५३-५४ में योगों का अल्पबहुत्व बतलाते हुए सूक्ष्म निगोदिया
 लब्ध्यपर्याप्तक को सबसे जघन्य और संज्ञी पर्याप्त को सबसे उत्कृष्ट
 योग बतलाया है। अतः 'उक्कडजोगी' कह देने से संज्ञी पर्याप्तक का
 बोध हो ही जाता है तथापि अधिक स्पष्टता के लिये 'सन्निपज्जत्तो'
 यह दो पद रखे गये हैं। उत्कृष्ट योग होने पर बहुत से जीव अधिक
 प्रकृतियों का बंध करते हैं, किन्तु उत्कृष्ट योग के साथ थोड़ी प्रकृतियों
 का बंध होना आवश्यक है।

इससे विपरीत दशा में अर्थात् यदि बहुत प्रकृतियों का बंध करने
 वाला हो, योग भी मंद हो तथा अपर्याप्त असंज्ञी हो तो जघन्य प्रदेश-
 बंध करता है। इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध
 के स्वामित्व^१ के बारे में जानना चाहिये।

अब मूल और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा से उत्कृष्ट प्रदेशबंध
 के स्वामी बतलाते हैं।

मिच्छ अजयचउ आऊ बित्तिगुण बिणु मोहि सत्त मिच्छाई

छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बित्तिकसाए ॥६०॥

१ पंचसंग्रह और गो० कर्मकांड में भी उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के
 स्वामी की यही योग्यतायें बतलाई हैं। यथा—

अप्पतरपणइबंधे उक्कडजोगी उ सन्निपज्जत्तो ।

कुणइ पणसुक्कोसं जहणयं तस्स वच्चासे ॥ —पंचसंग्रह २६८

उक्कडजोगी सण्णी पज्जत्तो पयडिबंध्यमप्पदरो ।

कुणदि पणसुक्कसं जहणए आण विवरीयं ॥ गो० कर्मकांड २१०

शब्दार्थ—मिच्छ—मिथ्यादृष्टि, अजयच्चउ—अविरत सम्यग्
दृष्टि आदि चार गुणस्थान वाले, आऊ—आयु कर्म का, वित्तगुणविणु
—दूसरे और तीसरे गुणस्थान के बिना, मोहि—मोहनीय कर्म का,
सत्त—सात गुणस्थान वाले, मिच्छाई मिथ्यात्वादि, छप्प—छह
मूल प्रकृतियों का, सत्तरस सत्रह प्रकृतियों का सूक्ष्म-
संपराय गुणस्थान वाला, अजया—अविरत सम्यग्दृष्टि देखा—देख-
विरति, वित्तकसाय—दूसरी और तीसरी कपाय का ।

गाथा—मिथ्यादृष्टि और अविरत आदि चार गुणस्थान
वाले आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करते हैं । दूसरे और
तीसरे गुणस्थान के सिवाय मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थान
वाले मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा शेष छह
कर्मों और उनकी सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्म
संपराय गुणस्थान नामक दसवें गुणस्थान में रहने वाले करते
हैं । द्वितीय कपाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध अविरत सम्यग्दृष्टि
जीव तथा तीसरी कपाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध देशविरति
करते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा में मूल तथा कुछ उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट
प्रदेशबंध के स्वामियों को बतलाया है ।

सर्व प्रथम मूल कर्मों में से आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध
बतलाते हुए कहा है - 'मिच्छ अजयच्चउ आऊ'—पहले मिथ्यात्व
गुणस्थान वाले और अविरत चतुष्क अर्थात् चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि,
पांचवें देशविरति, छठे प्रमत्तविरत और सातवें अप्रमत्तविरत, यह
पांच गुणस्थान वाले जीव करते हैं । शेष गुणस्थानों में आयुर्कर्म
का उत्कृष्ट प्रदेशबंध न बतलाने का कारण यह है कि तीसरे और
आठवें आदि गुणस्थानों में तो आयुर्कर्म का बंध होता ही नहीं है ।
यद्यपि दूसरे गुणस्थान में आयुर्कर्म का बंध होता है, किन्तु यहाँ उत्कृष्ट

प्रदेशबंध का कारण उत्कृष्ट योग नहीं होता है । इसीलिये पहले और चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान के सिवाय शेष गुणस्थानों में आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नहीं बतलाया है ।

दूसरे सासादन गुणस्थान में उत्कृष्ट योग न होने का कारण स्पष्ट करते हुए गाथा की स्वोपज्ञ टीका में बताया है कि आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि और अधुव दो ही प्रकार बतलायेंगे तथा सासादन में अनन्तानुबंधी का बंध तो होता ही है अतः वहाँ यदि उत्कृष्ट योग होता तो जैसे अविरत आदि गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के कारण वहाँ उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के भी सादि आदि चारों विकल्प बतलायेंगे वैसे ही सासादन में अनन्तानुबंधी का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के कारण उसके अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि आदि चारों विकल्प भी बतलाने चाहिये थे, किन्तु वे नहीं बतलाये हैं । अतः उससे ज्ञात होता है कि या तो सासादन का काल थोड़ा होने के कारण वहाँ इस प्रकार का प्रयत्न नहीं हो सकता या अन्य किसी कारण से सासादन में उत्कृष्ट योग नहीं होता है तथा आगे मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतला कर शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध आदि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में बतलायेंगे । जिससे यह ज्ञात होता है कि सासादन में उत्कृष्ट योग नहीं होता है ।

इस प्रकार सासादन गुणस्थान में उत्कृष्ट योग का अभाव बतलाकर लिखा है कि जो सासादन को भी आयुर्कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी कहते हैं, उनका मत उपेक्षणीय है ।^१

१ 'अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टं प्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मनमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।' इस कथन से यह ज्ञात होता है कि कोई-कोई आचार्य सासादन में आयुर्कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध को मानते हैं ।

मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के बारे में गाथा में संकेत दिया है कि—बलिगुण बिणु मोहि सत्त मिच्छाई—दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर मिथ्यात्व आदि सात गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। अर्थात् मिथ्यात्व, अविरत, देश-विरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इन सात गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतलाया है। सासादन और मिश्र गुणस्थान में उत्कृष्ट योग नहीं होता है, जिससे वहाँ उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी नहीं होता है।

सासादन में उत्कृष्ट योग न होने के संबंध में ऊपर संकेत किया जा चुका है और मिश्र गुणस्थान में भी उत्कृष्ट योग न होने का कारण यह बतलाया गया है कि दूसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध अविरत गुणस्थान में बतलाया गया है। यदि मिश्र में भी उत्कृष्ट योग होता तो उसमें भी दूसरी कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बतलाया जाता। यदि यह कहा जाये कि अविरत गुणस्थान में मिश्र गुणस्थान से कम प्रकृतियाँ बंधती हैं अतः अविरत को ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामी बतलाया है, लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि साधारण अवस्था में अविरत में भी सात ही कर्मों का बंध होता है और मिश्र में तो सात कर्मों का बंध होता ही है तथा अविरत में भी मोहनीय की सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है और मिश्र में भी उसकी सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है। अतः मिश्र में उत्कृष्ट प्रदेशबंध को न बतलाने में उत्कृष्ट योग का अभाव कारण है।

आयु और मोहनीय के सिवाय शेष छह कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अंतराय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसंपराय में उत्कृष्ट योग तो होता ही है तथा थोड़े कर्मों का बंध होने के कारण उसका ही ग्रहण किया है।

छह मूल कर्म प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का कथन करते हुए इसी के साथ उनकी सत्रह उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध भी सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान में बतलाया है—छह सतरस सुहुमो । उक्त सत्रह प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—भतिज्ञानावरण आदि पाँच ज्ञानावरण, चक्षु-दर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, सात्तावेदनीय, यशःकीर्ति, उच्च-गोत्र और दानान्तराय आदि पाँच अंतराय कर्म के भेद ।

मोहनीय और आयु के सिवाय शेष छह मूल कर्म तथा उनकी भतिज्ञानावरण आदि सत्रह उत्तर प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध बसवें गुणस्थान में मानने का कारण यह है कि मोहनीय और आयुकर्म का बंध न होने के कारण उनका भाग ज्ञानावरण आदि शेष छह कर्मों को मिल जाता है ।

द्वितीय कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में और तीसरी कषाय प्रत्याख्यानावरण का उत्कृष्ट प्रदेशबंध पाँचवें देशविरति गुणस्थान में होता है—अजया देसा वितिकसाए । इसका कारण यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का बंध नहीं होने से उनका भाग अप्रत्याख्यानावरण कषाय को मिल जाता है तथा देशविरति गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का भी बंध नहीं होने से उसका भाग प्रत्याख्यानावरण कषाय को मिलता है । इसीलिये चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा पाँचवें देशविरति गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध माना है ।

इस प्रकार ये मूल कर्म प्रकृतियों और कुछ उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का निर्देश करने के बाद आगे की शाखाओं में अन्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का कथन करते हैं ।

पण अनियद्दी सुखगद नराउसुरसुभगतिगद्विडविवुगं ।
 समचउरंसमसाय बडरं मिच्छो व सम्मो वा ॥६१॥
 निहापयलादुजुयलभयकुच्छातित्तय सम्मगो सुजई ।
 आहारवुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥६२॥

शब्दार्थ - पण - पांच (पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्क) अनि-
 यद्दी - अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला, सुखगद - शुभ विहायोगति,
 नराउ - मनुष्यायु, सुरसुभगतिग - देवत्रिक और सुभगत्रिक, विडवि-
 वुगं - वैक्रियद्विक, समचउरंसं - समचतुरस्र संस्थान, असायं -
 असातावेदनीय, बडरं - वज्रऋषभनाराच संहनन, मिच्छो - मिथ्या-
 हृष्टि व - अथवा, सम्मो - सम्यग्दृष्टि, वा - अथवा ।

निहापयला - निद्रा और प्रचला, दुजुयल - दो युगल, भय-
 कुच्छातित्तय - भय, जुगुप्सा और तीर्थंकर नामकर्म, सम्मगो -
 सम्यग्दृष्टि, सुजई - अप्रमत्त यनि और अपूर्वकरण गुणस्थान वाला,
 आहारवुगं - आहारकद्विक का, सेसा - बाकी की प्रकृतियों का,
 उक्कोसपएसगा - उत्कृष्ट प्रदेशबंध, मिच्छो - मिथ्याहृष्टि
 (करता है) ।

गथाबंध - अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में पांच (पुरुषवेद,
 संज्वलन चतुष्क) प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है ।
 शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्रिक, सुभगत्रिक, वैक्रियद्विक,
 समचतुरस्रसंस्थान, असातावेदनीय, वज्रऋषभनाराच संह-
 नन, इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि अथवा
 मिथ्याहृष्टि जीव करते हैं ।

निद्रा, प्रचला, दो युगल (हास्य-रति और शोक-अरति),
 भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश-
 बंध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं । आहारकद्विक का उत्कृष्ट

प्रदेशबंध अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनि और शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

विशेषार्थ—बंधयोग्य एकसी बीस प्रकृतियों में से पच्चीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का कथन पूर्व गाथा में किया जा चुका है। उनके सिवाय शेष बची हुई ६५ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों को इन दो गाथाओं में बतलाया है।

इन ६५ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामित्व को पांच खंडों में विभाजित किया है। पहले खंड में पांच, दूसरे में तेरह, तीसरे में नौ, चौथे में दो और पांचवें में उक्त प्रकृतियों के अलावा शेष रही ६६ प्रकृतियों को ग्रहण किया है।

पहले खंड में पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पांच प्रकृतियों का समावेश करते हुए कहा है—पण अनियद्वी—यानि अनिवृत्तिबादर नामक नौवें गुणस्थानवर्ती जीव पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्क, इन पांच प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करते हैं। क्योंकि पुरुषवेद नोकषाय मोहनीय का भेद है और नौवें गुणस्थान में छह नोकषायों का बंध न होने के कारण उनका भाग पुरुषवेद को मिल जाता है तथा पुरुषवेद के बंध का विच्छेद होने के बाद संज्वलन कषाय चतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है। क्योंकि मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानवरण, प्रत्याख्यानवरण इन बारह कषायों व नोकषायों का सब द्रव्य संज्वलन कषाय चतुष्क को मिलता है।

दूसरे खंड में गर्भित तेरह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—शुभ विहायोगति, मनुष्यायु, देवत्विक (देवगति, देवानुपूर्वी और देवायु), सुभगत्विक (सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग), समचतुरस्र संस्थान, असातावेदनीय, वज्रऋषभनाराच

संहनन । इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध—‘मिच्छे व सम्मो वा’—मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं । क्योंकि उनके यथायोग्य उत्कृष्ट प्रदेशबंध के कारण पाये जाते हैं ।

तीसरा खंड निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा और तीर्थंकर इन नौ प्रकृतियों का है । जिनका बंध सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं । इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं । क्योंकि सम्यग्दृष्टि के स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध न होने के कारण उनका भाग भी निद्रा और प्रचला को मिल जाता है । इसीलिये निद्रा और प्रचला के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामी में सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है । मिथ्य गुणस्थान में भी स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध नहीं होता है, किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नहीं होने से उसका ग्रहण नहीं किया है ।

हास्य, रति, शोक, अरति, भय और जुगुप्सा का चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक जिन-जिन गुणस्थानों में बंध होता है, उन गुणस्थानों के उत्कृष्ट योग वाले सम्यग्दृष्टि जीव उनका प्रदेशबंध करते हैं और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो सम्यग्दृष्टि जीव ही करते हैं । इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव को निद्रा आदि नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करने वाला बतलाया है ।

चौथा खंड आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग, इन दो प्रकृतियों का है । इनका उत्कृष्ट प्रदेशबंधक सुयति यानी सातवें अप्रमत्त संयत और आठवें अपूर्वकरण इन दो गुणस्थानवर्ती मुनि को बतलाया है । ये दोनों गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं और प्रमाद रहित होने से ‘मुजई’ शब्द से इन दोनों गुणस्थानों का ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार ५४ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का

कथन तो प्रकृतियों के नाम और उनके योग्य पात्र को बतलाते हुए कर दिया है। इनके अतिरिक्त शेष रही ६६ प्रकृतियों के लिये गाथा में बताया है कि—सेमा उक्कोसपएसगा मिच्छो—शेष रही प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि जीव करता है। जिसका विवरण इस प्रकार है—

मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिरद्विक, शुभ-द्विक, अयशःकीर्ति और निर्माण इन पञ्चास प्रकृतियों के सिवाय शेष ४१ प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि को बंधती ही नहीं हैं। उनमें से कुछ प्रकृतियां सासादन गुणस्थान में बंधती हैं किन्तु वहां उत्कृष्ट योग नहीं होता है, अतः ४१ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।

उक्त पञ्चीस प्रकृतियों में से औदारिक, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, बादर, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, निर्माण, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के तेईस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक जीवों के होता है और शेष दस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नामकर्म के पञ्चीस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक जीवों को ही होता है, अन्य को नहीं और तेईस व पञ्चीस का बंध मिथ्यादृष्टि को ही होता है। इसीलिये शेष पञ्चीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश-बन्ध उत्कृष्ट योग वाले मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं।

इस प्रकार से समस्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध के स्वामियों का निर्देश करने के बाद अब आगे की गाथा में जघन्य प्रदेशबन्ध के स्वामियों को बतलाते हैं।

सुदुणो दुग्नि असन्नो निरयतिगसुराउसुरविउध्विदुगं ।

सम्मो जिणं जहन्नं सुदुमनिगोयाइखणि सेसा ॥६३॥

शब्दार्थ—सुमुणी—अप्रमत्त यति, बुद्धि—दो प्रकृतियों (आहारकद्विक) का, असंजी—असंजी, निरयतिग—नरकत्रिक, सुरास—देवायु, सुरविजयिद्विग—देवद्विक और वैक्रियद्विक, सम्मो—सम्यग्दृष्टि, जिणं—तीर्थंकर नामकर्म का, जघनं—जघन्य, सुहृम-निगोय—सूक्ष्म निगोदिया जीव, आद्विजि—उत्पत्ति के पहले समय में, सेसा—शेष रही हुई प्रकृतियों का ।

गाथा - अप्रमत्त मुनि आहारकद्विक का जघन्य प्रदेश-बंध करते हैं । असंजी जीव नरकत्रिक और देवायु का तथा सम्यग्दृष्टि जीव देवद्विक, वैक्रियद्विक और तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबन्ध करते हैं । इनके सिवाय शेष रही हुई प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया जीव उत्पत्ति के प्रथम समय में करते हैं ।

विशेषार्थ — इस गाथा में जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को बतलाया है । ग्यारह प्रकृतियों का तो नामोल्लेख करके उनके स्वामियों का कथन किया है और शेष रही १०६ प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबंध का स्वामी सूक्ष्म निगोदिया जीव को बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है ।

‘सुमुणी बुद्धि’ यानी आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबन्ध सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं । यह सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिये किन्तु विशेष से जिस समय परावर्तमान योग वाले अप्रमत्त यति (मुनि) आठ कर्मों का बंध करते हुए नामकर्म के इकतीस प्रकृति वाले बंधस्थान का बंध करते हैं और योग भी जघन्य है, उस समय ही वे आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबंध करते हैं । यद्यपि तीस प्रकृतिक बंधस्थान में भी आहारकद्विक का समावेश है, लेकिन इकतीस में एक प्रकृति अधिक होने के कारण बटवारे के समय उनको कम द्रव्य

मिलता है। इसीलिये इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान का निर्देश किया गया है।

इसी तरह परावर्तमान योग वाला असंज्ञी जीव नरकत्रिक (नरक-गति, नरकानुपूर्वी और नरकायु) और देवायु का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है - असंज्ञी निरयतिमसुराड। इन चार प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंधक असंज्ञी पर्याप्त जीव को मानने का कारण यह है कि पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव तो नरकगति और देवगति में उत्पन्न ही नहीं होते हैं, जिससे उनके उक्त प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं होता है और असंज्ञी अपर्याप्त के भी इतने विषुद्ध परिणाम नहीं होते हैं जिससे देवगति योग्य प्रकृतियों का बंध कर सके और न इतने संक्लेश रूप परिणाम कि नरकगति योग्य प्रकृतियों का बंध हो सके।

उक्त चार प्रकृतियों के बंधक असंज्ञी पर्याप्तक के परावर्तमान योग वाला मानने का कारण यह है कि यदि एक ही योग में चिरकाल तक रहने वाला लिया जायेगा तो वह तीव्र योग वाला हो जायेगा। इसीलिये परावर्तमान योग को ग्रहण किया है। क्योंकि योग में परिवर्तन होते रहते तीव्र योग नहीं हो सकता है। अतः परावर्तमान योग वाला आठ कर्मों का बन्धक पर्याप्त असंज्ञी जीव अपने योग्य जघन्य योग के रहते हुए नरकत्रिक और देवायु इन चार प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश-बंध करता है।

देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग) और तीर्थंकर इन पांच प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है। इसका कारण नीचे स्पष्ट किया जाता है-

कोई मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके देवों में उत्पन्न हुआ। वहां वह उत्पत्ति के प्रथम समय में ही मनुष्यगति के योग्य तीर्थंकर

प्रकृति सहित नामकर्म के तीस प्रकृतिक स्थान का बंध करता हुआ तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबंध करता है। नरकगति में भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है किन्तु देवगति में जघन्य योग वाले अनुत्तरवासी देवों का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि नरकगति में इतना जघन्य योग नहीं होता है। अतः नरकगति के सम्यग्दृष्टि जीव के तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबन्ध नहीं बतलाया है। तिर्यचगति में तीर्थंकर प्रकृति का बंध ही नहीं होता है और मनुष्यगति में जन्म के प्रथम सम्यग में तो तीर्थंकर प्रकृति सहित नामकर्म के उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान का बंध होता है, अतः प्रकृति कम होने से वहां अधिक भाग मिलता है तथा तीर्थंकर सहित इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान का बंध संयमी के ही होता है और वहां योग भी अधिक होता है। अतः तीस प्रकृतिक स्थान के बन्धक देवों के ही तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशबंध बतलाया है।

देवद्विक और वैक्रियद्विक का जघन्य प्रदेशबंध देवगति या नरकगति से आकर उत्पन्न होने वाले मनुष्य के उस समय होता है जब वह देवगति के योग्य नामकर्म के उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान का बंध करता है। क्योंकि देव और नारक तो इन प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं करते हैं और भोगभूमिया तिर्यच जन्म लेने के प्रथम समय में इनका बंध करते भी हैं किन्तु वे देवगति योग्य अट्ठाईस प्रकृतिक बन्धस्थान का ही बंध करते हैं। जिससे उनको बटवारे के समय अधिक द्रव्य मिलता है। यही बात अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक मनुष्य के लिये भी समझना चाहिये। अतः उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान के बंधक मनुष्य के ही देवद्विक और वैक्रियद्विक इन चार प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाया है।

उक्त ११ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही १०६ प्रकृतियों का जघन्य

प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के पहले समय में करता है। क्योंकि उसके प्रायः सभी प्रकृतियों का बंध होता है और सबसे जघन्य योग भी उसी के होता है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को जानना चाहिये।^१ अब आगे की गाथा में प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों को बतलाते हैं।

वसणछगभयकुच्छावितितुरियकसाय विग्घनाणाणं ।

मूलछगेऽणुक्कोसो चउह बुहा सेसि सव्वत्थ ॥६४॥

शब्दार्थ—वसणछग—दर्शनावरणषट्क, भयकुच्छा—भय बी. युयुत्सव, वितितुरियकसाय—दूसरी, तीसरी और चौथी कषाय, विग्घनाणाणं—पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण, मूलछगे—मूल छह प्रकृतियों का, अणुक्कोसो—अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध, चउह—चार प्रकार का, बुहा—दो प्रकार का, सेसि—शेष तीन प्रकार के बंधों में, सव्वत्थ—सर्वत्र होते हैं।

गाथार्थ—दर्शनावरण कर्म की छह प्रकृतियों का, दूसरी तीसरी और चौथी कषाय का, पांच अन्तराय और पांच ज्ञानावरण का, छह मूल कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध चारों प्रकार का होता है। उक्त प्रकृतियों के तथा उनके सिवाय शेष प्रकृतियों के तीन बंध दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में प्रदेशबंध के सादि आदि भंगों का विवेचन किया गया है।

१ गो० कर्मकांड गा० २११ से २१७ में उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों को बतलाया है। जो प्रायः कर्मग्रन्थ के समान है और शेष १०६ प्रकृतियों के जघन्य बंधक के बारे में कुछ विशेषता भी बतलाई है।

उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बंध तथा उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव भंगों का स्वरूप पहले बतला चुके हैं तथा प्रत्येक बंध के अंत में मूल और उत्तर प्रकृतियों में उनका विचार किया गया है। अब प्रदेशबन्ध में भी उनका विचार करते हैं।

सबसे अधिक कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को उत्कृष्ट प्रदेशबंध और उत्कृष्ट प्रदेशबंध में एक दो वगैरह स्कन्धों की हानि से लेकर सबसे कम कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों में प्रदेशबंध के सब भेदों का ग्रहण हो जाता है।

सबसे कम कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को जघन्य प्रदेशबंध कहते हैं और उसमें एक दो आदि स्कंधों की वृद्धि से लेकर अधिक-से-अधिक कर्मस्कंधों के ग्रहण करने को अजघन्य प्रदेशबंध कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेदों में भी उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेदों की तरह प्रदेशबंध के सब भेद गभित हो जाते हैं।

गाथा में जो दर्शनषट्क आदि प्रकृतियों में अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि आदि चारों भेद बतलाये हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनषट्क में चक्षुदर्शनावरण, अन्धक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा और प्रचला इन छह प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। उनमें से निद्रा और प्रचला इन दो को छोड़ कर शेष चार दर्शनावरणों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। क्योंकि यहाँ मोहनीय और आयु कर्म का बंध नहीं होता है तथा निद्रापंचक का भी बंध नहीं होता है। जिससे उन्हें बहुत द्रव्य मिलता है। इस उत्कृष्ट प्रदेशबंध को करके जब कोई जीव म्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में गया और वहाँ से गिरकर दसवें गुणस्थान में आकर जब वह जीव उक्त प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट

बंध करता है तो वह बंध सादि होता है। अथवा दसवें गुणस्थान में ही उत्कृष्ट प्रदेशबंध करने के बाद वह जीव पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तब वह बंध सादि होता है। क्योंकि उत्कृष्ट योग एक दो समय से अधिक देर तक नहीं होता है। उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है, वह अनादि है। अभव्य जीव का वही बंध ध्रुव है और भव्य जीव का बंध अध्रुव है।

सम्यग्दृष्टि जीव के स्थानाद्वित्रिक का बंध नहीं होता है और निद्रा व प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है, अतः स्थानाद्वित्रिक का भाग भी उनका मिलता है। उक्त गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करके जब जीव पुनः अनुत्कृष्ट बंध करता है तो वह सादि कहा जाता है। उत्कृष्ट बंध से पहले का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध अनादि है। अभव्य का बन्ध ध्रुव है और भव्य का बन्ध अध्रुव है।

भय और जुगुप्सा का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है। उनके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के भी पहले की तरह ही चार भंग जानना चाहिये। यानी ये अविरतादिक जब उत्कृष्ट योग से गिरकर अथवा बंधच्छेद से अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करते हैं तब वह सादि और उससे पूर्व का अनादि तथा अभव्य के ध्रुव व भव्य के अध्रुव होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानवरण कषाय, प्रत्याख्यानवरण कषाय और संज्वलन कषाय, पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के भी चार-चार भंग जानना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के पहले जो अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वह अनादि है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के बाद जो अनुत्कृष्ट बन्ध होता है वह सादि है। भव्य जीव को वही बन्ध अध्रुव होता है और अभव्य का बंध ध्रुव होता है।

इस प्रकार से उक्त तीस प्रकृतियों के अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के सादि आदि चार भंग होते हैं। किन्तु बाकी के उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध के सादि और अध्रुव यह दो ही विकल्प होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के भंगों को बतलाते समय यह स्पष्ट किया गया है कि अमुक गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। यह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अपने-अपने गुणस्थानों में पहली बार होता है, अतः वह सादि है और एक, दो समय होने के बाद या तो उस बन्ध का बिल्कुल अभाव हो जाता है या पुनः अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने लगता है, जिससे वह अध्रुव है तथा उक्त तीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भव के प्रथम समय में होता है और उसके बाद योगशक्ति में वृद्धि होने के कारण उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। संख्यात या असंख्यात काल के बाद जब उस जीव को पुनः उस भव की प्राप्ति होती है तो पुनः जघन्य प्रदेशबन्ध होता है और उसके बाद पुनः अजघन्य प्रदेशबन्ध होता है। इस प्रकार जघन्य के बाद अजघन्य और अजघन्य के बाद जघन्य प्रदेशबन्ध होने के कारण दोनों ही बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।

तीस प्रकृतियों के भंगों का विचार कर लेने के बाद अब शेष रही ६० प्रकृतियों के भंगों का विचार करते हैं। इनके चारों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं। ६० प्रकृतियों में से ७३ प्रकृतियां अध्रुवबन्धिनी हैं अतः उनके तो चारों ही बन्ध सादि और अध्रुव होंगे ही और शेष रही सत्रह ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में से स्त्यानद्धिद्विक, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि करता है। उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का कारण उत्कृष्ट योग है जो एक दो समय तक ठहरता है। जिससे उत्कृष्ट बन्ध एक दो समय तक ही होता है और उसके

बाद अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। उत्कृष्ट योग होने पर पुनः उत्कृष्ट बन्ध होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट के बाद अनुत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट के बाद उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होने का क्रम चलता रहता है। इसी कारण यह दोनों बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं तथा इन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव भव के प्रथम समय में करता है। दूसरे, तीसरे आदि समयों में वही जीव उनका अजघन्य प्रदेशबन्ध करता है और कालान्तर में वही जीव पुनः उनका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इस प्रकार ये दोनों बन्ध भी सादि और अध्रुव होते हैं।

वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण प्रकृति के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी इसी प्रकार सादि और अध्रुव समझना चाहिये। इन गौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध मिथ्यात्वी उत्कृष्ट योग वाला नामकर्म के तीस प्रकृतिक बन्धस्थान का बन्ध करने वाला करता है।

इस प्रकार उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चार बंधों में सादि वगैरह भंगों का स्वरूप जानना चाहिये। अब मूल प्रकृतियों के भंगों का विचार करते हैं।

मूल प्रकृतियों में से जानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अंतराय के अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध के सादि वगैरह चारों विकल्प होते हैं। जो इस प्रकार हैं कि इन छह का उत्कृष्ट प्रदेशबंध क्षपक अथवा उपशमक सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में करता है। अनन्तर जब पुनः उनका अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तो वह बंध सादि है। उत्कृष्ट प्रदेशबंध से पहले वह बंध अनादि है, भव्य का बंध अध्रुव है तथा अभव्य का बंध ध्रुव है। शेष जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट प्रदेश-

बंध के सादि और अध्रुव विकल्प होते हैं । क्योंकि पूर्व में अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध को बतलाते हुए सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेश-बंध होने का संकेत कर आये हैं । वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध पहले पहल होता है, अतः सादि है और पुनः अनुत्कृष्ट बंध के होने पर पुनः नहीं होता है, अतः अध्रुव है । उक्त छह कर्मों का जघन्य प्रदेशबंध सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव भग के प्रथम समय में करता है और उसके बाद योग की वृद्धि हो जाने पर अजघन्य प्रदेशबंध करता है, कालान्तर में पुनः जघन्य बंध करता है । इस प्रकार ये दोनों भी सादि और अध्रुव होते हैं ।

ज्ञानावरण आदि छह मूल प्रकृतियों से शेष रहे मोहनीय और आयु कर्म के चारों बंधों के सादि और अध्रुव, दो ही विकल्प होते हैं । आयु कर्म तो अध्रुवबंधी है अतः उसके चारों प्रदेशबंध सादि और अध्रुव ही होते हैं । मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नौवें गुणस्थान तक के उत्कृष्ट योग वाले जीव करते हैं और उत्कृष्ट के बाद अनुत्कृष्ट तथा अनुत्कृष्ट के बाद उत्कृष्ट प्रदेशबंध होता है । इसीलिये ये दोनों बंध सादि और अध्रुव हैं । इसी प्रकार मोहनीय का जघन्य बंध सूक्ष्म निगोदिया जीव करता है । उसके भी जघन्य के बाद अजघन्य तथा अजघन्य के बाद जघन्य बंध करने के कारण दोनों बंध सादि और अध्रुव होते हैं ।

इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि प्रदेशबंधों के सादि वगैरह का क्रम जानना चाहिए ।^१

१ पंचसंग्रह और गो० कर्मकांड में प्रदेशबंध के सादि वगैरह मंगों का कर्म-ग्रन्थ के अनुरूप वर्णन किया गया है । तुलना के लिये उक्त अंशों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

प्रदेशबंध का विवेचन पूर्ण करने के पहले यह भी स्पष्ट करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध में से अनेक प्रकार के प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध के कारण योगस्थान हैं। अनेक प्रकार के स्थितिबंध के कारण स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान हैं तथा अनेक प्रकार के अनुभागबंध के कारण अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान हैं। अतः अब योगस्थान और उनके कार्यों का परस्पर में अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

सेहिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइसेया ।

ठिइबंधज्जवसायाणुभागठाणां असंखिगुणा ॥६५॥

तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।

शब्दार्थ—सेहिअसंखिज्जंसे—श्रेणि के असंख्यातबें भाग,
जोगट्ठाणाणि—योगस्थान, पयडिठिइसेया—प्रकृतिभेद, स्थितिभेद,
ठिइबंधज्जवसाया—स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान, अणुभागठाणा
—अनुभाग बंध के अध्यवसायस्थान, असंखिगुणा—असंख्यात गुणे,
तत्तो—उनसे भी, कम्मपएसा—कर्मप्रदेश, कर्म के स्कंध, अणंतगु-

मोहाउयवज्जाणं णुक्कोसो साइयाइओ होइ ।

साई अधुवा सेसा आउगमोहाण सव्वेवि ॥

नाणंतरायनिहा अणवज्जकसाय भयदुगुंछाण ।

दंसणचउपयलाणं चउव्विगप्पो अणुक्कोसो ॥

सेसा साई अधुवा सव्वे सव्वाण सेसपयईणं ।

—पंचसंग्रह २६०, २६५, २६६

छण्हं पि अणुक्कस्सो पदेसबंधो दु चउव्वियप्पो दु ।

सेसतिये दुव्वियप्पो मोहाज्जणं च दुव्वियप्पो ॥

तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो ।

सेसतिये दुव्वियप्पो सेसचउक्केवि दुव्वियप्पो ॥

—गो० कर्मकांड २०७, २०८

णिषा—अनन्तगुणे, तयो — उनसे भी, रसच्छेदो—रसच्छेद—रस न
अविभाग प्रतिच्छेद ।

गाथा—योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग हैं । उनसे
प्रकृतियों के भेद, स्थितिभेद, स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान
और अनुभाग बंध के अध्यवसायस्थान अनुक्रम से असंख्यात-
गुणे, असंख्यातगुणे हैं । उनसे भी कर्म के स्कंध अनन्तगुणे
हैं और कर्मस्कंधों से भी रसच्छेद अनन्तगुणे हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में बंध के भेदों और उनके कारणों का अल्पबहुत्व
बतलाया है । इस निरूपण में निम्नलिखित सात चीजों का ग्रहण किया
गया है—

(१) प्रकृतिभेद, (२) स्थितिभेद, (३) प्रदेशभेद, (४) रसच्छेद
अर्थात् अनुभागभेद, (५) योगस्थान, (६) स्थितिबंध-अध्यवसाय-
स्थान और (७) अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान । इन सात भेदों में
बंध के चार भेद और तीन उनके कारण भेद हैं । बंध के तो चार भेद
माने हैं किन्तु कारण के तीन भेद मानने का कारण यह है कि प्रकृति
और प्रदेश बंध का कारण एक ही है । इसीलिये कारण के भेद चार के
बजाय तीन ही किये गये हैं । यहां इन सातों का अल्पबहुत्व बतलाया
है कि कौन किससे कम और कौन अधिक है । यानी सातों में से किसकी
संख्या अधिक है और किसकी संख्या कम है ।

इस अल्पबहुत्व का कथन प्रारंभ करते हुए सर्व प्रथम बताया है
कि योगस्थानों की संख्या श्रेणि के असंख्यातवें भाग है—सेठि असंखि-
जंसे जोगदूठाणाणि—अर्थात् श्रेणि के असंख्यातवें भाग में आकाश
के जितने प्रदेश हैं उतने ही योगस्थान जानना चाहिये । यह पहले
बतला आये हैं, कि वीर्य या शक्तिविशेष को योग कहते हैं और सबसे
अल्प योग सूक्ष्म निगोदिया । मध्यपर्याप्तक जीव को भव के प्रथम

समय में होता है। अर्थात् अन्य जीवों की अपेक्षा उसकी वीर्यशक्ति सबसे कम है। किन्तु सबसे कम शक्ति के धारक उस जीव के कुछ प्रदेश बहुत कम वीर्य वाले हैं और कुछ उनसे भी अधिक वीर्य वाले हैं। यदि सबसे कम वीर्य वाले प्रदेशों में से एक प्रदेश को केवलज्ञानी के ज्ञान द्वारा देखा जाय तो उसमें असंख्यात लोककाशों के प्रदेश के बराबर भाग पाये जाते हैं। यह बात तो हुई कम वीर्य वाले प्रदेशों की, लेकिन इसी प्रकार अत्यधिक वीर्य वाले प्रदेश का भी अवलोकन किया जाये जो उसमें उन जघन्य वीर्य वाले प्रदेश के भागों से भी असंख्यातगुणे भाग पाये जाते हैं।

वीर्यशक्ति के इन अविभागी अंशों या भागों को वीर्य-परमाणु, भाव-परमाणु या अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। जीव के जिन प्रदेशों में ये अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम लेकिन समान संख्या में पाये जाते हैं, उनकी एक वर्गणा होती है। उनसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की दूसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेशों की एक-एक अलग वर्गणा होती है। जहां तक एक-एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेश पाये जाते हैं, वहां तक की वर्गणाओं के समूह को प्रथम स्पर्धक कहते हैं। उसके आगे जो प्रदेश मिलते हैं, उनमें प्रथम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के प्रदेशों में जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं, उनसे असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के जितने अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं, उतने अविभागी प्रतिच्छेद जिन-जिन प्रदेशों में पाये जाते हैं, उनके समूह को दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा जानना चाहिये। इस प्रथम वर्गणा के ऊपर एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों वाले प्रदेशों का समूह रूप दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद की वृद्धि करते-करते ये वर्गणाएँ

श्रेणि के असंख्यातवें भाग के बराबर होती हैं, इनके समूह को दूसरा स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेश नहीं मिलते किंतु असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के जितने अधिक अविभागी-अविभागो प्रतिच्छेदों के धारक प्रदेश ही मिलते हैं। उनसे पहले कहे हुए क्रम के अनुसार तीसरा स्पर्धक प्रारम्भ होता है। इसी तरह चौथा, पांचवां आदि स्पर्धक जानना चाहिये। इन स्पर्धकों का प्रमाण भी श्रेणि के असंख्यातवें भाग है और उनके समूह को एक योगस्थान कहते हैं।

यह योगस्थान सबसे जघन्य शक्ति वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव के भव के पहले समय में होता है। उससे कुछ अधिक शक्ति वाले जीव का इसी क्रम से दूसरा योगस्थान होता है। इसी प्रकार अधिक-अधिक शक्ति की वृद्धि के साथ तीसरा, चौथा, पांचवां आदि योगस्थान होते हैं। इस तरह इसी क्रम से नाना जीवों के अथवा काल-भेद से एक ही जीव के ये योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग आकाश के जितने प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं।

जीवों के अनंत होने पर भी योगस्थानों को असंख्यात मानने का कारण यह है कि सब जीवों का योगस्थान अलग-अलग ही नहीं होता है किन्तु अनन्त स्थावर जीवों के समान योगस्थान होता है तथा असंख्यात त्रसों के भी समान योगस्थान होता है। जिससे संख्या में कोई परिवर्तन नहीं आता किन्तु विसदृश योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भाग ही होते हैं। इसीलिए असंख्यात योगस्थान माने हैं।

इन योगस्थानों से भी ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों के भेद असंख्यातगुणों हैं। यद्यपि कर्मों की ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियां हैं और उत्तर प्रकृतियां १५८ बतलाई हैं किन्तु बंध की विविधता

से एक-एक प्रकृति के असंख्यात भेद हो जाते हैं। जैसे कि शास्त्रों में अवधिज्ञान के बहुत भेद बतलाये हैं, जिससे अवधिज्ञानावरण के बंध के भी उतने ही भेद होते हैं, क्योंकि बंध की विचित्रता से ही क्षयोप-शम में अन्तर पड़ता है और क्षयोपशम में अन्तर पड़ने से ही ज्ञान के अनेक भेद होते हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सूक्ष्म पनक जीव के तीसरे समय में जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है और असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। अतः जघन्य क्षेत्र से लेकर एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र तक क्षेत्र की हीनाधिकता के कारण अवधिज्ञान के असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसीलिये अवधिज्ञान के आवारक अवधिज्ञानावरण कर्म के भी बंध और उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद हो जाते हैं। इसी तरह नाना जीवों की अपेक्षा से कर्मों की अन्य उत्तर प्रकृतियों व मूल प्रकृतियों के भी बंध व उदय की विचित्रता से असंख्यात भेद समझना चाहिये।

जीवों के अनन्त होने के कारण उनके बंधों और उदयों की विचित्रता से प्रकृतियों के अनन्त भेद मानने की आशंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि नाना जीवों के भी एक-सा बंध व उदय होने से वह एक ही माना जाता है किन्तु प्रकृतियों के विसदृश भेद असंख्यात ही होते हैं। अतः योगस्थानों से प्रकृतियाँ असंख्यातगुणी हैं, क्योंकि एक-एक योगस्थान में वर्तमान नाना जीव या कालक्रम से एक ही जीव इन सब प्रकृतियों का बंध करता है।

प्रकृतिभेदों से असंख्यातगुणे स्थिति के भेद हैं, क्योंकि एक-एक प्रकृति असंख्यात प्रकारों की स्थिति को लेकर बंधती है। जैसे कि एक जीव एक ही प्रकृति को कभी अन्तर्मुहूर्त की स्थिति के साथ बांधता है, कभी एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्त की स्थिति के साथ बांधता है,

कभी दो समय अधिक, कभी तीन समय अधिक यावत् अन्तर्मुहूर्त के समयों के जितने भेद है, उन-उन समयों को लेकर बांघता है। इस प्रकार जब एक प्रकृति और एक जीव की अपेक्षा से ही स्थिति के असंख्यात भेद हो जाते हैं तब सब प्रकृतियों और सब जीवों की अपेक्षा से प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेदों का असंख्यातगुण होना सम्भव है। इसी कारण प्रकृति के भेदों से स्थिति के भेद असंख्यातगुणे होते हैं।

स्थिति के भेदों से स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान^१ असंख्यातगुणे हैं। एक-एक स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसाय—परिणाम अनेक होते हैं, क्योंकि सबसे जघन्य स्थिति का बंध भी असंख्यात लोकप्रमाण अध्यवसायों से होता है अर्थात् एक ही स्थितिबंध किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है और किसी जीव के किसी तरह के परिणाम से होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। अतः स्थिति के भेदों से स्थितिबन्ध-अध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे माने गये हैं।

स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान से अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् स्थितिबंध के कारणभूत परिणामों से अनुभागबंध के कारणभूत परिणाम असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि एक-एक स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान तो अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, किन्तु एक-एक अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक आठ समय तक ही रहता है। अतः एक-एक स्थितिबंध-अध्यवसायस्थान में असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान होते हैं।

१ कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणामविशेषों से स्थितिबंध होता है, उन परिणामों को स्थितिबन्ध-अध्यवसाय कहते हैं।

इस प्रकार योगस्थान, प्रकृतिभेद, स्थितिभेद, स्थितिबंध के अध्यवसायस्थान, अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान तो क्रमशः असंख्यात हैं और अनुभागबंध के अध्यवसायस्थान से भी—कम्मपएसा अनंतगुणिया, कर्मस्कंध अनंतगुणे हैं। क्योंकि एक जीव एक समय में अभव्य राशि से अनंतगुणे और सिद्ध राशि के अनंतवें भाग कर्मस्कंधों को ग्रहण करता है। अतः अनुभागबंध-अध्यवसायस्थान से अनंतगुणे कर्मस्कन्ध माने हैं।

कर्मस्कंधों से भी अनंतगुणे रस के अविभागी प्रतिच्छेद हैं, क्योंकि अनुभागबंध-अध्यवसायस्थानों के द्वारा कर्मपुद्गलों में रस—फलदान शक्ति पैदा होती है, यदि एक परमाणु में विद्यमान रस या अनुभाग-शक्ति को केवलज्ञान के द्वारा विभाजित किया जाये—खंड-खंड किया जाये तो उसमें समस्त जीवराशि से अनंतगुणे अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते हैं अर्थात् समस्त कर्मस्कंधों के प्रत्येक परमाणु में समस्त जीवराशि से अनंतगुणे रसच्छेद होते हैं, किन्तु एक-एक कर्मस्कन्ध में कर्मपरमाणु सिद्धराशि के अनंतवें भाग ही होते हैं। इसीलिये कर्मस्कंधों से रसच्छेद अनंतगुणे माने जाते हैं।

इस प्रकार से बन्ध और उनके कारणों का अल्पबहुत्व जानना चाहिये कि योगस्थान से लेकर अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान तक तो प्रत्येक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हैं और उसके अनन्तर कर्मस्कन्ध और रसच्छेद क्रमशः अनंतगुणे हैं।^१

१ पंचसंग्रह में भी योगस्थान आदि का अल्पबहुत्व इसी प्रकार बतलाया है—

रोहिअसंखेज्जं सो जोगट्ठाणा ततो असंखेज्जा ।

पयडीभंआ ततो ठिइभेया होति ततोवि ॥२८२

ठिइबंधज्जवसाया ततो अणुभागबंधठाणाणि ।

ततो कम्मपएसाणंतगुणा तो रसच्छेया ॥२८३

गो० कर्मकांड गा० २५८-२६० में रसच्छेद को नहीं लेकर सिर्फ छह का ही परस्पर में अल्पबहुत्व बतलाया है। यह वर्णन कर्मग्रन्थ से मिलता है।

प्रदेशबन्ध के समग्र वर्णन में अभी तक उसका कारण नहीं बताया है । अतः अब प्रदेशबन्ध और उसके साथ ही पूर्वोक्त प्रकृति, स्थिति और अनुभाग बन्ध के कारणों का भी निर्देश करते हैं ।

योगः पयडिपएसं ठिहअणुभागं कसायाउ ॥६६॥

शब्दार्थ—योग—योग से, पयडिपएसं—प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध, ठिहअणुभागं—स्थितिबंध और अनुभागबंध, कसायाउ—कषाय द्वारा ।

भावार्थ—प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं और स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व में बंध के प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध, यह चार भेद बतला आये हैं । यहां उनके कारणों को बतलाते हैं कि प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का कारण योग है और स्थितिबंध व अनुभागबंध का कारण कषाय है ।

योग और कषाय का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है कि योग एक शक्ति का नाम है जो निमित्त कारणों के मिलने पर कर्म वर्गणाओं को कर्म रूप परिणमाती है । योग के द्वारा कर्म पुद्गलों का असुक परिमाण में कर्म रूप होना और उनमें ज्ञानादि गुणों को आवरित करने का स्वभाव पड़ना, यह योग का कार्य है ।

आगत कर्म पुद्गलों का असुक काल तक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहना और उनमें तीव्र, मंद आदि फल देने की शक्ति का पड़ना कषाय द्वारा किया जाता है । इसीलिये प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध का कारण योग और स्थितिबंध व अनुभागबंध का कारण कषाय को माना है । जब तक कषाय रहती है तब तक तो चारों बंध होते हैं और कषाय का उपशम या क्षय हो जाने पर सिर्फ प्रकृति व प्रदेश बंध, यह दो बंध होते हैं ।

कषाय का उपशम व क्षय ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक में है, जिससे उन गुणस्थानों में प्रकृति व प्रदेश बंध होता है और चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाने से सदा के लिये कर्मोच्छेद हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान से आगे होने वाला प्रकृति और प्रदेश बंध पहले समय में होकर दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाता है। योगशक्ति होने से यह बंध माना जाता है, लेकिन कषाय परिश्रम नहीं होने से अपना फल नहीं देते हैं।

पहले योगस्थानों का प्रमाण श्रेणि के असंख्यातवें भाग बताया है, अतः बंध के कारणों का कथन करने से बाद अब श्रेणि के स्वरूप को बतलाते हैं।

चउदसरज्जू लोगो बुद्धिकभो सत्तरज्जुमाणघणो ।

तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तत्त्वग्गो ॥६७॥

शब्दार्थ - चउदसरज्जू - चौदह राजू प्रमाण, लोगो - लोक, बुद्धिकभो - मति कल्पना के द्वारा किया गया, सत्तरज्जुमाणघणो - सात राजू प्रमाण का, तद् - उसकी (बनीकृत लोक की) दीहेग-पएसा - लंबी एक प्रदेश की, सेढी - श्रेणि, पयरो - प्रतर, य - और तत्त्वग्गो - उसका वर्ग।

गाथार्थ - लोक चौदह राजू प्रमाण है, उसका मति-कल्पना के द्वारा समीकरण किये जाने पर वह सात राजू के घनप्रमाण होता है। उस बनीकृत लोक की लोक प्रमाण लंबी प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं और उसके वर्ग को प्रतर समझना चाहिये।

विशेषार्थ - इस गाथा में लोक, श्रेणि और प्रतर का स्वरूप बतलाया है। गाथा में लोक के स्वरूप का संकेत देते हुए सिर्फ यही लिखा है 'चउदसरज्जू लोगो', जिसका आशय है कि लोक चौदह राजू

है, किन्तु यह तो केवल उसकी ऊँचाई का ही प्रमाण बतलाया है। अतः यहाँ लोक का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

सभी प्रकार के पदार्थ—जड़ या चेतन, दृश्यमान या अदृश्यमान, सूक्ष्म या स्थूल, स्थावर या जंगम आदि—जहाँ देखे जाते हैं अथवा जीव जहाँ अपने सुख-दुःख रूप पुण्य-पाप के फल का वेदन करते हैं, उसे लोक कहते हैं। इन पदार्थों में होने वाली प्रत्येक क्रिया अथवा इन पदार्थों द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का आधार यह लोक ही है। ये सभी पदार्थ अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए भी अपने मूल गुण, धर्म, स्वभाव का परित्याग नहीं करते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि जड़ चेतन हो गया हो अथवा चेतन जड़, मूर्त अमूर्त हो गया हो अथवा अमूर्त मूर्त। सभी पदार्थ अपने अस्तित्व और अभिव्यक्ति के स्वयं कारण हैं और उनका अपना-अपना कार्य है। इसीलिये इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रों में लोक का स्वरूप बतलाया है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह द्रव्य जहाँ पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। अर्थात् धर्म आदि षड् द्रव्यों का समूह लोक है। लोक का ऐसा कोई हिस्सा नहीं, जहाँ ये छह द्रव्य न पाये जाते हों।

धर्म आदि उक्त छह द्रव्यों में से आकाश सर्वत्र व्यापक है, जबकि अन्य द्रव्य उसके व्याप्य हैं। अर्थात् आकाश धर्म आदि शेष पाँच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनके सिवाय उनसे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है अर्थात् उसका अन्त नहीं है। अतः आकाश के जितने भाग में धर्मादि छह द्रव्य रहते हैं, उसे लोक कहते हैं और उसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक कहलाता है। यह लोक ध्रुव है, नित्य है, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित है, न तो इसका कभी नाश होता है और न कभी नया उत्पन्न होता है।

लोक का स्वरूप समझने के पश्चात् यह जिज्ञासा होती है कि इस लोक की स्थिति का आधार क्या है ? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी लोक के आधार को जानने के लिये प्रयास किया है, लेकिन ससीम ज्ञान के द्वारा इस असीम लोक की स्थिति का सम्यग् बोध होना सम्भव नहीं है। यन्त्रों के द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त विश्वसनीय एवं प्रमाणिक होती है। अतः यहां सर्वज्ञ भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित लोकस्थिति के आधार को बतलाते हैं। उन्होंने लोक की स्थिति आठ प्रकार से प्रतिपादित की है—

(१) वात—तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, (२) उदधि—घनोदधि वात प्रतिष्ठित है, (३) पृथ्वी—उदधि प्रतिष्ठित है, (४) त्स और स्थावर प्राणी पृथ्वी प्रतिष्ठित हैं, (५) अजीव जीव प्रतिष्ठित है, (६) जीव कर्म प्रतिष्ठित है, (७) अजीव जीव से संगृहीत है, (८) जीव कर्म से संगृहीत है।^१

उक्त कथन का सारांश यह है कि त्स, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यानी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं और पृथ्वी वायु के आधार पर तथा वायु आकाश के आधार पर टिकी हुई है।

पृथ्वी को वाताधारित कहने का स्पष्टीकरण यह है कि पृथ्वी का पाया जलोदधि पर आधारित है। घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान इसका रूप है। इसकी मोटाई नीचे मध्य में बीस हजार योजन की है। घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है, यानी

घनोदधि घनवात से आवृत है और इसका रूप कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौड़ाई और परिधि असंख्यात योजन की है। यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असंख्यात योजन की है। इसका रूप तपे हुए घी के समान समझना चाहिए।

तनुवात के नीचे असंख्यात योजन प्रमाण आकाश है। इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए लकड़ी के पात्र हों, उसी प्रकार ये तीनों वातवलय भी एक दूसरे में अवस्थित हैं। यानी घनोदधि छोटे पात्र-जैसा, घनवात मध्यम पात्र-जैसा और तनुवात बड़े पात्र-जैसा है और उसके बाद आकाश है। इन तीन पात्रों में से जैसे सबसे छोटे पात्र में कोई पदार्थ रखा जाये, वैसे ही घनोदधिवलय के भीतर यह पृथ्वी अवस्थित है।

शास्त्र में लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठ संस्थान' वाला कहा है। सुप्रतिष्ठ संस्थान के आकार का रूप इस प्रकार होता है कि—

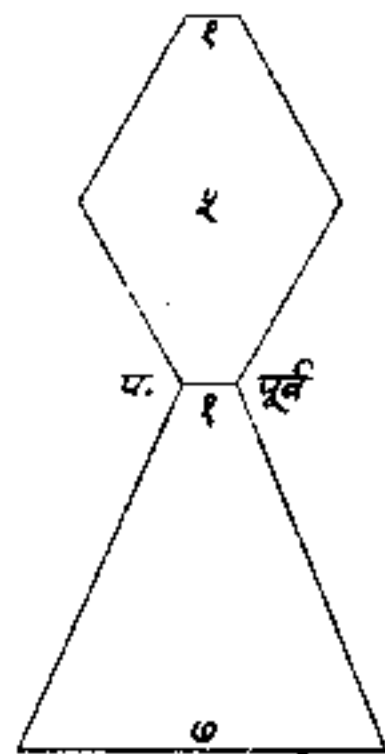
जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह सुप्रतिष्ठ संस्थान कहलाता है और यही आकार लोक का है।

अनेक आचार्यों ने लोक का आकार विभिन्न रूपकों द्वारा भी समझाया है। जैसे कि लोक का आकार कटिप्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसार कर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसी-लिये लोक को पुरुषाकार की उपमा दी है। कहीं-कहीं वेत्तासन पर रखे हुए मृदंग के समान लोक का आकार बतलाया है, इसी प्रकार की और दूसरी वस्तुएँ जो जमीन में चौड़ी, मध्य में सकरी तथा ऊपर में चौड़ी और फिर सकरी हों और एक दूसरे पर रखा जान-पर जसा उनका आकार बने, वह लोक का आकार बनेगा।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग हैं और इन विभागों के होने का मध्यबिंदु मेरु पर्वत ये मूल में है। इस मध्य लोक के नीचे-नीचे मेरु पर्वत है, जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ६६००० योजन है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है। मेरु पर्वत के पाये के एक हजार में से नौ सौ योजन के नीचे जाने पर अधोलोक प्रारम्भ होता है और अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्यलोक है। अर्थात् नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर, कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के बाद ऊपर का सभी क्षेत्र ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इन तीनों लोकों में अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई, चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊंचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, क्योंकि मध्यलोक की ऊंचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लंबाई-चौड़ाई भी एक-सी नहीं है। अधोलोक की लंबाई-चौड़ाई सातवें नरक में सात राजू से कुछ कम है और पहला नरक एक राजू लंबा-चौड़ा है जो मध्यलोक की लंबाई-चौड़ाई के बराबर है। ऊर्ध्वलोक की लंबाई-चौड़ाई पाँचवें देवलोक में पाँच राजू और उसके बाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू लंबाई-चौड़ाई रहती है।

यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के बराबर लंबा-चौड़ा है। लोक के आकार की जानकारी संलग्न चित्र में दी गई है।



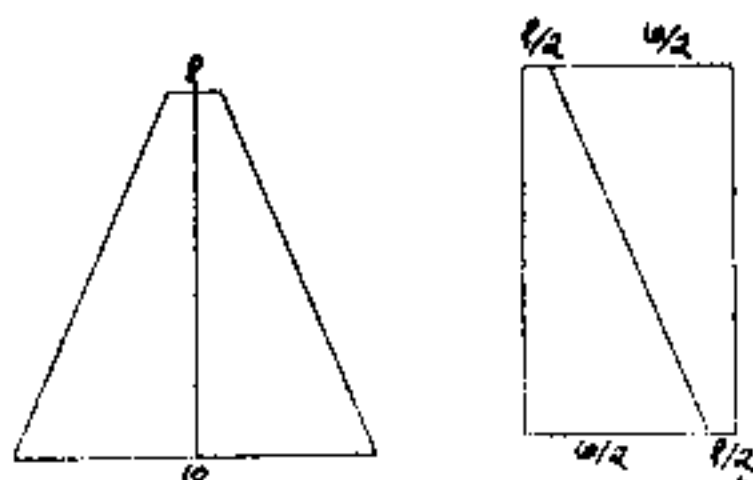
लोक की उक्त लंबाई-चौड़ाई आदि का सारांश यह है कि नीचे जहाँ सातवां नरक है वहाँ सात राजू चौड़ा है और वहाँ से घटता-घटता सात राजू ऊपर आने पर जहाँ पहला नरक है, वहाँ एक राजू चौड़ाई है। उसके बाद क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पाँचवें देवलोक के पास चौड़ाई पाँच राजू और उसके बाद क्रमशः घटते-घटते अंतिम भाग में एक राजू चौड़ाई है। संपूर्ण लोक की लंबाई चौदह राजू और अधिकतम चौड़ाई सात राजू तथा अल्पतम चौड़ाई एक राजू है।

यह लोक त्स और स्थावर जीवों से खचाखच भरा हुआ है। त्स जीव तो त्सनाड़ी में ही रहते हैं लेकिन स्थावर जीव त्स और स्थावर दोनों ही नाड़ियों में रहते हैं। लोक के ऊपर से नीचे तक चौदह राजू लंबे और एक राजू चौड़े ठीक बीच के आकाश प्रदेशों को त्सनाड़ी कहते हैं और शेष लोक स्थावरनाड़ी कहलाता है।

इस चौदह राजू ऊँचे तथा अधिकतम सात राजू और न्यूनतम एक राजू लंबे-चौड़े लोक की घनाकार कल्पना की जाय तो सात राजू ऊँचाई, सात राजू लंबाई और सात राजू चौड़ाई होगी। क्योंकि समस्त लोक के एक-एक राजू प्रमाण टुकड़े किये जायें तो ३४३ टुकड़े होते हैं। उनमें से अधोलोक के १६६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू हैं और इनका घनमूल ७ होता है। अतः घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है और घनराजू ३४३ होते हैं।

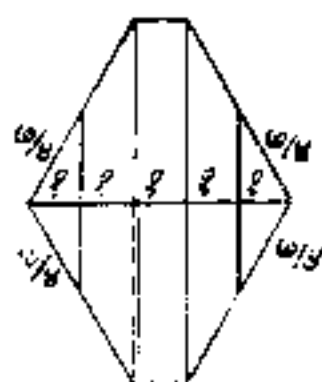
इसके समीकरण करने की रीति इस प्रकार है—अधोलोक के नीचे का विस्तार सात राजू है और दोनों ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊँचाई पर मध्य लोक के पास वह एक राजू शेष रहता है। इस अधोलोक के बीच में से दो समान भाग करके यदि दोनों भागों को उलटकर बराबर-बराबर रखा जाये तो उसका विस्तार नीचे की ओर

तथा ऊपर की ओर चार-चार राजू होता है किंतु ऊँचाई सर्वत्र सात राजू ही रहती है। जैसे—

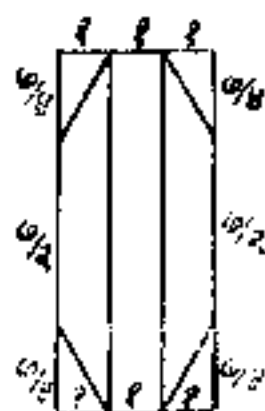


इस अधोलोक के बीच से दो खण्ड यह आकार होता है
करके दोनों भागों को उलट कर
रखने पर

अधोलोक का समीकरण करने के बाद अब ऊर्ध्वलोक का समीकरण करते हैं। ऊर्ध्वलोक मध्यभाग में पूर्व पश्चिम ५ राजू चौड़ा है। उसमें से मध्य के तीन राजू क्षेत्र को ज्यों का त्यों छोड़कर दोनों ओर से एक-एक राजू के चौड़े और साढ़े तीन साढ़े तीन राजू के ऊँचे दो त्रिकोण खंड लें। उन दोनों खंडों को मध्य से विभक्त करने पर चार त्रिकोण खंड हो जाते हैं। जिनमें से प्रत्येक खंड की भुजा एक राजू और कोटि पौने दो राजू होती है। इन चारों खंडों को उलटा सीधा करके उनमें से दो खंड ऊर्ध्वलोक के अधोभाग में दोनों ओर और दो खंड उसके ऊर्ध्वभाग के दोनों ओर मिला देना चाहिये। ऐसा करने पर ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई में तो अन्तर नहीं पड़ता किन्तु उसका विस्तार सर्वत्र तीन राजू हो जाता है। उक्त कथन का रूप इस प्रकार होगा—



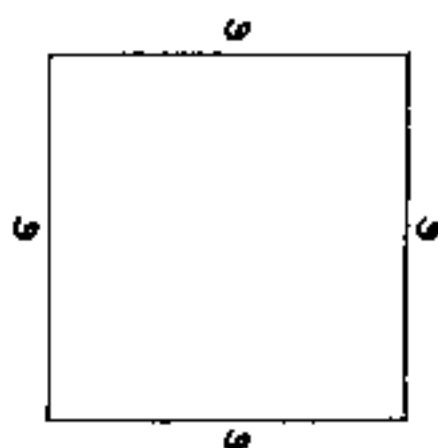
इस ऊर्ध्वलोक के मध्य के
दोनों कोनों को अलग करके
ऊपर और नीचे की ओर



इस तरह मिलाने

ऊर्ध्वलोक के उक्त नये आकार को अधोलोक के नये आकार के साथ मिला देने पर सात राजू चौड़ा, सात राजू ऊँचा और सात राजू मोटा चौकोर क्षेत्र हो जाता है। अतः ऊँचाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों सात-सात राजू होने के कारण लोक सात राजू का घनरूप सिद्ध होता है। जो इस प्रकार है—

यद्यपि लोक वृत्त है और यह घन समचतुरस्र होता है। अतः इसका वृत्त करने के लिये उसे १६ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिये। तब वह कुछ कम सात राजू लम्बा, चौड़ा, गोल सिद्ध होता है। लेकिन व्यवहार में सात राजू का समचतुरस्रघन लोक समझना चाहिये।



इस प्रकार से लोक का स्वरूप बतलाने के बाद अब श्रेणि और

प्रतर का स्वरूप स्पष्ट करते हैं । सात राजू^१ लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणि^२ कहते हैं । जहाँ कहीं भी श्रेणि के अस्-
ख्यातवें भाग का कथन किया जाये, वहाँ इसी श्रेणि को लेना चाहिये ।

श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते हैं अर्थात् श्रेणि में जितने प्रदेश हैं, उनको उतने ही प्रदेशों से गुणा करने पर प्रतर का प्रमाण आता है । समान दो संख्याओं का आपस में गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस संख्या का वर्ग कहलाता है । जैसे ७ का ७ से गुणा करने पर उसका वर्ग ४९ होता है । अथवा सात राजू लम्बी और सात राजू चौड़ी एक-एक प्रदेश की पंक्ति को प्रतर कहते हैं ।

प्रतर (वर्ग) और श्रेणि को परस्पर में गुणा करने पर घन का प्रमाण होता है । अर्थात् समान तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर घन होता है । जैसे $७ \times ७ \times ७ = ३४३$, यह ७ का घन होता है ।

इस प्रकार श्रेणि, प्रतर और घन लोक का प्रमाण समझना चाहिये ।

प्रदेशबंध का सविस्तार वर्णन करने के साथ ग्रंथकार द्वारा 'नमिय जिणं ध्रुवबंधा' आदि पहली गाथा में उल्लिखित विषयों का वर्णन किया जा चुका है । अब उसी गाथा में 'य' (च) शब्द से जिन उपशम-श्रेणि, क्षपकश्रेणि का ग्रहण किया गया है, अब उनका वर्णन करते हैं । सर्व प्रथम उपशमश्रेणि का कथन किया जा रहा है ।

१ त्रिलोकसार गाथा ७ में राजू का प्रमाण श्रेणि के सातवें भाग बतलाया है—
'जगसेदिसत्तभागो रज्जु ।' तथा प्रव्यलोकप्रकाश में प्रमाणांगुल से निष्पन्न असख्यात कोटि-कोटि योजन का एक राजू बतलाया है—प्रमाणांगुल-
निष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः । असंख्यकोटीकोटीभिरकारज्जुः प्रकीर्तिता ॥
सर्ग १।६४ ।

२ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिः ।
—सर्वापसिद्ध

उपशमश्रेणि

अण्वंसनपुंसित्थीवेयस्यकं च पुरिसवेयं च ।

दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेह ॥६८॥

वाक्यार्थ—अण्वंसनपुंसित्थीवेय—अनंतानुबंधी कषाय, दर्शन-
मोहनीय, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, स्यकं—हास्यादि षट्क, च—तथा,
पुरिसवेयं—पुरुष वेद, च—और, दो दो—दो दो, एगंतरिए—एक
एक के अन्तर से, सरिसे सरिसं—सदृश एक जैसी, उवसमेह—उप-
शमित करता है ।

गाथार्थ—(उपशमश्रेणि करने वाला) पहले अनंतानु-
बंधी कषाय का उपशम करता है, अनन्तर दर्शन मोहनीय का
और उसके पश्चात् क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादि
षट्क व पुरुषवेद और उससे बाद एक-एक (संज्वलन) कषाय
का अन्तर देकर दो-दो सदृश कषायों का एक साथ उपशम
करता है ।

विशेषार्थ—आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारंभ होती हैं—
उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि ।

ग्रंथकार ने गाथा में उपशमश्रेणि का स्वरूप स्पष्ट किया है कि
उपशमश्रेणि के आरोहक द्वारा किस प्रकार प्रकृतियों का उपशम
किया जाता है । संक्षेप में उपशमश्रेणि का स्वरूप इस प्रकार है
कि जिन परिणामों के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा
उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामों की धारा
को उपशमश्रेणि कहते हैं । इस उपशमश्रेणि का प्रारम्भक
अप्रमत्त संयत ही होता है और उपशमश्रेणि से गिरने वाला अप्रमत्त
संयत, प्रमत्त संयत, देशविरति या अविरति में से भी कोई हो सकता
है । अर्थात् गिरने वाला अनुक्रम से चौथे गुणस्थान तक आता है और

वहाँ से गिरे तो दूसरे और उससे पहले गुणस्थान को भी प्राप्त करता है।

उपशमश्रेणि के दो भाग हैं—(१) उपशम भाव का सम्यक्त्व और (२) उपशम भाव का नारिद्र। इनमें से नारिद्र मोहनीय का उपशमन करने के पहले उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में ही प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों को सातवें में ही उपशमित किया जाता है, जिससे उपशमश्रेणि का प्रस्थापक अप्रमत्त संयत ही है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मतव्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती कोई भी अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करता है और दर्शनविक आदि को तो संयम में बर्तने वाला अप्रमत्त ही उपशमित करता है। उसमें सबसे पहले अनंतानुबंधी कषाय को उपशान्त किया जाता है और दर्शनविक का उपशमन तो संयमी ही करता है। इस अभिप्राय के अनुसार चौथे गुणस्थान से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अनंतानुबंधी कषाय के उपशमन का वर्णन इस प्रकार है कि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरण में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है। जिसके कारण शुभ प्रकृतियों में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग की हानि होती है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है।

उक्त अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इस करण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और

अपूर्व स्थितिबंध, ये पांचों कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय में कर्मों की जो स्थिति होती है, स्थितिघात के द्वारा उसके अंतिम समय में वह संख्यातगुणी कम कर दी जाती है। रसघात के द्वारा अशुभ प्रकृतियों का रस क्रमशः क्षोण कर दिया जाता है। गुणश्रेणि रचना में प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रति समय कुछ दलिक ले-लेकर उदयावली के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में उनका निक्षेप कर दिया जाता है। दलिकों का निक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि पहले समय में जो दलिक लिये जाते हैं, उनमें से सबसे कम दलिक प्रथम समय में स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समय में, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयों में भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है।

गुणश्रेणि की रचना का क्रम पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि पहले समय में ग्रहण किये जाने वाले दलिक थोड़े होते हैं और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण किया जाता है तथा दलिकों का निक्षेप अविशिष्ट समयों में ही होता है, अन्तर्मुहूर्त काल से ऊपर समयों में निक्षेप नहीं किया जाता है। इसी दृष्टि और क्रम को यहां भी समझना चाहिये कि पहले समय में ग्रहीत दलिक अल्प हैं, अनन्तर दूसरे आदि समयों में वे असंख्यातगुणे हैं और उन सबकी रचना अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण समयों में होती है। काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त से आगे नहीं बढ़ता है।

गुणसंक्रम के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनंतानुबंधी आदि अशुभ प्रकृतियों के थोड़े दलिकों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है

और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थितिबंध भी अपूर्व अर्थात् बहुत थोड़ा होता है।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समय से ही स्थितिघात आदि अपूर्व स्थिति-बंध पर्यन्त पूर्वोक्त पांचों कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें से संख्यात भाग बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनंतानुबन्धी कषाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषेकों को छोड़कर शेष निषेकों का भी पूर्व में बताये मिथ्यात्व के अन्तरकरण की तरह इनका भी अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहां से उठाकर बंधने वाली अन्य प्रकृतियों में स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकरण के प्रारंभ होने पर दूसरे समय में अनंतानुबन्धी कषाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है। यह उपशम पहले समय में थोड़े दलिकों का होता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक क्रमशः असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इतने समयों में संपूर्ण अनंतानुबन्धी कषाय का उपशम हो जाता है और यह उपशम इतना सुदृढ़ होता है कि उदय, उदीरणा, निवृत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाता है। यही अनंतानुबन्धी कषाय का उपशम है।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मानना है कि अनंतानुबन्धी कषाय का उपशम नहीं होता है किन्तु विसंयोजन होता है। इस मत का उल्लेख कर्मप्रकृति (उपशमकरण) गा० ३१ में किया गया है —

चउगहया पञ्जसा तिल्लिं सधंयणा भिजोयंते ।

करणेहि तीहि सहिया नंतरकरणं उवसमो वा ।

चौथे, पांचवें तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति के पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन करते हैं । किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता और न अनन्तानुबंधी का उपशम ही होता है ।

अनंतानुबंधी का उपशम करने के बाद दर्शनमोहनीयत्रिक—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है । इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि ही करता है । मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है । किन्तु उपशम श्रेणि में यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता लेकिन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है । क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का संपूर्णतया उपशम होता है । इसीलिये यहां दर्शनत्रिक का उपशमक वेदक सम्यग्दृष्टि को माना है ।^१

१ दर्शनमोह के उपशम के संबंध में कर्मप्रकृति का मतव्य इस प्रकार है—

अहंथा दमणमोहं पुब्बं उवसामहसु सामग्ने ।

पक्कमठिइमावलियं करेइ दोण्हं अणुदियाणं ॥३३

अट्ठापरिवित्ताऊ पमत्त दधरे सहस्ससो किच्चा ।

करणाणि तिल्लि कुणए तइयत्तिसेसे इमे सुणसु ॥३४

यदि वेदक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि चकता है तो पहले नियम से दर्शन-मोहनीयत्रिक का उपशम करता है और इतनी विशेषता है कि अन्तरकरण करते हुए अनुदित मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति को आवलिका प्रमाण और सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति को अन्त-
(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार से अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनत्रिक का उपशमन करने के बाद चारित्र्यमोहनीय के उपशमन का क्रम प्रारंभ होता है ।

चारित्र्यमोहनीय का उपशमन करने के लिये पुनः यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है । लेकिन इतना अंतर है कि सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है, अपूर्वकरण अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में होता है । यहां भी स्थितिघात आदि कार्य होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृति का गुणसंक्रमण होता है जिसके संबन्ध में वे परिणाम होते हैं । किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान में संपूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है ।

अपूर्वकरण के काल में से संख्यातवां भाग बीत जाने पर निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—का बंधविच्छेद होता है । उसके बाद और काल बीतने पर सुरद्विक, पंचेन्द्रियजाति आदि तीस प्रकृतियों का तथा अंतिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बंधविच्छेद होता है ।^१

मुहूर्त प्रमाण करता है । उपशमन करके प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान में हजारों बार आवागमन करके चारित्र्यमोहनीय की उपशमना के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है । तीसरे अनिवृत्तिकरण की विशेषता का कथन आगे की गाथाओं में किया गया ।

१ अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

अडक्क अणुक्काइमि निद्दुगंतो छप्पन्न पणभागे ।

सुरदुग पणिदि सुखगइ तसन्नव उरलविणु तणुवंगा ॥

समच्चर निमिण जिण वण्णअगुरुलह्वउ छलंसि तीसतो ।

चरमे छवीसबंधो हासरईकुच्छमयमेओ ।

—द्वितीय कर्मग्रन्थ भा० ६० १०

इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात भाग द्योत जाने पर चारित्र्यमोहनोप की इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। जिन कर्मप्रकृतियों का उस समय बंध और उदय होता है उसके अन्तरकरण संबन्धी दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है। जैसे कि पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेद का। जिन कर्मों का उस समय केवल उदय ही होता है और बंध नहीं होता है, उनके अन्तरकरण संबन्धी दलिकों को प्रथम स्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति में नहीं। जैसे कि स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला स्त्रीवेद का। जिन कर्मों का उदय नहीं होता किन्तु उस समय केवल बंध ही होता है, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। जैसे कि संज्वलन क्रोध के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला शेष संज्वलन कषायों का, किन्तु जिन कर्मों का न तो बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण संबन्धी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है। जैसे कि द्वितीय और तृतीय कषाय का।

उक्त चतुर्भंगी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. जिन कर्मों का उस समय बंध और उदय होता है, उनके दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।
२. जिन कर्मों का उस समय उदय ही होता है, उनको प्रथम स्थिति में ही क्षेपण किया जाता है।
३. जिन कर्मों का उस समय बंध ही होता है, उनके दलिकों को द्वितीय स्थिति में क्षेपण किया जाता है।
४. जिन कर्मों का न तो उदय और न बंध ही होता है, उनके दलिकों को अन्य प्रकृतियों में क्षेपण किया जाता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में मपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है और जब संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय में संज्वलन क्रोध के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है। संज्वलन मान की प्रथमस्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन मान में प्रक्षेप नहीं किया जाता किन्तु संज्वलन माया आदि में किया जाता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन मान के बन्ध,

उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्वलन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका में बांधे गये ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिकों को छोड़कर शेष दलिकों का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में संज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय में संज्वलन मान के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनों माया का एक साथ उपशम करना प्रारम्भ करता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नहीं करता किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन माया के बन्ध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और समय कम दो आवलिका में बांधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में संज्वलन माया का उपशम करता है।

जब संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके उनमें से दो भाग

प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम विभाग में पूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है अर्थात् पहले के स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उन्हें अत्यन्त रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है अर्थात् उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अन्त समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में संज्वलन लोभ के बन्ध का विच्छेद होता है। इसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अंत हो जाता है।

इसके बाद दसवां सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय के काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और एक समय कम दो आवलिका में बंधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्मसंपराय के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय में ग्यारहवां गुणस्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।^१

१ लब्धिसार (दिगम्बर साहित्य) गा० २०५-२६१ में उक्त वर्णन से मिलता जुलता उपशम का विधान किया गया है। किन्तु उसमें अनन्तानुबन्धी के उपशम का विधान न करके विसंयोजन को माना है—

उपशमचारिणाहिमुहा वेदशसम्भो अणं विद्योजित्ता ॥ २०५

अर्थात् उपशम चारित्र्य के अभिमुख वेदक सम्प्रगृह्य अन्तानुबन्धी का विसंयोजन करके.....।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि संश्रकार विसंयोजन का ही पक्षपाती है।

यद्यपि उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परन्तु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गंदले पानी में फिट-फटो आदि डालने से पानी की सतह उसके तले में बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गन्दगी ज्यों की त्यों बनी रहती है। वैसे ही उपशम श्रेणि में जीव के भावों को कलुषित करने वाला प्रधान कर्म मोहनीय शांत कर दिया जाता है। अपूर्वकरण आदि परिणाम जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे मोहनीय कर्म की धूलि स्फी उत्तर प्रकृतियों के कण एक के बाद एक उत्तरोत्तर शांत हो जाते हैं। इस प्रकार से उपशम को गई प्रकृतियों में न तो स्थिति और अनु-भागको कम किया जा सकता है और न बढ़ाया जा सकता है। न उनका उदय या उद्घोरणा हो सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृति रूप ही किया जा सकता है।^१ किन्तु यह उपशम तो अन्तर्मुहूर्त काल के लिये किया जाता है। अतः दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशम हुई कषायें अपत्ता उद्रेक कर बैठती हैं। जिसका फल यह होता है कि उपशम श्रेणि का आरोहक जीव जिस क्रम से ऊपर चढ़ा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है और उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। उपशांत कषाय वाले जीव का पतन अवश्यंभावी है। इसी बात को आवश्यक नियुक्ति गीथा ११८ में स्पष्ट किया है कि—

१ अन्यत्राप्युक्तं—'उपसतं कम्मं ज न तओ कडेइ न देइ उदाए वि ।

न य समयइ परपगइ' न चेव उक्कइदाए तं तु ॥

उपशमं उदणीया गुणभङ्ग्या जिघ्रक्षरिससरिसंघि ।

पञ्चिवायंति कसाया कि पुण सेसे सरागण्य ॥

गुणवान् पुरुष के द्वारा उपशान्त की गई कथायें जिन भगवान् सरीखे चारित्र्य वाले व्यक्ति का भी पतन करा देती हैं, फिर अन्य सरागी पुरुषों का तो कहना ही क्या है ?

अतः ज्यों-ज्यों नीचे उतरता जाता है, वैसे-वैसे चढ़ते समय जिस-जिस गुणस्थान में जिन-जिन प्रकृतियों का बंधविच्छेद किया था, उस-उस गुणस्थान में आने पर वे प्रकृतियाँ पुनः बंधने लगती हैं ।

उतरते-उतरते वह सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है और यदि वहाँ भी अपने को संभाल नहीं पाता है तो पांचवें और चौथे गुणस्थान में पहुँचता है । यदि अनंतानुबंधी का उदय आ जाता है तो साक्षादन सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व में पहुँच जाता है । और इस तरह सब किया कराया चौपट हो जाता है ।

लेकिन यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि यदि पतनोन्मुखी उपशम श्रेणि का आरोहक छठे गुणस्थान में आकर संभल जाता है तो पुनः उपशम श्रेणि चढ़ सकता है । क्योंकि एक भव में दो बार उपशम श्रेणि चढ़ने का उल्लेख पाया जाता है ।^२ परन्तु जो जीव दो बार

१ अढाखये पडंतो अधापवत्तोत्ति पढदि हु कमेण ।

सुज्झंतो आरोहदि पढदि हु सो संकिलिस्संतो ॥

—सन्धिसार गा० ३१०

जीव उपशम श्रेणि में अधःकरण पर्यन्त तो क्रम से गिरता है । यदि उसके बाद विशुद्ध परिणाम होते हैं तो पुनः ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है और संक्लेश परिणामों के होने पर नीचे के गुणस्थानों में आता है ।

२ एकभवे दुक्खुतो वरित्तमोहं उवसमेज्जा ।

—कर्मप्रकृति गा० ६४

—पंचसंग्रह गा० ६३ (उपशम)

उपशमश्रेणि चढ़ता है, वह जीव उसी भव में क्षपकश्रेणि का आरोहण नहीं कर सकता । जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह कर्म-ग्रन्थिक मतानुसार दूसरी बार क्षपक श्रेणि भी चढ़ सकता है ।^१ सैद्धांतिक मतानुसार तो एक भव में एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ता है ।^२

इस प्रकार सामान्य रूप से उपशम श्रेणि का स्वरूप बतलाया गया है । अब तत्संबंधी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है ।

गाथा में उपशमश्रेणि के आरोहण क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले जीव की अपेक्षा से बतलाया गया है । यदि स्त्रीवेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले नपुंसक वेद का उपशम करता है और फिर क्रम से पुरुषवेद, हास्यादि षट्क और स्त्रीवेद का उपशम करता है । यदि नपुंसक वेद के उदय से कोई जीव श्रेणि चढ़ता है तो वह पहले स्त्रीवेद का उपशम करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, हास्यादि षट्क का और नपुंसक वेद का उपशम करता है । सारांश यह है कि जिस वेद के उदय से श्रेणि चढ़ता है उस वेद का उपशम सबसे पीछे करता है । इसी बात को विशेषावश्यक भाष्य गा० १२८८ में बताया है कि—

१ उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—जो दुवे वारे उवसमसेहि पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेही नत्थि । जो इक्कसि उवसमसेहि पडिवज्जइ तस्स खवगसेही हुज्ज सि ।

—पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टी०, पृ० १३२

२ तम्मि भवे निव्वणं न लभइ उक्कोसओ व संसार ।

पोगलपरियट्ठं देसूणं कोइ हिउज्जा ।।

—विशेषावश्यक भाष्य १३१५

उपशम श्रेणि से गिरकर मनुष्य उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता और कोई-कोई तो अधिक से अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

ततो य दंसणतिगं सओऽणुदण्णं जहन्नयरवेयं ।

ततो बीयं छक्कं तओ य वेयं सममुविन्नं ॥

अर्थात् अनन्तानुबन्धा का उपशमना के पश्चात् दर्शनादिक का उपशम करता है, उसके बाद अनुदीर्ण दो वेदों में से जो वेद हीन होता है, उसका उपशम करता है । उसके बाद दूसरे वेद का उपशम करता है । उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम करता है और तत्पश्चात् जिस वेद का उदय होता है, उसका उपशम करता है ।

कर्मप्रकृति उपशमनाकरण गा० ६५ में दस क्रम को इस प्रकार बतलाया है कि—

उदयं वज्जिय इत्थी इत्थिं समण्ड अय्यया सत्त ।

तह वरिसवरो वरिसवरित्थिं समगं कमारुद्धे ॥

यदि स्त्री उपशमश्रेणि पर चढ़ती है तो पहले नपुंसकवेद का उपशम करती है, उसके बाद चरम समय मात्र उदय स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष सभी दलिकों का उपशम करती है । उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियों का उपशम करती है । यदि नपुंसक उपशम श्रेणि पर चढ़ता है तो एक उदय स्थिति को छोड़कर शेष नपुंसक वेद का तथा स्त्रीवेद का एक साथ उपशम करता है । उसके बाद अवेदक होने पर पुरुषवेद आदि सात प्रकृतियों का उपशम करता है ।^१

उपशम श्रेणि का आरंभक सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव है और अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, मिथ्यात्व और सध्यगमिथ्यात्व का उपशम करने पर सातवां गुणस्थान होता है । क्योंकि इनके उदय होते हुए सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

१ लब्धिमार में भी कर्मप्रकृति के अनुरूप ही विधान किया गया है । देखो गाथा ३६१, ३६२ ।

उपशम श्रेणि में भी अनन्तानुबन्धी आदि का उपशम किया जाता है। अतः ऐसी दशा में पुनः उपशम श्रेणि में उनका उपशम बतलाने का कारण यह है कि वेदक सम्यक्त्व, देशचारित्र और सकलचारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियों के क्षयोपशम से होती है। अतः उपशम श्रेणि का प्रारंभ करने से पहले उक्त प्रकृतियों का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम। इसीलिये उपशम श्रेणि में अनन्तानुबन्धी आदि के उपशम को बतलाया है।

उपशम और क्षयोपशम में अन्तर

इसी प्रसंग में उपशम और क्षयोपशम का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि क्षयोपशम उदय में आये हुए कर्मदलिकों के अय और सत्ता में विद्यमान कर्मों के उपशम से होता है। परन्तु क्षयोपशम की इतनी विशेषता है कि उसमें घातक कर्मों का प्रदेशोदय रहता है और उपशम में किसी भी तरह का उदय नहीं होता है अर्थात् न तो प्रदेशोदय और न रसोदय। क्षयोपशम में प्रदेशोदय होने पर भी सम्यक्त्व आदि का घात न होने का कारण यह है कि उदय दो प्रकार का है—फलोदय और प्रदेशोदय। लेकिन फलोदय होने से गुण का घात होता है और प्रदेशोदय के अत्यन्त मंद होने से गुण का घात नहीं होता है। इसीलिये उपशम श्रेणि में अनन्तानुबन्धी आदि का फलोदय और प्रदेशोदय रूप दोनों प्रकार का उपशम माना जाता है।

उपशम श्रेणि का प्रारम्भक माने जाने के सम्बन्ध में मतान्तर भी है। कई आचार्यों का कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्त-विरत और अप्रमत्तविरत में से कोई एक उपशम श्रेणि चढ़ता है और कोई सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को आरम्भक मानते हैं।

इस मतभिन्नता का कारण यह है कि जो आचार्य दर्शनमोहनीय के उपशम से अर्थात् द्वितीय उपशमसम्यक्त्व के प्रारम्भ से ही उपशम

श्रेणि का प्रारम्भ मानते हैं वे चौथे आदि गुणस्थानवर्ती जीवों को उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं । क्योंकि उपशम सम्यक्त्व चौथे आदि चार गुणस्थानों में ही प्राप्त किया जाता है । लेकिन जो आचार्य चारित्रमोहनीय के उपशम से यानी उपशम चारित्र की प्राप्ति के सिद्ध किये गये प्रयत्नों से उपशम श्रेणि का प्रारम्भ मानते हैं, वे सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव को ही उपशम श्रेणि का प्रारम्भक मानते हैं, क्योंकि सातवें गुणस्थान में ही यथाप्रवृत्तकरण होता है ।^१

उपशम श्रेणि के आरोहण का क्रम अगले पृष्ठ ३८७ पर देखिये ।

इस प्रकार से उपशम श्रेणि का स्वरूप जानना चाहिये । अनन्तर अब क्रमप्राप्त क्षपक श्रेणि का वर्णन करते हैं ।

क्षपक श्रेणि

अणमिच्छमोससम्मं तिआउ इगधिगलथीणतिगुज्जोवं ।
तिरिनयरथावरदुगं साहारायवअडनपुत्थीए ॥६६॥
छगपुं संजलवावोनिह्विग्घवरणक्खए नाणी ।

शब्दार्थ—अण—अनंतानुबन्धी कषाय, मिच्छ—मिथ्यात्व मोहनीय, मोस—मिश्र मोहनीय, सम्म—सम्यक्त्व मोहनीय, तिआउ—तीन आयु, इगधिगल—एकेन्द्रिय, त्रिकेलेन्द्रिय, थोणतिग—स्त्यानद्विचिक, उज्जोवं—उद्योत नाम, तिरिनयरथावरदुगं—तिर्यचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साहारायव—साधारण नाम, आतप नाम, अड—आठ कषाय, नपुत्थीए—नपुंसक वेद और स्त्री-वेद ।

छग—हास्यादि षट्क, पुं—पुरुष वेद, संजलण—संज्वलन कषाय, वोनिह्वि—दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), विग्घवरणक्खए—

१ दिगम्बर संप्रदाय में दूसरे मत को ही स्वीकार किया है ।

		उपशमन		
		संज्वलन लोभ २८		
अप्रत्याख्यानावरण लोभ २६			प्रत्याख्यानावरण लोभ २७	
संज्वलन माया २५				
अप्रत्याख्याना० माया २३			प्रत्याख्याना० माया २४	
संज्वलन मान २२				
अप्रत्याख्याना० मान २०			प्रत्याख्याना० मान २१	
संज्वलन क्रोध १६				
अप्रत्याख्याना० क्रोध १७			प्रत्याख्याना० क्रोध १८	
		पुरुष वेद १८		
		हास्यादि षट्क १५		
		स्त्रीवेद ८		
		नपुंसक वेद ८		
मिथ्यात्व ५, मिथ्य ६, सम्यक्त्व मोह० ७				
अनन्तानुबन्धी क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४				

पाँच अंतराय, पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण के क्षय होने पर, नाणो — केवलज्ञानी ।

गाथार्थ—(क्षपक श्रेणि वाला) अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिथ्य मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानद्वित्रिक, उद्योत नाम, तिर्य्यचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुंसक वेद, स्त्री-वेद तथा—

हास्यादि षट्क, पुरुष वेद, संज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पाँच अंतराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, इन प्रकृतियों का क्षय करके जीव केवलज्ञानी होता है ।

विशेषार्थ—क्षपक श्रेणि का आरोहक जिन प्रकृतियों को क्षय करता है, उनके नाम गाथा में बतलाये हैं । उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में यह अन्तर है कि इन दोनों श्रेणियों के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते हैं लेकिन उपशम श्रेणि में तो प्रकृतियों के उदय को शांत किया जाता है, प्रकृतियों की मत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिये अपना फल नहीं दे सकती हैं, किन्तु क्षपक श्रेणि में उनकी सत्ता ही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उनके पुनः उदय होने का भय नहीं रहता है । इसी कारण क्षपक श्रेणि में पतन नहीं होता है । उक्त कथन का सारांश यह है कि उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि दोनों का केन्द्रदिन्दु मोहनीय कर्म है और उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म का उपशम होने से पुनः उदय हो जाता है । जिससे पतन होने पर की गई पारिणामिक शुद्धि व्यर्थ हो जाती है । किन्तु क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म का समूल क्षय होने से पुनः उदय नहीं होता है और उदय न होने से पारिणामिक शुद्धि पूर्ण

होकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और केवल-
ज्ञानी हो जाती है ।

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में दूसरा अंतर यह है कि उप-
शम श्रेणि में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही उपशम होता
है लेकिन क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के साथ नामकर्म
की कुछ प्रकृतियों व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म की प्रकृ-
तियों का भी क्षय होता है ।

क्षपक श्रेणि में प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है—

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे,
पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारंभ
करता है ।^१ सबसे पहले वह अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का एक साथ
क्षय करता है और उसके शेष अनंतर्वे भाग को मिथ्यात्व में स्थापन
करके मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ नाश करता है । उसके
बाद इस प्रकार क्रमशः सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का
क्षय करता है ।^२

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह
जाती है तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी

१ पडिवसीए अविरयदेमपमत्तापमत्तविरयाणं ।

अन्नयरो पडिवज्जइ सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३२१

दिगम्बर संप्रदाय में उपशम श्रेणि के आरोहक की तरह क्षपक
श्रेणि के आरोहक को सप्तम गुणस्थानवर्ती माना है । क्योंकि चारित्र्य-
मोहनीय के क्षपण से ही क्षपक श्रेणि मानी है ।

२ पढमकसाए समय खवेइ अंतोमुहत्तमेत्तेणं ।

तत्तो च्चिय मिच्छसं तओ य मोसं तओ सम्य ॥

—विशेषावश्यक भाष्य १३२२

रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खण्ड कर-करके खपाता है। जब उसके अंतिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।^१

यदि क्षपक श्रेणि का प्रारंभ बद्धायु जीव करता है और अनन्तानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण हो तो उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुनः अनन्तानुबंधी का बंध करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबंधी नियम से बंधती है,^२ किन्तु

१ लब्धिसार (विश्वम्भर चम्ब) में दर्शनमोहनीय की क्षपण के बारे में लिखा है—

दंशणमोहक्षवणपट्टवगो कम्मभूमिजो भणुसो ।
तिथयरपादमूले केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥
णिट्टवगो तट्टाणे विमाणभोगावणीसु धम्मेष ।
किदकरणिज्जो चट्टुसुवि गदीसु उप्पज्जदे जम्हा ॥१११॥

कर्मभूमिज मनुष्य तीर्थंकर, केवली अथवा श्रुतकेवली के पाद-मूल में दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भ करता है। अक्षरण के प्रथम समय से लेकर जब तक मिथ्यात्व मोहनीय और मिथ मोहनीय का द्रव्य सम्भव प्रकृति रूप संक्रमण करता है तब तक के अन्तर्मुहूर्त काल को दर्शनमोह के क्षपण का प्रारम्भिक काल कहा जाता है और उस प्रारम्भ काल के अनन्तर समय से लेकर क्षायिक सम्भवत्व की प्राप्ति के पहले समय तक का काल निष्ठापक कहलाता है। निष्ठापक तो जहाँ प्रारम्भ किया या वहाँ ही अथवा वैमानिक देवों में अथवा भोगभूमि में अथवा धर्मा नाम के प्रथम नरक में होता है। क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्पादष्टि मरण करके चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

२ बद्धाउ पडिवधो पढमकसायकखए जइ मरेज्जा ।
तो मिच्छसोदयओ विणिज्ज भूज्जो न खीणम्मि ॥

— विरोधावश्यक भाष्य १३२३

मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर पुनः अनंतानुबंधी का बंध नहीं होता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता है तो अनंतानुबंधी कषाय और दर्शनमोह का क्षय करने के बाद वह वहीं ठहर जाता है, चारित्र्यमोहनीय के क्षय करने का प्रयत्न नहीं करता है। यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। अतः अबद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त करने वाले मनुष्य के तीन आयु—देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु का अभाव तो स्वतः ही हो जाता है तथा पूर्वोक्त क्रम से अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानों में कर देता है।

इस प्रकार दर्शनमोहसप्तक का क्षय करने के पश्चात् चारित्र्यमोहनीय का क्षय करने के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है। अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी स्थिति फल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जाने पर—स्थान-द्वित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक ये चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और याधारण, इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति उद्बलना संक्रमण के द्वारा उद्बलना होने पर फल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है और उसके बाद गुणसंक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारंभ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक वे क्षीण नहीं होती हैं कि अंतराल

में पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का क्षपण किया जाता है और उनके क्षय के पश्चात् आठ कषायों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है ।^१

उसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार संञ्चलन कषायों में अन्तर-करण करता है । फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायों का क्षपण करता है और उसके बाद पुरुषवेद के तीन खंड करके दो खण्डों का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को संञ्चलन क्रोध में मिला देता है ।

उक्त क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले के लिये बताया है । यदि स्त्री श्रेणि पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्री-वेद का क्षपण करती है यदि नपुंसक श्रेणि आरोहण करता है तो वह पहले स्त्रीवेद का क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुंसक वेद का क्षपण करता है ।^१ सारांश यह है कि

१ किसी-किसी का मत है कि पहले सोलह प्रकृतियों के ही क्षय का प्रारम्भ करता है और उनके मध्य में आठ कषायों का क्षय करता है, पश्चात् सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है । गो० कर्मकांड में इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख इस प्रकार किया है—

नष्टिम् अणं उवसमगे खवगापुश्वं खवित्तु अट्टा य ।

पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइ णिदिट्ठं ॥३६१॥

उपशम श्रेणी में अनंतानुबंधी का सत्त्व नहीं होता और क्षपक अनिवृत्तिकरण पहले आठ कषायों का क्षपण करके पश्चात् सोलह आदि प्रकृतियों का क्षपण करता है, ऐसा कोई कहते हैं ।

२ इत्थीउदए नपुंसं इत्थीवेयं च सत्तगं च कमा ।

अपुमोदयमि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त ॥

— पञ्चसंग्रह ३४६

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

जिस वेद के उदय से श्रेणि आरोहण करता है, उसका क्षपण अन्त में होता है।

वेद के क्षपण के बाद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। यानी संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खंडों का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खंड को संज्वलन मान में मिला देता है। इसी प्रकार मान के तीसरे खंड को माया में मिलाता है और माया के तीसरे खण्ड को लोभ में मिलाता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और श्रेणि काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है।

संज्वलन लोभ के तीन खंड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके चरम खंड के सिवाय शेष खंडों को भिन्न-भिन्न समय में खपाता है और फिर उस चरम खंड के भी असंख्यात खंड करके उन्हें दसवें गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में खपाता है। इस प्रकार लोभ कषाय का पूरी तरह क्षय होने पर अनन्तर समय में क्षीणकषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान के काल के संख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय के सिवाय शेष कर्मों में स्थितिघात आदि पूर्ववत् होते हैं। उसमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अन्तराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला) इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीणकषाय के काल के बराबर करता है किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय

स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर पहले नपुंसक वेद का क्षय होता है, फिर स्त्रीवेद का और फिर पुरुषवेद व हान्यादि षट्क का क्षय होता है। नपुंसक वेद के उदय से श्रेणि चढ़ने पर नपुंसक वेद और स्त्री-वेद का एक साथ क्षय होता है, उसके बाद पुरुषवेद और हास्यषट्क का क्षय होता है।

गो० कर्मकांड गा० ३८८ में भी यही क्रम बताया है।

कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात वगैरह कार्य बन्द हो जाते हैं और शेष प्रकृतियों के होते रहते हैं। क्षीण-कषाय के उपान्त समय में निद्राद्विक का क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियों का अन्तिम समय में क्षय करता है और उसके अनन्तर समय में वह सयोगकेवली हो जाता है।

यह सयोगकेवली अवस्था जघन्य से अन्तर्मूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना, विहार आदि करते हैं। यदि उनके वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है तो उनके समीकरण के लिये यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीय आदि तीन अध्यातिया कर्मों की स्थिति को करने के लिये समुद्घात करते हैं, जिसे केवलीसमुद्घात कहते हैं और उसके पश्चात् योग का निरोध करने के लिये उपक्रम करते हैं। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नहीं करते हैं।

योग के निरोध का उपक्रम इस प्रकार है कि सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते हैं, उसके पश्चात् बादर वचनयोग को रोकते हैं और उसके पश्चात् सूक्ष्मकाय के द्वारा बादर काययोग को रोकते हैं, उसके बाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं। उस ध्यान में स्थितिघात आदि के द्वारा सयोग अवस्था के अन्तिम समय पर्यन्त आयुकर्म के सिवाय शेष कर्मों का अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगि अवस्था के काल के बराबर हो जाती है। यहां इतना विशेष समझना चाहिये

कि अयोगि अवस्था में जिन कर्मों का उदय नहीं होता है, उनकी स्थिति एक समय कम होती है ।

सयोगकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में साता या असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीय, औदारिक, तैजस, कर्मण, छह संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परा-घात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर और निर्माण, इन तीस प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगकेवली हो जाते हैं ।

इस अयोगकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते हैं । यहां स्थितिघात आदि नहीं होता है, अतः जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते हैं, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होता, उनका स्तिबुक-संक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियों में संक्रम करके अयोगि अवस्था के उपांत समय तक वेदन करते हैं और उपांत समय में ७२ का और अंत समय में १३ प्रकृतियों का क्षय करके निराकर, निरंजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।^१

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि का स्वरूप समझना चाहिये । उसका दिग्दर्शक विवरण यह है—

१ क्षपक श्रेणि का विशेष विवरण परिलिख्य में देखिये ।

सिद्ध अवस्था की प्राप्ति

१४८ प्रकृतियों का क्षय

१२/१३ प्रकृतियों का क्षय (१४वें गुणस्थान में)

७२/७३ प्रकृतियों का क्षय (१२वें गुणस्थान में)

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अंतराय ५ = १४ (१२वें गुणस्थान में)

दो निद्रायें २ (१२वें गुणस्थान के उत्पत्ति समय में)

संज्वलन लोभ १ (दसवें गुणस्थान में)

संज्वलन माया १

संज्वलन मान १

संज्वलन क्रोध १

पुरुषवेद १

हास्यादि षट्क ६

स्त्रीवेद १

नपुंसकवेद १

एकेन्द्रिय आदि १६

१४
गुणस्थान
१२

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ,
प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ (दसवें गुणस्थान में)

देव, नरक, तिर्यंच आयु ३

सम्यक्त्व मोहनीय ३

मिश्र मोहनीय २

मिथ्यात्व मोहनीय १

३
२
१
३
गुणस्थान
१४

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ

‘नमिय जिणं ध्रुवबंधोदयसत्ता’ आदि पहली गाथा में जिन विषयों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी, उनका वर्णन करने के पश्चात् ग्रन्थकार अपना और ग्रंथ का नाम बतलाते हुए ग्रंथ को समाप्त करते हैं ।

देविवसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणह्वा ॥१००॥

शब्दार्थ—देविवसूरि—देवेन्द्रसूरि ने, लिहियं-- लिखा, सयगं—शतक नाम का, इण—यह ग्रंथ, आयसरणह्वा—आत्मस्मरण करने, बोध प्राप्त करने के लिये ।

व्याख्यान—देवेन्द्रसूरि ने आत्मा का बोध प्राप्त करने के लिए इस शतक नामक ग्रन्थ की रचना की है ।

विशेषार्थ— उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुये कहते हैं कि इस ग्रंथ का नाम ‘शतक’ है, क्योंकि इसमें सौ गाथायें हैं और उनमें प्रारम्भ में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार वर्ण्य विषयों का वर्णन किया गया है और यह ग्रन्थ स्वस्वरूप बोध के लिए बनाया गया है ।

इस प्रकार पंचम कर्मग्रन्थ की व्याख्या समाप्त हुई ।

परिशिष्ट

१. पंचम कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें
२. कर्मों की बन्ध, उदय, सत्ता प्रकृतियों की संख्या में भिन्नता का कारण
३. मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बन्ध
४. कर्म प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध,
५. आगुर्कर्म के अबाधाकाल का स्पष्टीकरण
६. योगस्थानों का विवेचन
७. ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों को कर्म प्रकृतियों में विभाजित करने की रीति
८. उत्तर प्रकृतियों में पुद्गलद्रव्य के वितरण तथा हीनाधिकता का विवेचन
९. पत्थों को भरने में लिए जाने वाले बालाग्रों के बारे में अनुयोग-द्वारा सूत्र आदि का कथन
१०. दिगम्बर साहित्य में पत्थोपम का वर्णन
११. दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परावर्तों का वर्णन
१२. उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का गो० कर्मकांड में आगत वर्णन
१३. गुणश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१४. क्षपक श्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण
१५. पंचम कर्मग्रन्थ की गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

परिशिष्ट-१

पंचम कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें

नमिय जिणं धुवबंधोदयसत्ताचाइपुत्तपरियत्ता ।
 सेयर चउहविवागा वुच्छं बन्धविह सामी य ॥१॥
 वन्नचउतेयकम्मागुरुलहु निमणोवघाय भयकुच्छा ।
 मिच्छकसायावरणा विण्णं धुवनेत्ति सगच्छता ॥२॥
 तणुबंगागिइसंघयण जाइगइखगइपुव्विजिणुसारं ।
 उज्जोयायवपरघा तसवीसा गोय वेयणियं ॥३॥
 हासाइजुयलदुगवेय आउ तेवुत्तारी अधुवबंधा ।
 भंगा अणाइसाई अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥४॥
 पढमविया धुवउदइसु धुवबंधिसु तइअवज्जभंगतिगं ।
 मिच्छम्मि तिन्नि भंगा दुहावि अधुवा तुरिअभंगा ॥५॥
 निमिण थिर अथिरअगुस्य सुहअसुहं तेय कम्म चउवन्ता ।
 नाणंतराय दंसण मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥६॥
 थिरसुभियर विणु अधुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबंधी ।
 निहोवघाय मीसं सम्मं पणनवइ अधुवुदया ॥७॥
 तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिगं ।
 आगिइतिग वेयणियं दुजुयल सगउरल सासचऊ ॥८॥
 खइगतिरिदुग नीयं धुवसंता सम्म मीस मणुयदुगं ।
 विउविककार जिणाऊ हारसगुच्चा अधुवसंता ॥९॥
 पढमतिगुणेषु मिच्छं नियमा अजवाइअट्ठगे भज्जं ।
 सासाणे खलु सम्मं संतं मिच्छाइदसगे वा ॥१०॥
 सासणमीसेसु धुवं मीरु मिच्छाइनवसु भयणाए ।
 आइदुगे अण नियमा भइया मीसाइनवगम्मि ॥११॥

आहारसत्तगं वा सव्वगुणे वित्तिगुणे विणा तित्थं ।
 नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुनं भवे तित्थे ॥१२॥
 केवलजुयलावरणा पणनिदा बारसाइमकसाया ।
 मिच्छं ति सव्वघाइ चउणाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
 संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई ।
 पत्तेयतणुट्ठाऊ तसवीसः गोयकुय लना ॥१४॥
 सुरनरतिगुच्च सायं तसदस तणुवंगवहरचउरंसं ।
 परघासग तिरिआऊं वन्नचउ पणिदि सुभखगइ ॥१५॥
 बायालपुन्नपगई अपद्धमसंठाणखगइसंघयणा ।
 तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगल निरयतिगं ॥१६॥
 थावरदंस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
 पावपयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥
 नामधुवबंघिनवगं दंसण पणनाणविग्घ परघायं ।
 भयकुच्छमिच्छसासं जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥१८॥
 तणुअट्ट वेय दुजुयल कसाय उज्जोयगोयदुग निदा ।
 तसवीसाउ परित्ता खित्तिविवागाऽणुपुब्बीओ ॥१९॥
 घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
 जाइतिग जियविवागा आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥
 नामधुवोदय चउतणु वधायसाहारणियर जोयतिगं ।
 पुगलविवागि बंधो पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥
 मूलपयडीण अट्टसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
 अप्पत्तरा तिय चउरो अवट्ठिया ण हु अवत्तव्वो ॥२२॥
 एगाइहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पत्तरो ।
 तम्मसोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो ॥२३॥
 नव छ चउ दंसो दुदु तिदु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
 तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥२४॥

तिपणछअटुनबहिया वीसा तीसैगर्तास इग नामे ।
 छस्सगअटुतिबन्वा सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥२५॥
 वीसयरकोडिकोडी नामे गोए य नत्तरी मोहे ।
 तीसयर चउसु उदही निरयसूराजंमि तिच्चीसा ॥२६॥
 मुत्तु अकसायडिई बार मुहुत्ता जहन्न वेयणिए ।
 अटुट्ट नामगोएसु संसएसु मुहुत्तंतो ॥२७॥
 विग्घावरणअसाए तोसं अट्टार मुहुमविगलतिगे ।
 पढमागिइसंधयणे दस दुसुवरिसेसु दुगवुड्डी ॥२८॥
 चालीस कसाएसुं मिउलहुनिद्धुहसुरहिंसियमहुरे ।
 दस दोसदढसमहिया ते हालिदधिलाईणं ॥२९॥
 दस मुहुविहगई उच्चे सुरदुग थिरछक्क पुस्मिरइहासे ।
 मिच्छे सत्तरि पणुहुगइत्थीसाएसु पन्नरस ॥३०॥
 भयकुच्छअरइसोए विउव्वितिरिउरलनिरयदुगनोए ।
 तेयपण अधिरछक्के तसत्तउथावरइगपणिदी ॥३१॥
 नपुकुखगइसासच्चउगुरुक्कक्खडरुक्खसीयदुग्गधे ।
 वीसं कोडाकोडी एवइयावाह वाससया ॥३२॥
 गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
 लहुठिइ संखगुणूणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥
 इगविगलपुव्वकोडि पलियासंखंस आउचउ अमणा ।
 निरुक्कमाण छमासा अगाह सेसाण भवर्तसो ॥३४॥
 लहुठिइबंधो संजलणलोहपणविग्घनाणदसेसु ।
 भिन्नमुहुत्तं ते अट्ट जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥
 दो उगमासो पक्खो संजलणतिगे पुमट्टवरिसाणि ।
 सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तडिईइ जं लड्ड ॥३६॥
 अयमुक्कोसो गिंदिसु पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
 कमसो पणवीसाए पन्नासयसहस्ससंगुणिओ ॥३७॥

विगलिअसन्निसु जिट्ठो कणिट्ठउ पल्लसंखभाणुणो ।
 सुरनरयाउ समादससहस्स संसाउ खुड्डभवं ॥३८॥
 सत्त्वाणवि लहुबंधो भिन्नमुहू अवाह आउजिट्ठे वि ।
 केइ सुराउसमं जिणमंतमुहू विति आहारं ॥३९॥
 सत्तरससमहिंया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा ।
 सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तंमि ॥४०॥
 पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा ।
 आवलियाणं दोसय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥४१॥
 अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
 मिच्छदिट्ठी बंधइ जिट्ठिई सेसपयडीणं ॥४२॥
 विगलसुहुमाउगतिगं तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
 एगिदिथायरयाव आईसाणा सुक्खकोसं ॥४३॥
 निरिउरलदुग्गजोयं छिवट्टु सुरनिरय सेस चउगइया ।
 आहारजिणमपुव्वोऽनिवट्ठि संजलण पुरिस लहु ॥४४॥
 सायजमुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्ती ।
 सन्तीवि आउ बायरपज्जेगिदिउ सेसाणं ॥४५॥
 उक्कोसजहन्नेयरभंगा साइ अणाइ धुव अधुवा ।
 चउहा सम अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥४६॥
 चउमेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
 सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीएं ॥४७॥
 साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिओ न हिगो ।
 बंधो न हु हीणो न य मिच्छे मव्वियरसन्निसि ॥४८॥
 जइलहुबंधो बायर पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जहिगो ।
 एसि अपज्जाण लहु सुहुमेअरअपजपज्ज गुरु ॥४९॥
 लहु बिय पज्जअपज्जे अपजेयर बिय गुरु हिगो एवं ।
 ति चउ असन्निसु नवरं संखगुणो बियअमणपज्जे ॥५०॥

तो जइजिठो बंधो संखगुणो देसविरय हस्तिवर्यो ।
 सम्मचउ सन्निचउरो ठिइबंघाणुकम संखगुणा ॥५१॥
 सब्बाण वि जिठ्ठांठिं असुभा जे साइसकिलेसेण ।
 इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउं ॥५२॥
 सुहुमनिगोयाइखणप्पजोग बायरयविमलअमणमणा ।
 अपज्ज लहु पढमदुगुरु पजहस्तिवर्यो असंखगुणो ॥५३॥
 अपजत्त तसुक्कोसो पज्जजहन्तिवर्य एव ठिइठाणा ।
 अपजेयर संखगुणा परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥
 पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
 अज्झवसाया अहिया सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥५५॥
 तिरिनरयतिजोयाणं नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
 थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥५६॥
 अपढमसंघयणागिइखगई अणमिच्छदुभगथीणत्तिगं ।
 निय नपु इत्थि दुतीसं पणिदिंसु अबन्धठिइ परमा ॥५७॥
 विजयाइसु गेविज्जे तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
 पणसीइ सययबंधो पल्लतिगं मुरविउव्विदुगे ॥५८॥
 समयादसंखकालं तिरिदुगनीएसु आउ अंतमुहु ।
 उरलि असंखपरट्ठा सायठिई पुव्वकोइणा ॥५९॥
 जलहिसयं पणसीयं परघुस्सासे पणिदितसचउगे ।
 वत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥६०॥
 असुखगइजाइआगिइ संघयणाहारनरयजोयदुर्गं ।
 थिरमुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसारं ॥६१॥
 समयादंतमुहुत्तं मणुदुगजिणवइरउरलवंगेसु ।
 तित्तीसयरा परमा अंतमुहु लहु वि आउजिणे ॥६२॥
 तिब्बो असुहसुहाणं संकेसविसोहिओ विवज्जयउ ।
 मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिसकसाएहि ॥६३॥

चउठाणाई असुहा सुहभहा विग्वदेसघाइआवरणा ।
 पुमसंजलणिगदुतिचलठाणरसा सेस दुगमाई ॥६४॥
 निबुच्छरसो सहजो दुतिचउभाग कडित्ठक्कभागंतो ।
 इगठाणाई असुहो असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥६५॥
 तिध्वमिगधावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिगं ।
 तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ट सुरनिरया ॥६६॥
 विउध्विमुराहारदुगं सुखगइ वन्नचउतेयजिणसायं ।
 समउपरयतिसदरा पणिदिसासपरधुच्चं ॥६७॥
 तमतमगा उज्जोयं सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइरं ।
 अपमत्तो अमराउं चउगइमिच्छा उ सेसाणं ॥६८॥
 थोणतिगं अणमिच्छं मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो ।
 चिर्यातियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥६९॥
 अपमाइ हारगदुगं दुनिदअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
 भयमुवधायमपुव्वो अनियट्टो पुरिससंजलणे ॥७०॥
 विग्धावरणं सुहुमो मणुतिरिया सुहुमविगलतिमआऊ ।
 वेगुध्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुगं ॥७१॥
 तिरिदुगनिअं तमतमा जिणमविरय निरयविणिगधावरयं ।
 आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥७२॥
 तसवन्नतेयचउमणुखगइदुग पणिदिसासपरधुच्चं ।
 संधयणागिडनपुत्थोसुभगियरति मिच्छा चउगइगा ॥७३॥
 चउतेयवन्नवेयणिथ नामणुक्कोस सेसधुवबंधी ।
 घाईणं अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥७४॥
 सेसंमि दुहा इगदुगणुयाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
 खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥७५॥
 एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मं ।
 सुहुमा कमावगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसो ॥७६॥

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतसा अंतरेसु अगहणा ।
 सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणंतसाहिया जिट्ठा ॥७७॥
 अंतिमचउफामदुग्गंपंचवन्नरसकम्मखंधलं ॥
 सव्वविपर्यंतपुनरसमपुत्तुत्तवणंतसाएहं ॥७८॥
 एसपएसोगाढं नियसव्वपएसउ गहेइ जिठ्ठ ।
 थेवो आउ तदंसो नामे गोए' समो अहिउ ॥७९॥
 विग्धावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
 तस्स फुडत्त' न हवइ ठिईविसेसेण सेसाणं ॥८०॥
 नियजाइलद्धदलियाणंतसो होइ सव्वघाईणं ।
 वज्झंतीण विभज्जइ सेसं सेसाण पइसमयं ॥८१॥
 सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोयदंसखवगे य ।
 मोहसमसतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥८२॥
 गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए ।
 एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥८३॥
 पलियासंखंसमुह सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
 गृह मिच्छी वे एसदुो इयरगुणे पुगलद्ध'तो ॥८४॥
 उद्धारअद्धखित्त' पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
 केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥८५॥
 दब्बे खित्त' काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
 होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुगलपरट्ठो ॥८६॥
 उरलाइसत्तणेणं एमजिउ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
 जत्तियकालि स थूलो दब्बे सुहुमो सगन्नयरा ॥८७॥
 लोमपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
 जहं तहं कममरणेणं पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥८८॥
 अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सग्निपज्जत्तो ।
 कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नयं तस्स वज्जासे ॥८९॥

मिच्छ अजयचउ आऊ बित्तिगुण बिणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
 छण्हं सतरस सुहुमो अजया देसा बित्तिकसाए ॥६०॥
 पण अनियट्ठी सुखगइ नराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
 समचउरंसमसाय वड्ढरं मिच्छो व सम्मो वा ॥६१॥
 निद्दापयलादुज्जुयलभयकुच्छातिरुथ सम्मगो सुजई ।
 आहारदुगं सेसा उवकोसपएसगा मिच्छो ॥६२॥
 सुमुणी दुन्नि असन्नी निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं ।
 सम्मो जिणं जहन्त्तं सुहुमनिगोयाइखाणि सेसा ॥६३॥
 दंसणद्धगभयकुच्छावितितुरियकषाय विग्घनाणाणं ।
 मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सब्बत्थ ॥६४॥
 सेद्धिअसंखिज्जंसे जोगहाणाणि पयडिट्ठिहसेया ।
 ठिइबंधवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥६५॥
 तत्तो कम्मपएसो अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
 जोगा पयिडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाउ ॥६६॥
 चउदसरज्जु लोगो बुद्धिकओ सत्तरज्जुमाणघणो ।
 तद्दीहेगपएसो सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥६७॥
 अणदंसनपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च ।
 दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥६८॥
 अणमिच्छमीससम्मं तिआउ इगविगलथीणतिगुज्जोत्रं ।
 तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअडनपुत्थीए ॥६९॥
 छापुंसंजलणादोनिहविग्घवरणक्खए नाणी ।
 देविंदसूरिलिहियं सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥७०॥

परिशिष्ट-२

कर्मों की बंध, उदय, सत्ता प्रकृतियों की संख्या में भिन्नता का कारण

ज्ञानावरण आदि मूल कर्मों की बंधयोग्य १२०, उदययोग्य १२२ तथा सत्तायोग्य १५८ या १४८ प्रकृतियाँ हैं। अर्थात् बंधयोग्य की अपेक्षा उदययोग्य २ और उदययोग्य की अपेक्षा सत्तायोग्य ३६ या २६ प्रकृतियाँ अधिक हैं। यहाँ इस भिन्नता के कारण को स्पष्ट करते हैं।

सामान्यतया कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता के संबन्ध में यह नियम है कि जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध होता है, बंध होने के पश्चात् उसनी ही प्रकृतियों की सत्ता और उदय काल में उतनी ही प्रकृतियों का उदय होता है। बिना बंध के उदय और सत्ता में संख्या अधिक होना भी नहीं चाहिए। लेकिन इस सामान्य नियम का अपवाद होने से उदय और सत्ता में कर्म प्रकृतियों की संख्या अधिक मानी जाती है।

बंध की अपेक्षा उदय प्रकृतियों में दो की अधिकता का कारण यह है कि ब्रह्म मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्य मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय। इनमें से केवल मिथ्यात्व मोहनीय का बंध होता है और शेष दो प्रकृतियाँ बिना बंध के उदय में आती हैं और सत्ता में रहनी हैं। इसका कारण यह है कि जैसे कि राख और औषधि विशेष के द्वारा मादक कोदों (घान्ध विशेष) को शुद्ध किया जाता है वैसे ही मादक कोदों जैसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को औषधि समान सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध करके तीन भागों में विभाजित कर दिया जाता है १—शुद्ध, २ अर्धशुद्ध और ३ अशुद्ध। उनमें अत्यन्त शुद्ध किये हुए जो कि सम्यक्त्व स्वरूप को प्राप्त हुए हैं अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति में विघातक नहीं होते हैं, ऐसे पुद्गल शुद्ध कहलाते हैं और उनका सम्यक्त्व मोहनीय यह नाम व्यवहार किया जाता है और जो अल्प शुद्धि को प्राप्त हुए हैं वे अर्धविशुद्ध और उनको मिथ्य मोहनीय कहते हैं और

जो किञ्चिन्मात्र भी वृद्धि को प्राप्त नहीं हुए हैं परन्तु मिथ्यात्व मोहनीय रूप ही रहते हैं, वे अशुद्ध कहलाते हैं ।

इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय सम्यक्त्व गुण द्वारा सत्ता में ही शुद्ध हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल होने से उनका बंध नहीं होता है किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का ही बंध होता है, जिससे बंध के विचार-प्रसंग में सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के बिना मोहनीय कर्म की सत्त्ववीस प्रकृतियाँ मानी जाती हैं ।

इसी प्रकार पाँच बन्धन, पाँच संघातन का अपने-अपने शरीर के अन्तर्गत ग्रहण करने से और वर्णादिक के बीस भेदों का वर्णचतुष्क में ग्रहण होने से उनकी सोलह प्रकृतियों के बिना नामकर्म की सरसठ प्रकृतियाँ बंध में ग्रहण की जाती हैं और शेष कर्मों की प्रकृतियों में न्यूनाधिकता नहीं होने से सम्पूर्ण प्रकृतियों का योग करने पर बंध में एक सौ बीस उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं । उदय के विचार के प्रसंग में सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय का भी उदय होने से उनकी वृद्धि करने पर एक सौ बाईस उत्तर प्रकृतियाँ मानी जाती हैं ।

यद्यपि बंध और उदय का जब विचार किया जाता है तब बंधन और संघातन नामकर्म के पाँच-पाँच भेदों की उन-उन शरीरों के अन्तर्गत विवक्षा कर ली जाती है । किन्तु पाँचों बन्धनों और पाँचों संघातनों का बंध है और उदय भी है अपने अपने नाम वाले शरीर नामकर्म के साथ, इसीसिधे उनकी बंध और उदय में अलग से विवक्षा नहीं की है किन्तु सत्ता में अलग-अलग बताये हैं और बताना ही चाहिए । क्योंकि यदि सत्ता में उनको न बताया जाये तो मूल वस्तु का ही अभाव हो जायेगा । बन्धन और संघातन नामक कोई कर्म ही नहीं रहेंगे ।

पाँच बन्धन और पाँच संघातन नामकर्मों की शरीर नामकर्म के पाँच भेदों में इस प्रकार विवक्षा की जाती है—औदारिकबंधन और औदारिक संघातन की औदारिक शरीर के अन्तर्गत, वैक्रियबंधन और वैक्रिय संघातन की वैक्रिय शरीर के अन्तर्गत, आहारकबंधन और आहारक संघातन की आहारक शरीर के अन्तर्गत, तैजसबंधन और तैजस संघातन की तैजस शरीर के अन्तर्गत और कामजबन्धन व कर्मजा

संघातन की कार्मेण शरीर के अन्तर्गत । वर्ण, बंध, रस और स्पर्श नामकर्म के अनुक्रम से पाँच, दो, पाँच और आठ उत्तर भेद होते हैं । उनकी बंध और उदय में विवक्षा नहीं की है परन्तु सामान्य से वर्णादि चार ही माने हैं, क्योंकि इन बीस का साथ ही बंध और उदय होता है, एक भी प्रकृति पहले या बाद में बंध या उदय में से कम नहीं होती है । इसीलिये बंध और उदय में वर्णादि चतुष्क को माना है ।

इस प्रकार बंध और उदय में अविवक्षित पाँच बंधन, पाँच संघातन और वर्णादि सोलह प्रकृतियों का सत्ता में ग्रहण होने से कुल मिलाकर एकसौ अष्ट-तालीस उत्तर प्रकृतियाँ सत्ता में मानी जाती हैं और जब बंधन नामकर्म के पाँच की बजाय पन्द्रह भेद करते हैं तो सत्ता में एकसौ अष्टावन प्रकृतियाँ सम्भाना चाहिये ।

संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा बंध, उदय और सत्ता में प्रकृतियों की भिन्नता मानी जाती है ।

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंध

कर्मग्रन्थ में मोहनीयकर्म के दस बंधस्थान तथा उनमें नौ भूयस्कार, आठ अल्पतर, दस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध माने हैं । लेकिन गो० कर्म-कांड में बीस भुजाकार, ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और दो अवक्तव्य बंध बतलाये हैं, जो निम्नलिखित गाथा में स्पष्ट किये हैं—

दस बीसे एक्काएस तेत्तीस मोहबंधठाणाणि ।

भुजगारप्पवराणि य अचट्ठिठवाणिधि य सामधणे ॥४६८॥

मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों में बीस भुजाकार (भूयस्कार), ग्यारह अल्पतर, तेतीस अवस्थित और 'य' से दो अवक्तव्यबंध सामान्य से होते हैं ।

कर्मग्रन्थ और कर्मकांड के इस विवेचन में अंतर पड़ने का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में भूयस्कार आदि बंधों का विवेचन केवल गुणस्थानों में उतरने और चढ़ने की अपेक्षा से किया गया है किन्तु कर्मकांड में उक्त दृष्टि के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि गुणस्थान आरोहण के समय जो कि किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में जा सकता है और अवरोहण के

समय किस गुणस्थान से किस-किस गुणस्थान में जा सकता है तथा मरण की अपेक्षा से भी भूयस्कार आदि बंध गिनाये हैं ।

कर्मग्रन्थों में एक से दो, दो से तीन, तीन से चार आदि का बंध बतलाकर दस बंधस्थानों में नौ भूयस्कार बंध बतलाये हैं, लेकिन कर्मकांड में उनके सिवाय ग्यारह भूयस्कार और भी बतलाये हैं । वे इस प्रकार हैं—मरण की अपेक्षा से जीव एक को बांधकर सत्रह का, तीन को बांधकर सत्रह का, चार को बांध कर सत्रह का और पांच को बांध कर सत्रह का बंध करता है । अतः ये पांच भूयस्कार तो मरण की अपेक्षा से होते हैं तथा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में नौ प्रकृतियों का बन्ध करके कोई जीव पांचवें गुणस्थान में आकर तेरह का बंध करता है, कोई जीव चौथे गुणस्थान में आकर सत्रह का बंध करता है और कोई जीव दूसरे गुणस्थान में आकर इक्कीस का बंध करता है और कोई जीव पहले गुणस्थान में आकर बाईस का बंध करता है । क्योंकि छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान से प्युत होकर जीव नीचे के सभी गुणस्थानों में जा सकता है । अतः नी के चार भूयस्कार बंध होते हैं । इसी प्रकार पांचवें गुणस्थान में तेरह का बंध करके सत्रह, इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है, अतः तेरह के तीन भूयस्कार बंध होते हैं । सत्रह को बांधकर इक्कीस और बाईस का बंध कर सकता है, अतः सत्रह के दो भूयस्कार होते हैं । इस प्रकार नी के चार, तेरह के तीन और सत्रह के दो भूयस्कार बंध होते हैं ।

लेकिन कर्मग्रन्थ में प्रत्येक बंधस्थान का एक-एक, इस प्रकार तीन ही भूयस्कार बतलाये हैं । अतः शेष छह रह जाते हैं तथा मरण की अपेक्षा से पांच भूयस्कार पहले बतला चुके हैं । इस प्रकार गो० कर्मकांड में $५ + ६ = ११$ भूयस्कार अधिक बतलाये हैं ।

कर्मग्रन्थ में अल्पतर बंध आठ बतलाये हैं किन्तु कर्मकांड में उनकी संख्या ग्यारह बतलाई है । वे इस प्रकार हैं—कर्मग्रन्थ में बाईस को बांधकर सत्रह का बंध रूप केवल एक ही अल्पतर बंध बतलाया है लेकिन पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जीव दूसरे और छठे गुणस्थान के सिवाय सभी गुणस्थानों में जा सकता है । अतः बाईस को बांधकर सत्रह, तेरह और नौ का बंध कर सकने के कारण बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के तीन अल्पतर होते हैं तथा सत्रह का

बंध करके तेरह और नौ का बंध कर सकने के कारण सबह के बंधस्थान के दो अल्पतर बंध होते हैं । इस प्रकार बाईस के तीन और सबह के दो अल्पतर बंधों में से कर्मग्रन्थ में केवल एक-एक ही अल्पतर बंध बतलाया है । अतः शेष तीन रहते हैं जो कर्मग्रन्थ से कर्मकांड में अधिक है ।

भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बंध के द्वितीय समय में भी यदि उतनी ही प्रकृतियों का बंध होता है जितनी प्रकृतियों का बंध पहले समय में हुआ था तो उसे अवस्थित बंध कहते हैं । अतः कर्मकांड में भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बंधों की संख्या के बराबर ही अवस्थित बंधों की संख्या बतलाई है । यदि दूसरे समय में होने वाले बंध के ऊपर से भूयस्कार, अल्पतर अथवा अवक्तव्य पदों को अलग करके उनकी वास्तविक स्थिति को देखें तो मूल अवस्थित बंध उतने ही ठहर सकते हैं जितने बंधस्थान होते हैं । जैसे किसी जीव ने इक्कीस का बंध करके प्रथम समय में बाईस का बंध किया और दूसरे समय में भी बाईस का ही बंध किया तो यह प्रथम समय का बंध भूयस्कार बंध है और दूसरे समय का अवस्थित । जिस प्रकार भूयस्कार आदि बंधों का निरूपण है, यदि उसी प्रकार अवस्थित बंध का निरूपण किया जाये तो बाईस का बंध करके बाईस का बंध करना, इक्कीस का बंध करके इक्कीस का बंध करना, सबह का बंध करके सबह का बंध करना, आदि अवस्थित बंध ही है । इसका सारांश यह है कि मूल अवस्थित बंध उतने ही होते हैं जितने कि बंधस्थान होते हैं, इसीलिये कर्मग्रन्थ में दस ही अवस्थित बंध मोहनीय कर्म के बतलाये हैं । किंतु भूयस्कार, अल्पतर और अवक्तव्य बंध के द्वितीय समय में प्रायः अवस्थित बंध होता है, अतः इन उपपद पूर्वक होने वाले अवस्थित बंध भी उतने ही होते हैं जितने कि तीनों बंधों के होते हैं । इसी से कर्मकांड में उक्त तीनों प्रकार के बंधों के बराबर ही अवस्थित बंध का परिमाण बतलाया है । अवक्तव्य बंध कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकांड में समान हैं ।

गो० कर्मकांड में विशेषरूप से भी भूयस्कार आदि को गिनाया है, जिनकी संख्या निम्न प्रकार है—

ससाधीसह्यसयं पणवालं पणहत्तरिह्यसयं ।

भुजगारप्यदराणि य अविद्वुषाणि विसेसेण ॥४७१॥

विशेषणने से अर्थात् भंगों की अपेक्षा में एकसौ सत्ताईस भुजाकार होते हैं, पैंतालीस अल्पतर होते हैं और एकसौ पचहत्तर अवबतव्य बंध होते हैं ।

एक ही बंधस्थान में प्रकृतियों के परिवर्तन से जो विकल्प होते हैं, उन्हें भंग कहते हैं । जैसे बाईस प्रकृतिक बंधस्थानों में तीन वेदों में से एक वेद का और हास्य-रति और शोक-अरति के युगलों में से एक युगल का बंध होता है । अतः उसके $3 \times 2 = 6$ भंग होते हैं । अर्थात् बाईस प्रकृतिक बंधस्थान को कोई जीव हास्य, रति और पुरुषवेद के साथ बांधता है, कोई शोक, अरति और पुरुषवेद के साथ बांधता है । कोई हास्य, रति और स्त्रीवेद के साथ बांधता है, कोई शोक, अरति और स्त्रीवेद के साथ बांधता है । इसी तरह नपुंसक वेद के लिये भी समझना चाहिये । इस प्रकार बाईस प्रकृतिक बंध-स्थान भिन्न-भिन्न जीवों के छह प्रकार से होता है । इसी प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में चार भंग होते हैं, क्योंकि उसमें एक जीव के एक समय में दो वेदों में से किसी एक वेद का और दो युगलों में से किसी एक युगल का बंध होता है । इसका सारांश यह है कि अपने-अपने बंधस्थान में संभवित वेदों को और युगलों को परस्पर में गुणा करने पर अपने-अपने बंधस्थान के भंग होते हैं । उन भंगस्थानों की संख्या इस प्रकार है—

छब्बीसोंसे षड् इगिथीसे दो दो हवन्ति छट्ठी ति ।

एकैकैकमवो भंगो बंधद्वानेषु मोहस्त ॥४६७

मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में से बाईस के छह, इक्कीस के चार, इसके आगे प्रमत्त गुणस्थान तक संभवित बंधस्थानों के दो-दो और उसके आगे संभवित बंधस्थानों के एक-एक भंग होते हैं । इन भंगों की अपेक्षा से एकसौ सत्ताईस भुजाकार निम्न प्रकार हैं—

णभ षड्वीसं बारस बीसं चउरद्वीस दो दो य ।

पूले पणमावोणं तिथतिय मिच्छादिभुजगारा ॥४७२

पहले गुणस्थान में एक भी भुजाकार बंध नहीं होता है क्योंकि बाईस प्रकृतिक बंधस्थान से अधिक प्रकृतियों वाला कोई बंधस्थान ही नहीं है, जिसके बांधने से यहाँ भुजाकार बंध संभव हो । दूसरे गुणस्थान में चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि इक्कीस को बांधकर बाईस का बंध करने पर इक्कीस के चार

भंगों को और बाईस के छह भंगों को परस्पर गुणा करने पर $४ \times ६ = २४$ भुजाकार होते हैं। तीसरे गुणस्थान में बारह भुजाकार होते हैं। क्योंकि सत्रह को बांधकर बाईस का बंध करने पर $२ \times ६ = १२$ भंग होते हैं। चौथे में बीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि सत्रह का बंध करके इक्कीस का बंध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाईस का बंध होने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $१२ + ८ = २०$ भंग होते हैं। पांचवें गुणस्थान में चौबीस भुजाकार होते हैं, क्योंकि तेरह का बंध करके सत्रह का बंध होने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीस का बंध होने पर $२ \times ४ = ८$ और बाईस का बंध होने पर $२ \times ६ = १२$ इस प्रकार $४ + ८ + १२ = २४$ भंग होते हैं। छठे में अट्ठाईस भुजाकार होते हैं, क्योंकि नौ का बंध करके तेरह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$, सत्रह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$, इक्कीस का बंध करने पर $२ \times ४ = ८$ और बाईस का बंध करने पर $२ \times ६ = १२$, इस प्रकार $४ + ४ + ८ + १२ = २८$ भंग होते हैं। सातवें में दो भुजाकार होते हैं, क्योंकि सातवें में एक भंग सहित नौ का बंध करके मरण होने पर दो भंग सहित सत्रह का बंध होता है। आठवें गुणस्थान में भी सातवें के समान ही दो भुजाकार होते हैं। नौवें गुणस्थान में पांच, चार आदि पांच बंधस्थानों में से प्रत्येक के तीन-तीन भुजाकार होते हैं, जो एक-एक मिरने की अपेक्षा से और दो-दो मरने की अपेक्षा से। इस प्रकार एकसी सत्ताईस भुजाकार बंध होत हैं।

पैंतालीस अल्पतर बंध इस प्रकार हैं—

अप्यदरा पुण तीसं णम जघ छद्दोणि बोणि णम एकं ।

धूले पण्णावीणे एक्केवकं अंतिमे सुण्णं ॥ ४७३

पहले गुणस्थान में तीस अल्पतर बंध होते हैं, उसके आगे दूसरे गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य, शून्य, ६, २, २, शून्य, १ प्रकृति रूप अल्पतर बंध हैं। नौवें गुणस्थान में पांच आदि प्रकृति रूप का एक, एक ही अल्पतर बंध होता है किन्तु अंत के पांचवें भाग में शून्य अर्थात् अल्पतर बंध नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तीस अल्पतर बंध होते हैं, क्योंकि बाईस को बांधकर सत्रह का बंध करने पर $६ \times २ = १२$, तेरह का बंध करने पर ६×२

$= १२$ और नौ का बंध करने पर $६ \times १ = ६$, इस प्रकार $१२ + १२ + ६ = ३०$ मंग होते हैं। दूसरे गुणस्थान में एक भी अल्पतर बंध नहीं होता है, क्योंकि दूसरे के बाद पहला ही गुणस्थान होता है और उस अवस्था में तिसरे का बंध करके बाईस का बंध करता है जो कि भुजाकार बंध है। तीसरे गुणस्थान में भी कोई अल्पतर नहीं होता है, क्योंकि तीसरे से पहले गुणस्थान में आने पर भुजाकार बंध होता है और चौथे में जाने पर अवस्थित बंध होता है। क्योंकि तीसरे में भी सत्रह का बंधस्थान है और चौथे में भी सत्रह का बंध होता है। चौथे में छह अल्पतर होते हैं, क्योंकि सत्रह का बंध करके तेरह का बंध करने पर $२ \times २ = ४$ और नौ का बंध करने पर $२ \times १ = २$, इस प्रकार $४ + २ = ६$ अल्पतर बंध होते हैं। पांचवें गुणस्थान में तेरह का बंध करके सातवें में जाने पर नौ का बंध करता है अतः वहाँ $२ \times १ = २$ अल्पतर बंध होते हैं। छठे गुणस्थान में भी दो अल्पतर होते हैं, क्योंकि छठे से नीचे के गुणस्थानों में आने पर तो भुजाकार बंध ही होता है किन्तु ऊपर सातवें में जाने पर दो अल्पतर बंध होते हैं। यद्यपि छठे और सातवें गुणस्थान में नौ-नौ प्रकृतियों का ही बंध होता है किन्तु छठे के नौ प्रकृतियों वाले बंधस्थान में दो मंग होते हैं, क्योंकि यहाँ दोनों युगल का बंध संभव है और सातवें के नौ प्रकृतिक बंधस्थान का एक ही मंग होता है, क्योंकि वहाँ एक ही युगल का बंध होता है। जिससे प्रकृतियों की संख्या बराबर होने पर भी मंगों की न्यूनताधिकता के कारण $२ \times १ = २$ अल्पतर बंध माने गये हैं। सातवें गुणस्थान में एक भी अल्पतर बंध नहीं होता है, क्योंकि जब जीव सातवें से आठवें गुणस्थान में जाता है तो वहाँ भी नौ प्रकृतियों का ही बंध करता है, कम का नहीं करता है। आठवें में नौ का बंध करके नौवें गुणस्थान में पांच का बंध करने पर $१ \times १ = १$ ही अल्पतर बंध होता है। नौवें गुणस्थान में पांच का बंध करके चार का बंध करने पर एक, चार का बंध करके तीन का बंध करने पर एक, तीन का बंध करके दो का बंध करने पर एक और दो का बंध करके एक का बंध करने पर एक, इस प्रकार चार अल्पतर बंध होते हैं। इस प्रकार पैंतालीस अल्पतर बंध समझना चाहिए। अवक्तव्य बंध इस प्रकार है—

मेदेण अवसत्तवः ओद्धरमाणमि एक्कयं मरणे ।

वी चेव होंति एत्थमि तिप्पेव अक्खित्ता मंग ॥ ४७४

मग की विवक्षा के विशेष से अवक्तव्य बंध सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान से उतरने में एक होता है । अर्थात् दसवें गुणस्थान से उतर कर जब नीचें गुणस्थान में एक प्रकृति का बंध करता है तब एक अवक्तव्य होता है और दसवें में मरण करके देवगति में जन्म लेकर जब सप्तह का बंध करता है तब दो अवक्तव्य बंध होते हैं । इस प्रकार तीन अवक्तव्य बंध जानना चाहिए । अर्थात् दसवें से उतर के जब नीचें में आना है तब संज्वलन लोभ का बंध करता है, अतः एक अवक्तव्य बंध हुआ तथा उसी दसवें में मरण कर देव असंयत हुआ तब दो अवक्तव्य बंध होते हैं, क्योंकि देव होकर १७ प्रकृतियों को दो प्रकार से बांधता है । इस तरह तीन अवक्तव्य बंध हुए ।

१२७ भुजाकार, ४५ अल्पतर और ३ अवक्तव्य बंध मिलकर १७५ होते हैं और इतने ही अवस्थित बंध हैं । इस प्रकार मोहनीय कर्म के सामान्य-विशेष रूप से भुजाकार आदि बंध समझना चाहिए ।

कर्मप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध

कर्मग्रन्थ में नामोल्लेखपूर्वक बताई गई कर्म प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-बंध के बारे में कर्मप्रकृति, गो० कर्मकांड और कर्मग्रन्थ के संतुल्य में समानता है । शेष पचासी प्रकृतियों के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय यहाँ प्रस्तुत करते हैं ।

गो० कर्मकांड में उनके बारे में लिखा है कि—

सेसाणं पञ्जसो बादराहृदियो विमुक्षो य ।

बंधदि सवजहृणं सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥१४३

शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थितियों की वादर पर्याप्त विशुद्ध परिणाम वाला एकेन्द्रिय जीव अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग में बांधता है ।

इस गथा में जिस प्रतिभाग का उल्लेख किया है, उसको गथा १४५ में स्पष्ट किया है । एकेन्द्रियादिक जीवों की अपेक्षा से उक्त प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बतलाने के लिए अपनी अपनी पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने से प्राप्त लब्ध एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति है और उसमें पत्य का असंख्यातवां भाग न्यून करने से जघन्य स्थिति होती है । अतः जघन्य स्थितिबंध को एकेन्द्रिय जीव के करने से शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध कर्मकांड में अलग से नहीं बतलाया है ।

कर्मप्रकृति में शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति बतलाने के लिए वर्ग बना कर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने का पहले संकेत किया गया है और एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से प्रकृतियों की स्थिति का परिमाण बतलाते हुए आगे लिखा है—

एसेगिदियद्धरे सव्वासि ऊणसंजुओ जेहो ।

अर्थात् अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में से पत्य के असंख्यातवें भाग को कम करने से जो अपनी-अपनी जघन्य स्थिति आती है, वही एकेन्द्रिय योग्य जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिए । कम किये गये पत्य के असंख्यातवें भाग को उस जघन्य स्थिति में जोड़ने पर उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण होता है ।

कर्मग्रन्थ में पचासी प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का विवेचन पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति दोनों के अभिप्रायानुसार किया है । इन दोनों विवेचनों में यह अंतर है कि पंचसंग्रह में तो अपनी-अपनी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर जघन्य स्थिति बतलाई है और कर्मप्रकृति में अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर और उसके लब्ध में से पत्य का असंख्यातवां भाग कम करके जघन्य स्थिति बतलाई है ।

गो० कर्मकांड प्रकृतियों की स्थिति में भाग देने तक तो पंचसंग्रह के मत से सहमत है लेकिन आगे वह कर्मप्रकृति के मत से सहमत हो जाता है । पंचसंग्रह का मत है कि प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह तो एकेन्द्रिय की अपेक्षा से जघन्य स्थिति होती है और उसमें पत्य का असंख्यातवां भाग जोड़ने से उसकी उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है । लेकिन गो० कर्मकांड और कर्मप्रकृति के मतानुसार मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है वही उत्कृष्ट स्थिति होती है और उसमें पत्य का असंख्यातवां भाग कम देने पर जघन्य स्थिति होती है । पंचसंग्रह में तो अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में भाग नहीं दिया जाता है किन्तु अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर प्राप्त लब्ध जघन्य स्थिति का परिमाण है ।

इस प्रकार से पंचसग्रह और कर्मप्रकृति के मत में अंतर है ।

आयुर्कर्म के अबाधाकाल का स्पष्टीकरण

देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य आयु की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते समय अबाधाकाल पूर्व कोटि का तीसरा भाग बतलाया है । इसका कारण यह है कि पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच गणायोग्य रीति से अपनी आयु के दो भाग बीतने के पश्चात् तीसरे भाग के प्रारम्भ में देव, नारक का तैत्तीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु बांध सकते हैं । इसलिए उत्कृष्ट स्थिति के साथ अबाधा रूप काल पूर्व कोटि का तीसरा भाग लेने का संकेत किया है । जैसे अन्य सभी कर्मों के साथ अबाधाकाल जोड़कर स्थिति कही है वैसे आयु-कर्म की स्थिति अबाधाकाल जोड़कर नहीं बताई है । क्योंकि उसका अबाधा-काल निश्चित नहीं है । असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच एवं देव तथा नारक अपनी आयु के ७५ माह शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं और शेष संख्यात वर्ष की निरूपकमी आयु वाले अपनी आयु के दो भाग बीतने के पश्चात् तीसरे भाग की शुरुआत में परभव की आयु का बंध करते हैं और सोपकमी आयु वाले कुल आयु के दो भाग जाने के पश्चात् तीसरे भाग के प्रारम्भ में बांधते हैं । यदि उस समय आयु का बंध न करें तो जितनी आयु शेष हो उसके तीसरे भाग की शुरुआत में बांधते हैं । इसका आशय यह है कि संपूर्ण आयु के तीसरे भाग, नीवें भाग, सत्ताईसवें भाग, इस प्रकार जब तक अंतिम अन्तर्मुहूर्त आयु शेष हो तब परभव की आयु का बंध करते हैं । परभव की आयु का बंध करने के बाद जितनी आयु शेष हो, वह अबाधाकाल है तथा अबाधा जघन्य हो और आयु का बंध भी जघन्य हो जैसे अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बांधे । अबाधा जघन्य हो और आयु का बंध उत्कृष्ट हो जैसे अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला तैत्तीस सागर प्रमाण तदुलमत्स्य की तरह नारक का आयु बांधे । उत्कृष्ट अबाधा हो और आयु का जघन्य बंध हो जैसे पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाला अपनी आयु के तीसरे भाग के प्रारम्भ में अन्तर्मुहूर्त आयु का बंध करे तथा उत्कृष्ट अबाधा हो और आयु का बंध भी उत्कृष्ट हो जैसे पूर्व कोटि वर्ष वाला तीसरे भाग की शुरुआत में तैत्तीस सागरोपम प्रमाण देव,

नारक की आयु का बंध करे। इस प्रकार अवाधा के विषय में आयुकर्म की यह धोखी है। इस तरह अवाधा अनिश्चित होने से आयु के साथ उसे जोड़ा नहीं है तथा अन्य कर्म अपने स्वजातीय कर्मों के स्थानों को अपने बंध के द्वारा पुष्ट करते हैं और यदि उनका उदय हो तो उसी जाति के बंधे हुए नये कर्मों की सभी आवलिका जाने के बाद उदीरणा द्वारा उसका उदय भी होता है, लेकिन आयुकर्म के बारे में यह नियम नहीं है। बंधने वाली आयु भोगी जाने वाली आयु के एक भी स्थान को पुष्ट नहीं करती है तथा मनुष्य आयु को भोगते हुए यदि स्वजातीय मनुष्य आयु का बंध करे तो वह बंधी हुई आयु अन्य मनुष्य जन्म में जाकर ही भोगी जाती है। यहाँ उसके किसी दलिक का उदय या उदीरणा नहीं होने से भी आयु के साथ अवाधा काल नहीं जोड़ा है।

योगस्थानों का विवेचन

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकांड भा. २१८ से २४२ तक योगस्थानों का विवेचन स्वरूप, संख्या तथा स्वामी की अपेक्षा से किया गया है। उसका उपयोगी अंश यहां प्रस्तुत करते हैं।

गो० कर्मकांड में योगस्थान के तीन भेद किये हैं और इन तीन भेदों के भी १४ जीवसमासों की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद हैं तथा ये १४ भेद भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन-तीन प्रकार के हैं। उनमें से सामान्य की अपेक्षा १४ भेद, सामान्य और जघन्य की अपेक्षा २८ भेद तथा सामान्य-जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा ४२ भेद होते हैं। कुल मिलाकर ये ८४ भेद हैं। जिनके नाम आदि इस प्रकार हैं—

योगतथाणा त्रिविहा उवाचोदयसवर्द्धपरिणामा।

भेदा एकेवर्कपि चोदसभेदा पुनो त्रिविहा॥२१८

उपपाद योगस्थान, एकांतवृद्धि योगस्थान और परिणाम योगस्थान, इस प्रकार योगस्थान तीन प्रकार के हैं और ये तीनों भेद भी जीवसमास की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद वाले हैं तथा उनके भी तीन-तीन भेद होते हैं।

विग्रहगति में जो योग होता है उसे उपपाद योगस्थान कहते हैं। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक जो योगस्थान होता है उसे एकांतानुवृद्धि और शरीर

पर्याप्त के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अन्त तक होने वाले योग को परिणाम योगस्थान कहते हैं। परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी। लब्ध्यपर्याप्तिक के भी अपनी स्थिति के सब भेदों में दोनों परिणाम योगस्थान सम्भव हैं। सो ये सब परिणाम योगस्थान घोटमान योग समझना। क्योंकि ये घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं और जैसे के तैसे भी रहते हैं।

उपपाद योगस्थान और एकांतानुबुद्धि योगस्थानों के प्रवर्तन का काल जघन्य और उत्कृष्ट एक समय ही है। क्योंकि उपपादस्थान जन्म के प्रथम समय में ही होता है और एकांतानुबुद्धि स्थान भी समय-समय प्रतिबुद्धि रूप जुदा-जुदा ही होता है और इन दोनों से भिन्न जो परिणाम योगस्थान हैं, उनके निरन्तर प्रवर्तने का काल दो समय से लेकर आठ समय तक है। आठ समय निरन्तर प्रवर्तने वाले योगस्थान सबसे छोड़े हैं और सात को आदि लेकर चार समय तक प्रवर्तने वाले ऊपर-नीचे के दोनों जगह स्थान असंख्यात गुणे हैं किन्तु तीन समय और दो समय तक प्रवर्तने वाले योगस्थान एक जगह—ऊपर की ओर ही रहते हैं और उनका प्रमाण क्रम से असंख्यात-असंख्यात गुणा है।

सब योगस्थान जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनमें एक-एक स्थान के १. अविभाग प्रतिच्छेद, २. वर्ग, ३. वर्गणा, ४. स्पर्द्धक, ५. गुणहानि, ये पांच भेद होते हैं।

जिसका दूसरा भाग न हो, ऐसे शक्ति के अंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। अविभाग प्रतिच्छेद का समूह वर्ग, वर्ग का समूह वर्गणा, वर्गणा का समूह स्पर्द्धक और स्पर्द्धक का समूह गुणहानि कहलाता है और गुणहानि के समूह को स्थान कहते हैं।

एक योगस्थान में गुणहानि की संख्याएँ परम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और एक गुणहानि में स्पर्द्धक जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। एक-एक स्पर्द्धक में वर्गणाओं की संख्या जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और एक-एक वर्गणा में असंख्यात जगत्प्रतिप्रमाण वर्ग हैं और एक एक वर्ग में असंख्यात लोकप्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।

एक योगस्थान में सब स्पष्टांकों, सब वर्गणाओं की संख्या और असंख्यात प्रदेशों में गुणहानि का आयाग (काल) का प्रमाण सामान्य से जगत्त्राणि के असंख्यातवै भाग माय है । क्योंकि असंख्यात के बहुत भेद हैं । एक योगस्थान में अविभाग प्रतिच्छेद असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं ।

ऊपर जो योगस्थान कहे हैं, उनमें चौदह जीवसमायों के जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा तथा उपपादादिक तीन प्रकार के योगों की अपेक्षा चौरासी स्थानों में अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

सुक्ष्मगलक्षिजहृणं तिष्ठिण्वस्तीजहृणायं तत्तो ।

लक्ष्मिअपुण्णवकस्सं बादरलक्षिस्स अवरमवो ॥ २३३

सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान सबसे थोड़ा है, उससे सूक्ष्म निगोदिया निर्वृत्यपर्याप्तक जीव का जघन्य उपपादस्थान पक्ष के असंख्यातवै भाग गुणा है, उससे अधिक सूक्ष्म लब्धपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान और उससे भी अधिक बादर लब्धपर्याप्तक का जघन्य उपपादयोगस्थान जानना चाहिये ।

जित्थत्तिसुहृमजेद्वं बादरणिष्वत्तिस्स अवरं तु ।

बादरलक्षिस्स वरं बीहद्वियलक्षिगजहृणं ॥ २३४

फिर उससे अधिक सूक्ष्म निर्वृत्यपर्याप्तक जीव का उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान है । उससे अधिक बादर निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है, उससे बादर लब्धपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान अधिक है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय लब्धपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान है ।

बादरणिष्वत्तिवरं जित्थत्तिविद्विद्विस्स अवरमवो ।

एवं चित्तिवित्तिलिचत्तिच चउविमणो होदि चउविमणो ॥ २३५

उसके बाद उससे भी अधिक बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट योगस्थान है, उससे अधिक द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य योगस्थान और इसी तरह द्वीन्द्रिय लब्धपर्याप्तक का उत्कृष्ट तथा त्रीन्द्रिय लब्धपर्याप्तक का जघन्य उपपाद स्थान, द्वीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, त्रीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य, त्रीन्द्रिय लब्ध-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट,

चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का जघन्य, त्रीन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, चतुरिन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट, असंजी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य, चतुरिन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट और असंजी पंचेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य उपपाद योगस्थान क्रम-क्रम से अधिक-अधिक जानना ।

तह् य असंजीसंजी असंजिसंजिस्स सज्जिउववावं ।

सुहुमेद्वदियसद्विगधवरं

एयंतवड्ढिस्स ॥ २३६

इसी प्रकार उससे अधिक असंजी लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थान और संजी लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान, उससे अधिक असंजी निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट और संजी निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य स्थान, उससे संजी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पत्य के असंख्यातवें भाग गुणा है और उससे अधिक गुणा सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का जघन्य एकांतानुवृद्धि योगस्थान जानना चाहिये ।

सज्जिस्सुववादवरं निज्जसिगस्स सुहुमजीवस्स ।

एयंतवड्ढिअवरं

सद्विवरे

धूसधूले

य ॥ २३७

उससे अधिक संजी पंचेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट उपपाद योगस्थान, उससे अधिक सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य एकांतानुवृद्धि योगस्थान है, उससे अधिक बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक का और बादर (स्थूल) एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का जघन्य एकांतानुवृद्धि योगस्थान कम से पत्य के असंख्यातवें भाग कर गुणा है ।

तह् सुहुमसुहुमजेद्वं तो बादरबादरे वरं होदि ।

अंतरमवरं सद्विगसुहुमिदवरंपि परिणामे ॥ २३८

इसी प्रकार उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक इन दोनों के उत्कृष्ट योगस्थान क्रम से अधिक हैं । उससे अधिक बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक और बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक इन दोनों के उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धि योगस्थान हैं, उसके बाद अंतर है । अर्थात् बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्यपर्याप्तक का उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धि योगस्थान और सूक्ष्म

एकेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक का जघन्य परिणाम योगस्थान, इन दोनों के बीच में जगत्त्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानों का पहला अंतर है । इस अंतर के स्थानों का कोई स्वामी नहीं है । क्योंकि ये स्थान किसी जीव के नहीं होते हैं, इसी कारण यह अंतर पड़ जाता है । इन स्थानों को छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक इन दोनों के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम-योगस्थान क्रम से पत्य के असंख्यातवें भाग कर गुणे जानना चाहिये ।

अंतरमुबरोवि पुणो तत्पुण्णानं च उबरि अंतरियं ।

एयतवड्ढिठाणा तसपणत्ताद्धिस्स अवरवरा ॥ २३६

इसके ऊपर दूसरा अंतर है । अर्थात् बादर एकेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक के उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान के आगे जगत्त्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान स्वामीरहित हैं । इनको छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम योगस्थान क्रम से पत्य के असंख्यातवें भाग से गुणे हैं । फिर इस बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान के आगे तीसरा अंतर है । उसको छोड़कर पाँच जसों के अर्थात् द्वीन्द्रिय लब्ध-अपर्याप्तक आदि पाँच के जघन्य और उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योगस्थान क्रम से पत्य के असंख्यातवें भाग से गुणे हैं ।

सद्धीणिज्जसोणं परिणामेयंतवड्ढिठाणाओ ।

परिणामदुणाओ अस्तरअंतरिय उवरवरि ॥ २४०

इसके आगे चौथा अंतर है । इसके बाद लब्ध-अपर्याप्तक और निर्वृत्ति अपर्याप्तक पाँच जसजीवों के परिणामयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योगस्थान और परिणामयोगस्थान तथा इनके ऊपर बीच-बीच में अंतर सहित स्थान हैं । ये तीनों स्थान उत्कृष्ट और जघन्य पने को लिये हुए पहली रीति से क्रम पूर्वक पत्य के असंख्यातवें भाग से गुणित जानना ।

इस तरह ८४ स्थान योगों के हैं । इन स्थानों में अविभाग प्रतिच्छेद एक के बाद दूसरे में आगे-आगे पत्य के असंख्यातवें भाग गुणे हैं ।

कर्मग्रन्थ में योग के उपपाद योगस्थान आदि तीन भेद नहीं किये हैं, इसीलिये जघन्य और उत्कृष्ट, इन दो भेदों को लेकर जीवस्थानों के २८ भेद

बतलाये हैं। दोनों ग्रन्थों के संदकर्म में भी अन्तर है। जिज्ञासु जनों को इस अन्तर के कारणों का अन्वेषण करना चाहिए।

ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों को कर्म प्रकृतियों में विभाजित करने की रीति

पञ्चम कर्मग्रन्थ गाथा ७१, ८० में सिर्फ ग्रहण किये गये कर्मस्कन्धों के विभाग का क्रम बतलाया है कि आयुकर्म को सबसे कम, उससे नाम और गोत्र कर्म को अधिक, उससे अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण को अधिक तथा मोहनीय को अंतराय आदि से भी अधिक भाग मिलता है तथा वेदनीय कर्म का भाग मोहनीय कर्म से भी अधिक है। इस प्रकार उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अमुक कर्म को अधिक भाग मिलता है और अमुक कर्म को कम भाग। किंतु गो० कर्मकांड में इस क्रम के साथ-ही-साथ विभाग करने की रीति बतलायी है। जो इस प्रकार है—

कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकांड में भी ग्रहण किये हुए कर्मस्कन्धों का मूल कर्म प्रकृतियों में बंटवारे का क्रम बतलाया है कि वेदनीय के सिवाय बाकी मूल प्रकृतियों में द्रव्य का स्थिति के अनुसार विभाग होता है—

सेसाणं पयडीणं ठिदिपडिभगेण होरि वड्ढं तु ।

आवलिअसंखभागे पडिभागे होरि पियमेण ॥१६४

वेदनीय के सिवाय शेष मूल प्रकृतियों के द्रव्य का स्थिति के अनुसार विभाग होता है। जिसकी स्थिति अधिक है उसको अधिक, कम को कम और समान स्थिति वाले को समान द्रव्य हिस्से में जाता है और उनके भाग करने में प्रतिभागहार नियम से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये। आयु आदि शेष सात कर्मों में विभाग का क्रम इस प्रकार है—

आउगभागे कोखो णामानोदे समो तवो अहिओ ।

घादितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तवो तदिये ॥१६२

सब मूल प्रकृतियों में आयुकर्म का हिस्सा थोड़ा है। नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा आपस में समान है तो भी आयुकर्म के भाग से अधिक है। अंतराय,

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, इन तीन घातिया कर्मों का भाग आपस में समान है लेकिन नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। जहां जितने कर्मों का बंध हो वहां उतने ही कर्मों में विभाग कर लेना चाहिये। विभाग करने की रीति यह है—

बहुभागे समभागो अदृष्टं ह्येवैकभागम् ।

उत्तकर्मो तत्तद्वि बहुभागे बहुगस्त वेओ धु । १६५

बहुभाग के समान भाग करके आठों कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग में पुनः बहुभाग करना चाहिए और वह बहुभाग बहुत हिस्से वाले कर्म को देना चाहिए।

इस रीति के अनुसार एक समय में जितने पुद्गल द्रव्य का बंध होता है, उसमें आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखना चाहिए और बहुभाग के आठ समान भाग करके आठों कर्मों को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को अलग रखकर बहुभाग वेदनीय कर्म को देना चाहिए, क्योंकि सबसे अधिक भाग का स्वामी वही है। शेष भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर बहुभाग मोहनीय कर्म को उसकी स्थिति अधिक होने से देना चाहिए। शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से भाग देकर एक भाग को जुदा रख बहुभाग के तीन समान भाग करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म को एक-एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख बहुभाग के दो समान भाग करके नाम और गोत्र कर्म को एक, एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग आयुर्कर्म को देना चाहिए। इस प्रकार पहले बटवारे में और दूसरे बटवारे में प्राप्त अपने-अपने द्रव्य का संकलन करने से अपने-अपने भाग का परिमाण आता है। यानी ग्रहण किये हुए द्रव्य में से उतने परमाणु उस उक्त कर्म रूप होते हैं।

पूर्वोक्त कथन को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि एक समय में जितने पुद्गल द्रव्य का बंध होता है, उसका परिमाण २५६०० है और आवली के

असख्यातकं भाग का प्रमाण ४ है । अतः २५६०० को ४ से भाग देने पर लब्ध ६४०० आता है, यह एक भाग है : इस प्रकार एक भाग को २५६०० में से घटाने पर १९२०० बहुभाग आता है । इस बहुभाग के आठ समान भाग करने पर एक-एक भाग का प्रमाण २४००, २४०० होता है अतः प्रत्येक कर्म के हिस्से में २४००, २४०० प्रमाण द्रव्य आता है । शेष एक भाग ६४०० को ४ से भाग देने पर लब्ध १६०० आता है । इस १६०० को ६४०० में से घटाने पर ४८०० बहुभाग हुआ । यह बहुभाग वेदनीय कर्म का है । शेष १६०० में ४ का भाग देने पर लब्ध ४०० आता है । १६०० में से ४०० घटाने पर बहुभाग १२०० हुआ, जो मोहनीय कर्म का हुआ । शेष एक भाग ४०० में ४ का भाग देने पर लब्ध १०० आता है । ४०० में से १०० को घटाने पर बहुभाग ३०० आता है । इस बहुभाग ३०० के तीन समान भाग करके जानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को १००, १०० देना चाहिए । शेष १०० में ४ का भाग देने से लब्ध २५ आया । इस २५ को १०० में से घटाने पर बहुभाग ७५ आता है । इस बहुभाग के दो समान भाग कर नाम और गोत्र कर्म को बांट दिया और शेष एक भाग २५ आयुर्कर्म को दे देना चाहिए । अतः प्रत्येक कर्म के हिस्से में निम्न द्रव्य आता है—

वेदनीय	मोहनीय	जानावरण	दर्शनावरण	अंतराय
२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
४८००	१२००	१००	१००	१००
—	—	—	—	—
७२००	३६००	२५००	२५००	२५००
नाम	गोत्र	आयु		
२४००	२४००	२४००		
२७ $\frac{१}{२}$	३७ $\frac{१}{२}$	२५		
—	—	—		
२४३७ $\frac{१}{२}$	२४३७ $\frac{१}{२}$	२४२५		

इस प्रकार २५६०० में इतना-इतना द्रव्य उस उस कर्म रूप परिणत होता है । यह उदाहरण केवल विभाजन की रूपरेखा समझाने के लिए है किन्तु वास्त-

बिक नहीं समझ लेना चाहिए । यानी यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वेदनीय का द्रव्य मोहनीय से ठीक दुगुना है, वैसे ही वास्तव में भी दुगुना द्रव्य होता है ।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मस्कन्धों के विभाजन में श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मसाहित्य में समानता है । कर्मग्रन्थ में लाघव की दृष्टि से ही विभाग करने की रीति नहीं बतलाई जा सकी है ।

उत्तर प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य के वितरण व होनाधिकता का विवेचन

गो० कर्मकांड में गाथा १६६ से २०६ तक उत्तर प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य के विभाजन का वर्णन किया गया है । कर्मग्रन्थ के समान ही धातिकर्मों को जो भाग मिलता है, उसमें से अनन्तवां भाग सर्वधाती द्रव्य होता है और शेष बहुभाग देशधाती द्रव्य होता है—

सत्त्वावरणं ब्रह्म अणंतभागो तु मूलपयडीणं ।

सेसा अणंतभागा देसावरणं ह्रस्वे ब्रह्म ॥ १६७

गो० कर्मकांड के मत से सर्वधाती द्रव्य सर्वधाती प्रकृतियों को भी मिलता है और देशधाती प्रकृतियों को भी मिलता है—

सत्त्वावरणं ब्रह्म किमंजलिज्जं तु उभयपयडीसु ।

देसावरणं ब्रह्म देसावरणेषु णेविदरे ॥ १६६

सर्वधाती द्रव्य का विभाग दोनों तरह की प्रकृतियों में करना चाहिए । किन्तु देशधाती द्रव्य का विभाग देशधाती प्रकृतियों में ही करना चाहिए । अर्थात् सर्वधाती द्रव्य सर्वधाती और देशधाती दोनों प्रकार की प्रकृतियों को मिलता है किन्तु देशधाती द्रव्य सिर्फ देशधाती प्रकृतियों में ही विभाजित होता है ।

प्राप्त द्रव्य को उत्तर प्रकृतियों में विभाजित करने के लिए एक सामान्य नियम यह है कि—

उत्तरपयडीसु पुणो मोहावरणा हवन्ति होणकमा ।

अहियकमा पुम णामाविधा य ण अंजमं सेसे ॥ १६६

उत्तर प्रकृतियों में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण के भेदों में कम से होन-हीन द्रव्य है और ताम, अंतराय कर्म के भेदों में कम से अधिक-अधिक द्रव्य है तथा बाकी बचे वेदनीय, मोक्ष, आयु कर्म, इन तीनों के भेदों में बटवारा नहीं होता है। क्योंकि इनकी एक ही प्रकृति एक काल में बंधती है। जैसे वेदनीय में सादा वेदनीय का बंध हो या असदा वेदनीय का परन्तु दोनों का एक साथ बंध नहीं होता है। इसीलिए मूल-प्रकृति के द्रव्य के प्रमाण ही इन तीनों के द्रव्य को समझना चाहिए।

विभाग की रीति निम्न प्रकार है—

ज्ञानावरण—सर्वघाती द्रव्य में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग के पांच समान भाग करके पांच प्रकृतियों को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग मतिज्ञानावरण को, शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर दूसरा बहुभाग श्रुतज्ञानावरण को शेष भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर तीसरा बहुभाग अवधिज्ञानावरण को, इसी तरह चौथा बहुभाग मनपर्यायज्ञानावरण को और शेष एक भाग केवलज्ञानावरण को देना चाहिए। पहले के भाग में अपने अपने बहुभाग को मिलाने से मतिज्ञानावरण आदि का सर्वघाती द्रव्य होता है।

अनन्तवें भाग के सिवाय शेष बहुभाग द्रव्य देशघाती होता है। यह देशघाती द्रव्य केवलज्ञानावरण के सिवाय शेष चार देशघाती प्रकृतियों को मिलता है। विभाग की रीति पूर्व अनुसार है। अर्थात् देशघाती द्रव्य में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर शेष बहुभाग के चार समान भाग करके चारों प्रकृतियों को एक एक भाग देना चाहिए। शेष एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग निकालते हुए क्रमशः वह बहुभाग मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण को तम्बुर द्वार देना चाहिए। अपने-अपने सर्वघाती और देशघाती द्रव्य को मिलाने से अपने अपने सर्व द्रव्य का परिमाण होता है।

दर्शनावरण—सर्वघाती द्रव्य में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर शेष बहुभाग के नौ भाग करके दर्शनावरण की नौ

प्रकृतियों को एक एक भाग देना चाहिए । शेष एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग निकालते जाना चाहिए और पहला बहुभाग स्थायान्द्रि को, दूसरा निद्रा-निद्रा को, तीसरा प्रचला-प्रचला को, चौथा निद्रा को, पांचवा प्रचला को, छठा चक्षुदर्शनावरण को, सातवा अचक्षुदर्शनावरण को, आठवा अवधिदर्शनावरण को और शेष एक भाग केवलदर्शनावरण को देना चाहिए । इसी प्रकार देशघाती द्रव्य में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख बहुभाग के तीन समान भाग करके देशघाती चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण को एक-एक भाग देना चाहिए । शेष एक भाग में भी भाग देकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरण, दूसरा बहुभाग अचक्षुदर्शनावरण को और शेष एक भाग अवधिदर्शनावरण को देना चाहिए । अपने-अपने भागों का संकलन करने से अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण होता है । चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण का द्रव्य सर्वघाती भी है और देशघाती भी । शेष छह प्रकृतियों के सर्वघातिनी होने से उनका द्रव्य सर्वघाती ही होता है ।

अन्तराय—प्राप्त द्रव्य में आवली के असंख्यातवें भाग (प्रतिभाग) का भाग देकर एक भाग के बिना शेष बहुभाग के पांच समान भाग करके पांचों प्रकृतियों को एक, एक भाग देना चाहिए । अब शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग कीर्यान्तराय को देना चाहिए । शेष एक भाग में पुनः प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग उपभोगान्तराय को देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो अवशेष एक भाग रहे, उसमें प्रतिभाग का भाग दे-देकर क्रमशः बहुभाग भोगान्तराय और लाभान्तराय को देना चाहिए । शेष एक भाग दानान्तराय को देना चाहिए । अपने-अपने समान भाग में अपना-अपना बहुभाग मिलाने से प्रत्येक का द्रव्य होता है ।

मोहनीय—सर्वघाती द्रव्य को प्रतिभाग आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर शेष बहुभाग के समान सत्रह भाग करके सत्रह प्रकृतियों को देना चाहिये । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्व को देना चाहिए । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी लोभ को दे, शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग

देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी माया को देना चाहिये । इसी प्रकार जो जो भाग शेष रहता जाये उसको प्रतिभाग का भाग दे देकर बहुभाग अनन्तानुबन्धी क्रोध को, अनन्तानुबन्धी मान को, संज्वलन लोभ को, संज्वलन माया को, संज्वलन क्रोध को, संज्वलन मान को, प्रत्याख्यानावरण लोभ को, प्रत्याख्यानावरण माया को, प्रत्याख्यानावरण क्रोध को, प्रत्याख्यानावरण मान को, अप्रत्याख्यानावरण लोभ को, अप्रत्याख्यानावरण माया को, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध को देना चाहिए और शेष एक भाग अप्रत्याख्यानावरण मान को देना चाहिए । अपने-अपने एक एक भाग में पीछे के अपने-अपने बहुभाग को मिलाने से अपना-अपना सर्वधाती द्रव्य होता है ।

देशधाती द्रव्य को आवली के असंख्यातबे भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रखकर बहुभाग का आधा नोकषाय को और बहुभाग का आधा और शेष एक भाग संज्वलन कषाय को देना चाहिये । संज्वलन कषाय के देशधाती द्रव्य में प्रतिभाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रखकर शेष बहुभाग के चार समान भाग करके चारों क्रोधादि कषायों को एक-एक भाग देना चाहिये । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर संज्वलन लोभ को देना चाहिये । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग संज्वलन माया को देना चाहिये । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग संज्वलन क्रोध को देना चाहिये और शेष एक भाग संज्वलन मान को देना चाहिये । पूर्व के अपने-अपने एक भाग में पीछे का बहुभाग मिलाने से अपना अपना देशधाती द्रव्य होता है । चारों संज्वलन कषायों को अपना-अपना सर्वधाती और देशधाती द्रव्य मिलाने से अपना-अपना सर्वद्रव्य होता है ।

मिश्रत्वं और बारह कषाय का सब द्रव्य सर्वधाती ही है और नोकषाय का सब द्रव्य देशधाती ही । नोकषाय का विभाग इस प्रकार होता है—नोकषाय के द्रव्य को प्रतिभाग का भाग देकर एक भाग को जुदा रख, बहुभाग के पाँच समान भाग करके पाँचों प्रकृतियों को एक-एक भाग देना चाहिये । शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तीन वेदों में से जिस वेद का बंध हो, उसे देना चाहिये । शेष एक भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग रति और अरति में से जिसका बंध हो, उसे देना चाहिये । शेष एक

भाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग हास्य और शोक में से जिसका बंध हो, उसे देना चाहिये । शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग भय को देना चाहिये और शेष एक भाग जुगुप्सा को देना चाहिये । अपने-अपने एक भाग में पीछे का बहुभाग मिजाने से अपना-अपना द्रव्य होता है ।

नामकर्म—तिर्यचगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक, तैजस, कामंश ये तीन शरीर, हृन् संख्याम, वर्णचतुष्क, तिर्यचानुपूर्वी, अगुलघु, उपधात, म्पावर, सुधम, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशः-कीर्ति और निर्माण, इन तीस प्रकृतियों का एक साथ बंध मनुष्य अथवा तिर्यच मिथ्यादृष्टि करता है । नामकर्म को जो द्रव्य मिलता है उसमें आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग को अलग रख बहुभाग के इक्कीस समान भाग करके एक-एक प्रकृति को एक-एक भाग देना चाहिये । क्योंकि ऊपर मिली तीस प्रकृतियों में औदारिक, तैजस और कामंश के तीनों प्रकृतियों एक शरीर नाम पिंड प्रकृति के ही अवान्तर भेद हैं । अतः इनको पृथक्-पृथक् द्रव्य न मिलकर एक शरीर नामकर्म को ही हिस्सा मिलता है । इसीलिये इक्कीस ही भाग किये जाते हैं ।

शेष एक बहुभाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर अंत से आदि को ओर के क्रम के अनुसार बहुभाग को देना चाहिये । जैसे कि शेष एक भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अंत की निर्माण प्रकृति को देना चाहिये । शेष भाग में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अयशःकीर्ति को देना । शेष एक भाग में पुनः आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग अनादेय को देना चाहिए । इसी प्रकार जो-जो एक भाग शेष रहे उसमें प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग दुर्भग, अशुभ आदि को क्रम से देना चाहिये । अंत में जो एक भाग रहे, वह तिर्यचगति को देना चाहिये ।

पहले के अपने-अपने समान भाग में पीछे का भाग मिलाने से अपना-अपना द्रव्य होता है । जहाँ पच्चीस, छब्बीस, अठ्ठाईस, उनतीस, तीस, इक्कीस प्रकृतियों का एक साथ बंध होता है, वहाँ भी इसी प्रकार से बदवारे का क्रम जानना चाहिये । किन्तु जहाँ केवल एक यशःकीर्ति का ही बंध होता है, वहाँ नामकर्म का सब द्रव्य इस एक ही प्रकृति को मिलता है ।

नामकर्म के उक्त बंधस्थानों में जो पिंडप्रकृतियां हैं, उनके द्रव्य का बटवारा उनकी अवान्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे ऊपर के बंधस्थानों में शरीर नाम पिंडप्रकृति के तीन भेद हैं अतः बटवारे में शरीर नामकर्म को जो द्रव्य मिलता है, उसमें प्रतिभाग का भाग देकर, बहुभाग के तीन समान भाग करके तीनों को एक-एक भाग देना चाहिये। शेष एक भाग में प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तैजस को देना चाहिये और शेष एक भाग औदारिक को देना चाहिये। ऐसे ही अन्य पिंडप्रकृतियों में भी समझना चाहिये। जहाँ पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियों में से एक ही प्रकृति का बंध होता हो, वहाँ पिंडप्रकृति का सब द्रव्य उस एक ही प्रकृति को देना चाहिये।

अंतराय और नाम कर्म के बटवारे में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक द्रव्य प्रकृतियों को देने का कारण प्रारम्भ में ही बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों में क्रम से हीन-हीन द्रव्य बाँटा जाता है और अंतराय व नाम कर्म की प्रकृतियों में क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य।

वेदनीय, वायु और शीत कर्म की एक समय में एक ही उत्तर प्रकृति बंधती है, अतः मूल प्रकृति को जो द्रव्य मिलता है, वह उस एक ही प्रकृति को मिल जाता है। उसमें बटवारा नहीं होता है।

इस प्रकार से गो० कर्मकांड के अनुसार कर्म प्रकृतियों में पुद्गल द्रव्य का बटवारा जानना चाहिये। अब कर्मप्रकृति (प्रदेशबंध गा० २८) में बतायी गई उत्तर प्रकृतियों में कर्मदलितों के विभाग की हीनाधिकता का कथन करते हैं। उसमें यह जाना जा सकता है कि उत्तर प्रकृतियों में विभाग का क्या और कैसा क्रम है तथा किम प्रकृति को अधिक भाग मिलता है और किम प्रकृति को कम।

पहले उत्कृष्ट पद की अपेक्षा अल्पबहुत्व वगनाते हैं।

ज्ञानावरण --- १. केवलज्ञानावरण का भाग सबसे कम, २. मनपर्याय-ज्ञानावरण का उससे अनंत गुणा, ३. अबधिज्ञानावरण का मनपर्यायज्ञाना-

वरण से अधिक, ४. श्रुतज्ञानावरण का उससे अधिक और ५. मतिज्ञानावरण का उससे अधिक भाग है ।

दर्शनावरण—१. प्रचला का सबसे कम भाग है, २. निद्रा का उससे अधिक, ३. प्रचला-प्रचला का उससे अधिक, ४. निद्रा-निद्रा का उससे अधिक, ५. स्था-नद्धि का उससे अधिक, ६. केवलदर्शनावरण का उससे अधिक, ७. अवधिज्ञानावरण का उससे अनन्तगुणा, ८. अचक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक और ९. चक्षुदर्शनावरण का उससे अधिक भाग होता है ।

वेदनीय—असाता वेदनीय का सबसे कम और साता वेदनीय का उससे अधिक द्रव्य होता है ।

मोहनीय—१. अप्रत्याख्यानावरण मान का सबसे कम, २. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का उससे अधिक, ३. अप्रत्याख्यानावरण माया का उससे अधिक और ४. अप्रत्याख्यानावरण लोभ का उससे अधिक भाग है । इसी प्रकार १०. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का (मान, क्रोध, माया और लोभ के क्रम से) उत्तरोत्तर भाग अधिक है । उससे ११-१२. अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उत्तरोत्तर भाग अधिक है । उससे १३. मिथ्यात्व का भाग अधिक है । मिथ्यात्व से १४. जुगुप्सा का भाग अनन्तगुणा है, उससे १५. भय का भाग अधिक है, १६, १७. हास्य और शोक का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, १८, १९. रति और अरति का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, २०, २१. स्त्री और नपुंसकवेद का उससे अधिक किन्तु आपस में बराबर, २२. संज्वलन क्रोध का उससे अधिक २३. संज्वलन मान का उससे अधिक, २४. पुरुषवेद का उससे अधिक, २५. संज्वलन माया का उससे अधिक और २६. संज्वलन लोभ का उससे असंख्यात गुणा भाग है ।

आयुर्कर्म—चारों प्रकृतियों का समान ही भाग होता है, क्योंकि एक ही बंधती है ।

नामकर्म—रति नामकर्म में देवगति और नरकगति का सबसे कम किन्तु परस्पर में बराबर, मनुष्यगति का उससे अधिक और तिर्यचगति का उससे अधिक भाग है ।

जाति नामकर्म में—द्वीन्द्रिय आदि चार जातियों का सबसे कम किन्तु आपस में बराबर और एकेन्द्रिय जाति का उससे अधिक भाग है ।

शरीर नामकर्म में—आहारक शरीर का सबसे कम, वैक्रिय शरीर का उससे अधिक, औदारिक शरीर का उससे अधिक, तैजस शरीर का उससे अधिक और कार्मण शरीर का उससे अधिक भाग है ।

इसी तरह पांच संघातों का भी समझना चाहिये ।

अंगोपांग नामकर्म में—आहारक अंगोपांग का सबसे कम, वैक्रिय का उससे अधिक, औदारिक का उससे अधिक भाग है ।

बन्धन नामकर्म में—आहारक-आहारक बन्धन का सबसे कम, आहारक-तैजस बन्धन का उससे अधिक, आहारक-कार्मण बन्धन का उससे अधिक, आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन का उससे अधिक, वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन का उससे अधिक, वैक्रिय-तैजस बन्धन का उससे अधिक, वैक्रिय-कार्मण बन्धन का उससे अधिक, तैजस-तैजस बन्धन का उससे अधिक, तैजस-कार्मण बन्धन और कार्मण-कार्मण बन्धन का भाग उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक अधिका होता है ।

संस्थान नामकर्म में—मध्य के चार संस्थानों का सबसे कम किन्तु आपस में बराबर-बराबर भाग होता है । उससे समचतुरस्र और उससे द्वुष्ट संस्थान का भाग उत्तरोत्तर अधिक है ।

संहनन नामकर्म में—आदि के पांच संहननों का द्रव्य बराबर किन्तु सबसे थोड़ा है, उससे सेवार्त का अधिक है ।

वर्ण नाम में—कृष्ण का सबसे कम और नील, लोहित, पीत तथा शुक्ल का एक से दूसरे का उत्तरोत्तर अधिक भाग है ।

गन्ध में—सुगन्ध का कम और दुर्गन्ध का उससे अधिक भाग है ।

रस में—कटुक रस का सबसे कम और तिक्त, कर्षला, खट्टा और मधुर रस का उत्तरोत्तर एक से दूसरे का अधिक-अधिक भाग है ।

स्पर्श में—वर्कण और गुह स्पर्श का सबसे कम, मृदु और लघु स्पर्श का उससे अधिक, सूक्ष्म और कीत का उससे अधिक तथा स्निग्ध और उष्ण का

उमसे अधिक भाग है। चारों युगलों में जो दो-दो स्पर्श हैं, उनका आपस में बराबर-बराबर भाग है।

आनुपूर्वी में—देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी का भाग सबसे कम किन्तु आपस में बराबर होता है। उससे मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यचानुपूर्वी का क्रम से अधिक-अधिक भाग है।

विहायोगति में—प्रशस्त विहायोगति का कम और अप्रशस्त विहायोगति का उमसे अधिक।

त्रसावि बीस में—वस का कम, स्थावर का उससे अधिक; पर्याप्त का कम, अपर्याप्त का उससे अधिक। इसी तरह प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुगम-दुर्भग, सूक्ष्म-खादर और आदेय-अनादेय का भी समझना चाहिए तथा अयशःकीर्ति का सबसे कम और यशःकीर्ति का उससे अधिक भाग है। आतप उद्योत, प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर, दुःस्वर का परस्पर में बराबर भाग है।

निर्माण, उच्छ्वास, पराधात, उपधात, अगुहलघु और तीक्ष्णकर नाम का अल्पबहुत्व नहीं होता है। क्योंकि अल्पबहुत्व का विचार सजातीय अथवा विरोधी प्रकृतियों में ही किया जाता है। जैसे कृष्ण नामकर्म के लिए वर्णनाम-कर्म के शेष भेद सजातीय हैं तथा सुभग और दुर्भग परस्पर में विरोधी हैं। किन्तु उक्त प्रकृतियाँ न तो सजातीय हैं क्योंकि किसी एक पिंड प्रकृति की अवान्तर प्रकृतियाँ नहीं हैं तथा विरोधी भी नहीं हैं, क्योंकि उनका बंध एक साथ भी हो सकता है।

गोश्रकर्म - नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का अधिक है।

अन्तरायकर्म — दानान्तराय का सबसे कम और लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय का उत्तरोत्तर अधिक भाग है।

उत्कृष्ट पद की अपेक्षा से उक्त अल्पबहुत्व समझना चाहिए और जघन्य-पद की अपेक्षा से —

जानावरण और वेदनीय का अल्पबहुत्व पूर्ववत् है।

दर्शनवरण में निद्रा का सबसे कम, प्रचला का उसके अधिक, निद्रा-निद्रा

का उससे अधिक । प्रचला-प्रचला का उससे अधिक, स्थानद्धि का उससे अधिक है । शेष पूर्ववत् भाग है ।

मोहनीय में केवल इतना अंतर है कि तीनों वेदों का भाग परस्पर में तुल्य है और रति-अरति से विशेषाधिक है । उससे संज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभ का उत्तरोत्तर अधिक है ।

आयु में तिर्यचायु और मनुष्यायु का सबसे कम है और देवायु, नरकायु का उससे असंख्यात गुणा है ।

नामकर्म में तिर्यचगति का सबसे कम, मनुष्यगति का उससे अधिक, देव-गति का उससे असंख्यात गुणा और नरकगति का उससे असंख्यात गुणा भाग है । जाति का पूर्ववत् है । शरीरों में औदारिक का सबसे कम, सैजस का उससे अधिक, कार्मण का उससे अधिक, वैक्रिय का उससे असंख्यात गुणा, आहार-रक्त का उससे असंख्यात गुणा भाग है । सवाल और बंधन में भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए । लंगोरांग में औदारिक का सबसे कम, वैक्रिय का उससे असंख्यात गुणा, आहारक का उससे असंख्यात गुणा भाग है । आनुपूर्वी का पूर्ववत् है । शेष प्रकृतियों का भी पूर्ववत् जानना चाहिए ।

गोत्र और अंतराय कर्म का भी पूर्ववत् है । यानी नीच गोत्र का कम और उच्च गोत्र का उससे अधिक । दानान्तराय का कम, लाभान्तराय का उससे अधिक, भोगान्तराय का उससे अधिक, उपभोगान्तराय का उससे अधिक और वीर्यान्तराय का उससे अधिक भाग है ।

इस प्रकार १० कर्मकांड और कर्मप्रकृति के अनुसार कर्म प्रकृतियों में कर्मदलिकों के विभाजन व अल्पबहुत्व को समझना चाहिये ।

परिशिष्ट-३

पत्य को भरने में लिये जाने वाले बालाग्रों सम्बन्धी अनुयोगद्वार-सूत्र आदि का कथन

पत्योगम का प्रमाण बतलाने के लिए एक योजन लंबे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे पत्य-गड्ढे को एक से लेकर सात दिन तक के बालाग्रों से भरने का विधान किया है। इस संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों को यहाँ स्पष्ट करते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'एगाहिक, देवाहिक, तेवाहिक जाव उक्कोसेणं सप्तरत्तरुदाणं'... 'बालागकोडीणं' लिखा है और प्रवचनसारोद्धार में भी इसी से मिलता-जुलता पाठ है। दोनों की टीका में इसका अर्थ किया गया है कि सिर के मुड़ा देने पर एक दिन में जितने बड़े बाल निकलते हैं, वे एकाहिक कहलाते हैं, दो दिन के निकले बाल द्वाहिक, तीन दिन के निकले बाल त्र्याहिक, इसी तरह सात दिन के उगे हुए बाल लेना चाहिये।

द्रव्यलोकप्रकाश में इसके बारे में लिखा है कि उतरकुरु के मनुष्यों का सिर मुड़ा देने पर एक से सात दिन तक के अन्दर जो केशाग्ररश्मि उत्पन्न हो, वह लेना चाहिये। उसके आगे लिखा है कि—

अत्र न समसवृहद्वृत्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्त्यभिप्रायोऽयम् । प्रवचनसारोद्धारवृत्तिसंग्रहणीवृहद्वृत्त्योस्तु मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां शवदुत्कर्षतः सप्तभिरहोभिः प्रकृतानि बालाग्राणि इत्यादि सामान्यतः कथनादुत्तरकुरुतरबालाग्राणि नोक्तानीति ज्ञेयम् । 'वीरञ्जय सेहर' श्रेयविचार सत्कम्बोपज्ञवृत्ती तु देयकुरुतरकुरुद्वयमप्यदिनजातोरणस्योत्सेधाङ्गलप्रमाणं रोम सप्तकृत्वोऽष्टखण्डीकरणेन विंशतिलक्षसप्तनवतिसहस्रं कणतद्वापञ्चाशत्प्रमितखण्डभावं प्राप्यते, तादृशी रोमखण्डैरेव पत्यो भ्रियत इत्यादिरयंतः संप्रदायो दृश्यत इति ज्ञेयम् ।

अर्थात् क्षेत्रसमास की बृहद्वृत्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति का यह अभिप्राय है कि उत्तरकुरु के मनुष्य के केशाग्र लेना चाहिये । किंतु प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति और संग्रहणी की बृहद्वृत्ति में सामान्य से सिर मुड़ा देने पर एक से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालों का उल्लेख किया है, उत्तरकुरु के मनुष्य के बालाग्रों का ग्रहण नहीं किया है । क्षेत्रविचार की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखा है कि देवकुरु-उत्तरकुरु में जन्मे सात दिन के मेष (भेड़) के उत्सेधांगुलप्रमाण रोम को लेकर उसके सात बार आठ-आठ खंड करना चाहिये । अर्थात् उस रोम के आठ खंड करके पुनः एक-एक खंड के आठ-आठ खंड करना चाहिए । ऐसा करने पर उस रोम के बीस लाख सत्तानव्व हजार एकसौ बावन २०६७१५२ खंड होते हैं । इस प्रकार के खंडों से उस पत्थ को भरना चाहिए ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी 'एगाहिअ वेहिअ तेहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपकु-
ढाणं बालगकोडीणं' ही पाठ है । जिसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है -
वालेए अग्राणि श्रेष्ठाणि बालाग्राणि कुरुत्तररोमाणि तेषां कोटयः अनेकाः
कोटोकोटीप्रमुखाः संख्याः । जिसका आशय है कि बालों में अग्र-श्रेष्ठ जो
उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्यों के बाल, उनकी कोटिकोटि । इस प्रकार टीकाकार
ने बाल सामान्य से कुरुभूमि (देवकुरु, उत्तरकुरु) के मनुष्यों के बालों का
ग्रहण किया है ।

दिगम्बर साहित्य में 'एकादिसप्ताहोरात्रिजाताविबालाग्राणि' लिखकर
एक दिन से सात दिन तक जन्मे हुए मेष (भेड़) के बालाग्र ही ग्रहण किये हैं ।

दिगम्बर साहित्य में पत्थोपम का वर्णन

उपमा प्रमाण के द्वारा काल की गणना करने के लिए पत्थोपम, सागरोपम
का उपयोग श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के साहित्य में समान रूप
से किया गया है । लेकिन उनके वर्णन में भिन्नता है । श्वेताम्बर साहित्य में
पाये जाने वाले पत्थोपम के स्वरूप आदि का वर्णन गा० ८५ में किया जा
चुका है, लेकिन दिगम्बर साहित्य में पत्थोपम का जो वर्णन मिलता है, वह
उक्त वर्णन से कुछ भिन्न है । उसमें क्षेत्र-पत्थोपम नाम का कोई भेद नहीं है

और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद ही किये गये हैं। संक्षेप में पल्योपम का वर्णन इस प्रकार है—

पल्य के तीन प्रकार हैं—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों नाम सार्वक हैं और उद्धार व अद्धा पल्यों के व्यवहार का मूल होने के कारण पहले पल्य को व्यवहारपल्य कहते हैं। अर्थात् व्यवहारपल्य का इतना ही उपयोग है कि वह उद्धारपल्य और अद्धापल्य का आधार बनता है। इसके द्वारा कुछ मापा नहीं जाता है।

उद्धारपल्य से जन्मते रोमों के माप द्वि- और त्र्युत्तों की संख्या जानी जाती है, इसीलिये उसे उद्धारपल्य कहते हैं और अद्धापल्य के द्वारा जीवों की आयु आदि जानी जाती है, इसीलिये उसे अद्धापल्य कहते हैं। इन तीनों पल्यों का प्रमाण निम्न प्रकार है—

प्रमाणांगुल से निष्पन्न एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे तीन गड्ढे बनाओ। एक दिन से लेकर सात दिन तक के भेड़ के रोमों के अग्रभागों को काटकर उनके इतने छोटे-छोटे खण्ड करो कि फिर वे कँची से न काटे जा सकें। इस प्रकार के रोमखण्डों से पहले पल्य को खूब ठसाठस भर देना चाहिए। उस पल्य को व्यवहारपल्य कहते हैं।

उस व्यवहारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक रोमखण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे व्यवहार पल्योपम कहते हैं। व्यवहारपल्य के एक-एक रोमखण्ड के कल्पना के द्वारा उतने खण्ड करो जितने असंख्यात कोटि वर्ष के समय होते हैं और वे सब रोमखण्ड दूसरे पल्य में भर दो। उसे उद्धारपल्य कहते हैं।

उस उद्धारपल्य में से प्रति समय एक खण्ड निकालते-निकालते जितने समय में वह पल्य खाली हो, उसे उद्धारपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटी-कोटी उद्धारपल्योपम का एक उद्धार-सागरोपम होता है। अर्थात् उद्धार-सागरोपम में जितने रोमखंड होते हैं, उतने ही द्वीप, समुद्र जानना चाहिए।

उद्धारपल्य के रोमखंडों में से प्रत्येक रोमखंड के कल्पना के द्वारा पुनः उतने खंड करो जितने सौ वर्ष के समय के होते हैं और उन खंडों को तीसरे पल्य में भर दो। उसे अद्धापल्य कहते हैं। उसमें से प्रति समय एक-एक रोम-

खंड निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा-पल्योपम कहते हैं और उस कोटाकोटी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। दसकोटि अद्धासागर की एक उत्सर्पिणी और उतने ही की एक अवसर्पिणी होती है। इस अद्धा-पल्योपम से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति और कायस्थिति जानी जाती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में पुद्गल परिवर्तों का वर्णन

दिगम्बर साहित्य में पुद्गल परावर्तों के पाँच भेद हैं और पंच परिवर्तनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—द्रव्य-परिवर्तन, क्षेत्र-परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन। द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद हैं—नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन। इनके स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन—एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्वोपितियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया और दूसरे आदि समय में उनकी निर्जरा कर दी। उसके बाद अनन्तवार अग्रहीत पुद्गलों की ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्र पुद्गलों की ग्रहण करके और अनन्तवार ग्रहीत पुद्गलों को ग्रहण करके छोड़ दिया। इस प्रकार वे ही पुद्गल जो एक समय में ग्रहण किये थे, उन्हीं भावों से उतने ही रूप, रस, गंध और स्पर्श को लेकर जब उसी जीव के द्वारा पुनः नोकर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं तो उतने काल के परिमाण को नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

कर्मद्रव्य-परिवर्तन—इसी प्रकार एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्म रूप होने के योग्य कुछ पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवसी के बाद उनकी निर्जरा कर दी। पूर्वोक्त क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से जब उसी जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तो उतने काल को कर्मद्रव्य-परिवर्तन कहते हैं। नोकर्मद्रव्य-परिवर्तन और कर्मद्रव्य-परिवर्तन को मिलाकर एक द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गल परिवर्तन होता है और दोनों में से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्तन—सबसे जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया जीव

लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया। वही जीव उसी अवगाहना को लेकर वहां दुबारा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार घनांगुल के असंख्यानवें भाग क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उतनी बार उसी अवगाहना को लेकर वहां उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को अपना जन्मक्षेत्र बना लेता है तो उतने काल को एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं।

काल-परिवर्तन—एक जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी करके मर गया। वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूरी हो जाने में बाद मर गया। वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और उसी तरह मर गया। इन प्रकार वह उत्सर्पिणी काल के समस्त समयों में उत्पन्न हुआ और इसी प्रकार अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में उत्पन्न हुआ। उत्पत्ति की तरह मृत्यु का भी क्रम पूरा किया। अर्थात् पहली उत्सर्पिणी के पहले समय में मरा, दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरा, इसी प्रकार पहली अवसर्पिणी के पहले समय में मरा, दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में मरा। इस प्रकार जितने समय में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों को अपने जन्म और मृत्यु से स्पृष्ट कर लेता है, उतने समय का नाम कालपरिवर्तन है।

मघपरिवर्तन—नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। कोई जीव उतनी आयु लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। मरने के बाद नरक से निकलकर पुनः उसी आयु को लेकर दुबारा नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी आयु को लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। उसके बाद एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरकगति की उत्कृष्ट आयु तैत्तिरीय मागर पूर्ण की। उसके बाद तिर्य्यचगति को लिया। तिर्य्यचगति में अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मर गया। उसके बाद उसी आयु को लेकर पुनः तिर्य्यचगति में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्य्यचगति

की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी की। तिर्य्यगति की ही तरह मनुष्यगति का काल पूरा किया और नरकगति की तरह देवगति का काल पूरा किया। लेकिन देवगति में इतना अंतर समझना चाहिए कि देवगति में ३१ सागर की आयु पूरी करने पर ही भवपरिवर्तन पूरा हो जाता है। क्योंकि ३१ सागर से अधिक आयु वाले देव सम्पद्गृष्टि ही होते हैं और वे एक या दो मनुष्य भव धारण करके मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार चारों गति की आयु को भोगने में जितना काल लगता है, उसे भवपरिवर्तन कहते हैं।

भावपरिवर्तन—कर्मों के एक स्थितिबंध के कारण असंख्यात लोक प्रमाण कषाय-अध्यवसायस्थान हैं और एक-एक कषायस्थान के कारण असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान हैं। किसी पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव ने जानावरण कर्म का अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण जघन्य स्थितिबंध किया, उसके उस समय सबसे जघन्य कषायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागस्थान तथा सबसे जघन्य योगस्थान था। दूसरे समय में वही स्थितिबंध, वही कषायस्थान और वही अनुभागस्थान रहा किन्तु योगस्थान दूसरे नंबर का हो गया। इस प्रकार उसी स्थितिबंध को कषायस्थान और अनुभागस्थान के साथ श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण समस्त योगस्थानों को पूर्ण किया। योगस्थानों की समाप्ति के बाद स्थितिबंध और कषायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभागस्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्ववत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभाग-अध्यवसायस्थानों के समाप्त होने पर उसी स्थितिबंध के साथ दूसरा कषायस्थान हुआ। उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान भी पूर्ववत् समाप्त किये। पुनः तीसरा कषायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् समाप्त किये। इस प्रकार समस्त कषायस्थानों के समाप्त हो जाने पर उस जीव ने एक समय अधिक अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिबंध किया। उसके भी कषायस्थान, अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते बढ़ाते जानावरण की तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण की। इसी तरह जब वह जीव सभी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है, तब उसने काल को भावपरिवर्तन कहने हैं।

इन सभी परिवर्तनों में क्रम का ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् अक्रम से

जो किया होती है, वह गणना में नहीं ली जाती है । सूक्ष्म पुद्गल परावर्तों को जो व्यवस्था है, वही व्यवस्था यहाँ समझना चाहिये ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों का गोस्मटसार कर्मकांड में आगत वर्णन

दिगम्बर साहित्य गो० कर्मकांड में भी प्रदेशबंध के स्वामियों का वर्णन किया गया है । जो प्रायः कर्मग्रन्थ के वर्णन से मिलता-जुलता है । तुलनात्मक अध्ययन में उपयोगी होने से संबंधित अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबंध के स्वामियों के बारे में यह सामान्य नियम है कि उत्कृष्ट योगों सहित, संज्ञो पर्याप्त और श्रेष्ठ प्रकृतियों का बंध करने वाला जीव उत्कृष्ट प्रदेशबंध तथा जघन्य योग वाला असंज्ञी और अधिक प्रकृतियों का बंध करने वाला जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

सर्वप्रथम मूल प्रकृतियों के उत्कृष्ट बंध का स्वामित्व गुणस्थानों में कहते हैं—

आयुक्कस्स पवेसं छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।

सेसाण तणुक्काओ बंधवि उक्कस्सजोगेण ॥ २११

आयुर्कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबंध छह गुणस्थानों के अनन्तर सातवें गुणस्थान में रहने वाला करता है । मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नौवें गुणस्थान-वर्ती करता है और आयु व मोहनीय के सिवाय शेष ज्ञानावरण आदि छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध उत्कृष्ट योग का धारक दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान-वाला जीव करता है । यहाँ सभी स्थानों पर उत्कृष्ट योग द्वारा ही बंध जानना चाहिए ।

उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामित्व इस प्रकार है—

सत्तर सुहमसरगे पंचअणिपट्टिम्हि वेसगे तवियं ।

अयवे विविधकसायं होवि ह उक्कस्सदब्धं तु ॥ २१२

छण्णोकसायणिहापयलातित्थं च सम्मगो य जदी ।

सम्मो वामो तेरं णरसुरआउ असादं तु ॥ २१३

देवउक्कं वज्जं समउरं सत्थगमणसुभगतियं ।

अहारमप्यमत्तो सेसपदेसुक्काओ निज्जो ॥ २१४

मतिज्ञानावरण आदि पांच, दर्शनावरण चार, अन्तराय पांच, यशःकीर्ति, उन्नतगोत्र और साता वेदनीय, इन सबह प्रकृतियों का दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। नौवें अनिवृत्तिवादर गुणस्थान में पुरुषत्रेदादि पांच का, तीसरा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का देशविरति नामक पांचवें गुणस्थान में, दूसरी अरदाध्यानाधारण कषाय चतुष्क का चौथे अविरत गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। छह नोकषाय, निद्रा, प्रचला और तीर्थकर, इन नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि जीव करता है तथा मनुष्यायु, देवायु, असाता वेदनीय, देवगति आदि देवचतुष्क, वज्रक्रावधनाराच संनहन, समचतुरस संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगविक, इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि दोनों ही करते हैं। आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध अप्रमत्त गुणस्थान वाला करता है। इन जीवन प्रकृतियों के सिवाय शेष रही श्रियासठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट योगों से करता है।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के स्वामियों का कथन करने के बाद अब जघन्य प्रवेशबन्ध के स्वामियों को बतलाते हैं। मूल प्रकृतियों के बन्धक के बारे में बताया है कि—

सुहृमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहणये ओगे ।

सत्तहं तु जहणं आउगबधेवि आउत्स ॥२१५

सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव के अपने पर्याय के पहले समय में जघन्य योगी से आयु के सिवाय सात मूल प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। आयु का बन्ध होने पर उसी जीव के आयु का भी जघन्य प्रदेशबन्ध होता है। आयुक्रम का बन्ध सर्वत्र नहीं होता रहता है इसीलिये आयुक्रम का अलग से कथन किया है। अर्थात् आठों कर्मों का जघन्य प्रदेशबन्ध सूक्ष्म-निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव करता है।

मूल प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध बतलाने के बाद उत्तर प्रकृति के लिये कहते हैं कि—

घोड्ढणजोगोउत्तणी निरयवुसुरणिरयआउगजहणा ।

अपमत्तो आहारं अयवो तित्थं च वेधयक ॥ २१६

बोदमान योगों (परावर्तमान योगों) का धारक असंजी जात्र नरकद्विक, देवायु तथा नरकायु का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। आहारकद्विक का अप्र-
मत्त गुणस्थानवर्ती तथा चौथे अविरत गुणस्थान वाला (पर्याय के प्रथम समय
में जघन्य उपाद योग का धारक) तीर्थंकर प्रकृति और देवचसुष्क, कुल पाँच
प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। इन चारह प्रकृतियों में शेष बची
हुई १०६ प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशबन्धक की विशेषता को बतलाते हैं—

चरिसअपुणभवत्थो तिविभाहे पवमसिगाहम्मि ठिओ।

सुहमणिगोवो बंधवि सेसाणं अवरबंधं तु ॥ २१७

लब्ध्यपर्याप्तक के ६०१२ भवों में से अन्त के भव को धारण करने वाला
और विग्रहगति के तीन मोड़ों में से पहले मोड़ में स्थित सूक्ष्म निगोदिया
जीव शेष रही १०६ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबन्ध करता है।

कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकांड, दोनों में १०६ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश-
बन्धक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव माना है। कर्मग्रन्थ में जन्म के
प्रथम समय में उसको बन्धक बतलाया, लेकिन गो० कर्मकांड में लब्ध्यपर्या-
प्तक के ६०१२ भवों में से अन्तिम भव को धारण करने वाले को बतलाया है।

गुणश्रेणि की रचना का स्पष्टीकरण

उदयक्षण से लेकर प्रतिसमय असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे कर्मदलिकों
की रचना की गुणश्रेणि कहते हैं। इस गुणश्रेणि के स्वरूप को स्पष्ट करते
हुए कर्मप्रकृति गा० १५ की टीका में उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—

अधुना गुणश्रेणिस्वरूपमाहु—यत्स्थितिकण्डकं वातयति तन्मध्याह्निकं
बृहोत्वा उदयसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तचरमसमयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येय-
गुणनया निक्षिपति। उक्तं च—

उवरिल्लिडिहोतो धिसुणं पुण्णे उ तो खिवइ।

उदयसमयम्मि थोवे ततो अ असंखगुणिए उ॥

वीयम्मि खिवइ ममए तइए ततो असंखगुणिए उ॥

एवं समए समए अन्तमुहुत्तं तु वा पुत्तं॥

एषः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः। एवमेव द्वितीयादिसमय

गृहीताभामपि दलिकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः । किञ्च गुणश्रेणिरचनाय
प्रथमसमयादारम्य गुणश्रेणिचरमममयं यावद् गृह्यमाणं दलिकं यथोत्तर-
मसंख्येय गुण द्रष्टव्यम् । उक्तं च—

दलियं तु शिष्टश्रेणो ग्रहणे सप्तम्यि चरेयं शिष्टे ।
उपरित्पल्लिङ्गिहो धियमि असंख्यगुणियं तु ॥
शिष्टहृद समए दलियं तदए समए असंख्यगुणियं तु ।
एवं समए समए जा चरिमो अंतसमभोति ॥

इहान्तर्मुहूर्तप्रमाणो निक्षेपकालो, दलरचनारूपगुणश्रेणिकालश्चा-
पूर्वकरणानिवृत्तिकरणाद्धादिकात् किञ्चिदधिको द्रष्टव्यः, तावत्कालमध्ये
चाघस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे शेषश्रेणेषु दलिकं रचयति, न पुनरुपरि गुण-
श्रेणि वर्धयति । उक्तं च—

सेढोद् कालमाणं बुण्ययकरणासमहियं जाण ।
खिञ्जद सा उदएणं जं सेसं तप्पि शिवसेवो ॥

अर्थात् अत्र गुणश्रेणि का स्वरूप कहते हैं— जिस स्थितिकण्डक का घात
करता है, उसमें से दलिकों को लेकर उदयकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त के अन्तिम
समय तक के प्रत्येक समय में असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे दलिक स्थापन
करता है । कहा भी है—

ऊपर की स्थिति से पुद्गलों को लेकर उदयकाल में थोड़े स्थापन करता
है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है, तीसरे समय में
उससे असंख्यातगुणे स्थापन करता है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल की
समाप्ति के समयों में असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे दलिक स्थापन करता है ।

यह प्रथम समय में ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपण की विधि है ।
इसी तरह दूसरे आदि समयों में ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेपण की विधि
जानती चाहिए तथा गुणश्रेणि रचना के लिये प्रथम समय से लेकर गुणश्रेणि
के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे दलिक ग्रहण
किये जाते हैं । कहा भी है —

ऊपर की स्थिति से दलिकों का ग्रहण करते हुए प्रथम समय में थोड़े

दलिकों को ग्रहण करता है, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक असंख्यात-गुणे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण करता है।

यह निक्षेपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और दलिकों की रचना रूप गुणश्रेणि का काल अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के कालों से कुछ अधिक जानना चाहिए। इस काल से नीचे-नीचे के उदयक्षण का अनुभव करने के बाद क्षय हो जाने पर बाकी के अणों में दलिकों की रचना करता है, किन्तु गुणश्रेणि को ऊपर की ओर नहीं बढ़ाता है। कहें हैं—

‘गुणश्रेणि का काल दोनों करणों के काल से कुछ अधिक जानना चाहिए। उदय के द्वारा उसका काल क्षीण हो जाता है, अतः जो शेष काल रहता है, उमों में दलिकों का निक्षेपण किया जाता है।

पंचसंग्रह में भी गुणश्रेणि का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार बतलाया है। तत्-संबंधी गाथा इस प्रकार है—

घाद्वयटिहओ वलियं धेत्तुं धेत्तुं असंखगुणणाए ।

साह्यवुकरणकाले उदयाद रयद गुणसेठि ॥७४६॥

अब लब्धिसार (दिगम्बर ग्रन्थ) के अनुसार गुणश्रेणि का स्वरूप बतलाते हैं—

उदयाणमावलिमिह य उभयाणं बाहुरभिष खिवणटठं ।

लोयाणमसंखेज्जो कमसो उक्कट्टणो हारो ॥६८॥

जिन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है, उन्हीं के द्रव्य का उदयावलि में निक्षेपण होता है। उनके लिए असंख्यात लोक का भागाहार जानना और जिनका उदय और अनुदय है, उन दोनों के द्रव्य का उदयावलि से बाह्य गुणश्रेणि में अथवा ऊपर की स्थिति में निक्षेपण होता है, उसके लिए अपकर्षण भागा-हार (पल्य का असंख्यातवां भाग) जानना चाहिए।

उक्कटिठइ हगिभागे पल्लासंखेण भाजिदे तत्थ ।

बहुभायमिदं दब्बं उक्कवरिल्लटिदीसु णिकखविदि ॥ ६९॥

अपकर्षण भागाहार का भाग देने पर एक भाग में पल्य के असंख्यातवें

भाग का भाग दिया, उसमें से बहुभाग ऊपर की स्थिति में निक्षेपण करता है ।

सेसगभागे मज्जिमे असंखसोणेण तत्थ बहुभाग ।

गुणसेट्ठिए सिच्चवि सेसेगं षेव उदयमिह ॥७०

अवशेष एक भाग को असंख्यसे लोक का भाग देकर जो बहुभाग बाचे, उसको गुणश्रेणि आयाम में और शेष एक भाग को उदयावलि में देना चाहिए ।

उदयावलिस्तु ब्रह्मं आवलिमज्जिमे वृ होदि मज्जसघमं ।

कृत्तव्याणूणेण णिसेयं हारेण ॥७१

मज्जिमसघममयहरिदे पचयं पचयं णिसेयं हारेण ।

गुणिमे आदि णिसेयं विसेसहीणं कमं तत्तो ॥७२

उदयावलि में दिये गये द्रव्य में आवली के समय प्रमाण का भाग देने पर मध्यघन होता है और उस मध्यघन को एक कम आवली प्रमाण गण्य के आधे कम निषेकहार का भाग देने से चय का प्रमाण होता है । उस चय को निषेकहार से (दो गुणहानि से) गुणा करने पर आवली के प्रथम निषेक के द्रव्य का प्रमाण आता है । उससे द्वितीयादि निषेकों में दिये क्रम से एक-एक चय कर घटता प्रमाण लिये जानना चाहिये । वही एक कम आवली मात्र चय घटने पर अंतनिषेक में दिये द्रव्य का प्रमाण होता है ।

उक्कट्ठवमिह वेहि वृ असंखसमयण्यखंभमाविमिह ।

संखातीवगुणवकम मसंखहीणं विसेसहीणकमं ॥ ७३

गुणश्रेणि के लिये अपकर्षण किये द्रव्य को प्रथम समय की एक शलाका, उससे दूसरे समय की असंख्यात गुणी, इस तरह अंत समय तक असंख्यातगुणा क्रम लिए हुए जो शलाका, उनको जोड़ उसका भाग देने से जो प्रमाण आये उसको अपनी-अपनी शलाकाओं से गुणा करने से गुणश्रेणि आयाम के प्रथम निषेक में दिया द्रव्य असंख्यात समयब्रबद्ध प्रमाण आता है । उससे द्वितीयादि निषेकों में द्रव्य क्रम से असंख्यातगुणा अंत समय तक जानना । प्रथम निषेक में द्रव्य गुणश्रेणि के अंत निषेक में दिये द्रव्य के असंख्यातवै भाग प्रमाण है । प्रथम गुणहानि का द्वितीयादि निषेकों में दिया द्रव्य चय घटता द्रव्य लिये हुये है ।

गुणश्रेणी करने द्वितीयाद अंत पर्यन्त समयों में समय-समय के प्रति असंख्यातगुणा क्रम लिये द्रव्य को अपकर्षण करता है और संचित अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उदयावली आदि में उसे निक्षेपण करता है । ऐसे आयु के दिना सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान समय-समय में होता है ।

उक्त कथन का सारांश यह है कि गुणश्रेणि रचना जो प्रकृतियाँ उदय में आ रही हैं उनमें भी होती है और जो उदय में नहीं आ रही हैं उनमें भी होती है । अन्तर केवल इतना ही है कि उदयागत प्रकृतियों के द्रव्य का निक्षेपण तो उदयावली, गुणश्रेणी और ऊपर की स्थिति, इन तीनों में ही होता है, किन्तु जो प्रकृतियाँ उदय में नहीं होती हैं उनके द्रव्य का स्थापन केवल गुणश्रेणि और ऊपर की स्थिति में ही होता है, उदयावली में उनका स्थापन नहीं होता है । आशय यह है कि वर्तमान समय से लेकर एक आवली तक के समय में जो निषेक उदय आने के योग्य हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे उदयावली में दिया गया द्रव्य समझना चाहिये । उदयावली के ऊपर गुणश्रेणि के समयों के बराबर जो निषेक हैं, उनमें जो द्रव्य दिया जाता है, उसे गुणश्रेणि में दिया गया समझना चाहिये । गुणश्रेणि से ऊपर के अंत के कुछ निषेकों को छोड़कर शेष कर्मनिषेकों में जो द्रव्य दिया जाता है, उसे ऊपर की स्थिति में दिया गया द्रव्य समझना चाहिये । इसको मिथ्यात्व के उदाहरण द्वारा यों समझना चाहिये—

मिथ्यात्व के द्रव्य में अपकर्षक भागाहार का भाग देकर, एक भाग बिना बहुभाग प्रमाण द्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है, शेष एक भाग को पत्य के असंख्यातवै भाग का भाग देकर बहुभाग का स्थापन ऊपर की स्थिति में करता है । शेष एक भाग में असंख्यात लोक का भाग देकर गुणश्रेणि आयाम में देता है, शेष एक भाग उदयावली में देता है । इस प्रकार गुणश्रेणि रचना के लिये गुणाकाल के अंतिम समय पर्यन्त असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण करता है और पूर्वोक्त विधान के अनुसार उदयावली, गुणश्रेणि-आयाम और ऊपर की स्थिति में उस द्रव्य की स्थापना करता है । इस प्रकार आयु के सिवाय शेष सात कर्मों का गुणश्रेणि विधान जानना चाहिये ।

गुणश्रेणि में उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे हीन-हीन समय में

उत्तरोत्तर परिणामों भी विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणों असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होता है, अर्थात् जैसे-जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्यप्रमाण असंख्यातगुणों, असंख्यातगुणों अधिकाधिक होता जाता है । फलतः वह जीव मोक्ष के अधिक-अधिक निकट पहुँचता जाता है । जहाँ गुणकार रूप से गृणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उनको गुणश्रेणि कहा जाता है और उन स्थानों में होने वाली निर्जरा गुणश्रेणि निर्जरा नहीं जाती है ।

श्लो० जीवकांड श्लो० ६६-६७ में उक्त दृष्टि को लक्ष्य में रखकर गुणश्रेणि का वर्णन किया है । यह वर्णन कर्मवृत्ति, पंचसंग्रह और कर्मग्रन्थ से मिलता-जुलता है । लेकिन इतना अंतर है कि कर्मग्रन्थ आदि में सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन, दर्शनमोह का अपव, चारित्र्यमोह का उपशमक, उपशान्तमोह, संपक, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली, ये ग्यारहगुणश्रेणि स्थान बतलाये हैं । लेकिन श्लो० जीवकांड, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रन्थों में सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दोनों को अलग-अलग न मानकर जिन पद से दोनों का ग्रहण कर लिया है ।

श्लो० जीवकांड की मूल गाथाओं में गुणश्रेणि निर्जरा के दस स्थान गिनाये हैं, लेकिन टीकाकार ने ग्यारह स्थानों का उल्लेख करते हुये स्पष्ट किया है कि या तो सम्यक्त्वोत्पत्ति इस एक नाम से सातिशय मिच्यादृष्टि और अमंयत सम्यग्दृष्टि, इस तरह दो मतों का ग्रहण करके ग्यारह स्थानों की पूर्ति की जा सकती है अथवा ऐसा न करके सम्यक्त्वोत्पत्ति शब्द से भी एक ही स्थान लेना किन्तु अन्तिम जिन शब्द से स्वस्थानस्थित केवली और समुद्धानगत केवली, इन दो स्थानों का ग्रहण कर लेना चाहिये और स्वस्थान-केवली की अपेक्षा समुद्धान-गत केवली के निर्जरा द्रव्य का प्रमाण असंख्यात-गुणों होता है ।

इस प्रकार ग्यारह और दस गुणश्रेणि स्थान मानने में विवक्षा भेद है ।

क्षपकश्रेणि के विधान का स्पष्टीकरण

क्षपकश्रेणि में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम कर्मग्रन्थ के अनुरूप आवश्यक नियुक्ति गा० १२१-१२३ में बतलाये हैं । गी० कर्मकाण्ड में क्षपक-श्रेणि का विधान इस प्रकार है—

णिरयतिरिक्त्वसुराजगसत्तं ण हि वेतसयलववजवगा ।

अयवजवजकं तु अणं अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥ ३३५

जुगथं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टीकरणवहुभागं ।

खोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेवि कसे ॥ ३३६

अर्थात्—नरक, तिर्यंच और देवायु के सत्त्व होने पर कम से देशव्रत, महाव्रत और क्षपक श्रेणि नहीं होती, यानी नरकायु का सत्त्व रहते देशव्रत नहीं होते, तिर्यंचायु के सत्त्व में महाव्रत नहीं होते और देवायु के सत्त्व में क्षपक-श्रेणि नहीं होती है । अतः क्षपक श्रेणि के आरोहक मनुष्य के नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का सत्त्व नहीं होता है तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत अथवा अप्रमत्त संयत मनुष्य पहले की तरह अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है । अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ विसंयोजन करता है, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायों और नौ नोकषाय रूप परिणमाता है और उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त तक विश्राम करके दर्शनमोह का क्षपण करने के लिये पुनः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है । अनिवृत्तिकरण के काल में से जब एक भाग काल बाकी रह जाता है और बहुभाग बीत जाता है, तब क्रमशः मिथ्यात्व, मिथ्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षपण करता है और इस प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है ।

इसके बाद चारित्र्यमोह का क्षपण करने के लिये क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है । सबसे पहले सातवें गुणस्थान में अधःकरण करता है और उसके बाद आठवें गुणस्थान में पहुँच कर पहले की ही तरह स्थितिखंडन, अनुभाष-खंडन आदि कार्य करता है । उसके बाद नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में पहुँच कर—

सोसट्ठेक्किणं छत्तकं चतुसैक्कं भावरे अदो एक्क ।

स्त्रीणे सोससज्जोणे भायत्तरि तेरवत्तं ते ॥३३७

उसके ती भागों में से पाँच भागों में क्रम से सोलह, आठ, एक, एक, छह प्रकृतियों का क्षय होता है अथवा सत्ता से व्युच्छिन्न होती है तथा शेष चार भागों में एक-एक ही की सत्ता व्युच्छिन्न होती है । अनन्तर दसवें सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान में एक प्रकृति की व्युच्छिन्न होती है । बारहवें गुणस्थान में योग्यता नहीं होने से किसी भी प्रकृति का विच्छेद नहीं होता है और उसके बाद बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त समय में सोलह प्रकृतियों की सत्ता व्युच्छिन्न होती है । सयोगी केवली गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की व्युच्छिन्न नहीं होती और अयोगी केवली—चौदहवें गुणस्थान के अन्त के दो समयों में से पहले समय में ७२ तथा दूसरे समय में १३ प्रकृतियों का विच्छेद होता है ।

प्रकृतियों के विच्छेद होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये कि नौवें गुणस्थान के तीसरे भाग में नामकर्म की १३ प्रकृतियाँ । नरकवृत्त, तिर्यचवृत्त, विकलवृत्त, आतप, उद्योत, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर तथा दर्शनावरण की ३ प्रकृतियाँ—स्थानद्वित्रिक, कुल १६ प्रकृतियाँ क्षय होती हैं । दूसरे भाग में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क—कुल आठ प्रकृतियों का, तीसरे भाग में नपुंसक वेद, चौथे भाग में स्त्रीवेद, पाँचवें भाग में हास्यादि षट्क तथा छठे, सातवें, आठवें और नौवें भाग में क्रमशः पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया का क्षय होता है । इस प्रकार नौवें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं । दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में संज्वलन लोभ, बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण पाँच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाँच और निद्रा व प्रचला, इस प्रकार सोलह प्रकृतियाँ क्षय होती हैं, फिर सयोगकेवली होकर चौदहवें गुणस्थान प्राप्त होता है और उसके उपान्त्य समय में नाम, गोत्र, वेदनीय की ७२ प्रकृतियों का क्षय होता है और अन्त समय में १३ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर मुक्त तथा प्राप्त हो जाती है । जो क्षयक श्रेणि का प्राप्तव्य है ।

अयोग केवली गुणस्थान के अन्त समय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत

है कि १३ प्रकृतियाँ क्षय होती हैं और किन्हीं का मत है कि १२ प्रकृतियाँ खग होती हैं। १३ प्रकृतियों का क्षय मानने वाले अपने मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि तद्भवमोक्षगामी के अंतिम समय में आनुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियों की सत्ता उत्कृष्ट रूप से रहती है और जघन्य से तीर्थंकर प्रकृति के सिवाय शेष बारह प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली भवविपाकी मनुष्यायु क्षेत्रविपाकी मनुष्यानुपूर्वी, जीवविपाकी शेष नौ प्रकृतियाँ तथा साता या अमाता में से कोई एक वेदनीय, उच्च गोत्र, ये तेरह प्रकृतियाँ तद्भवमोक्षगामी जीव के अंतिम समय में क्षय को प्राप्त होती हैं, द्विचरम समय में नष्ट नहीं होती हैं। अतः तद्भव मोक्षगामी के अंतिम समय में उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियों की और जघन्य बारह प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

लेकिन चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में बारह प्रकृतियों का क्षय मानने वालों का कहना है कि मनुष्यानुपूर्वी का क्षय द्विचरम समय में ही हो जाता है, क्योंकि उसके उदय का अभाव है। जिन प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें स्तिबुकसंक्रम न होने से अंत समय में अपने-अपने स्वरूप से उनके दलित पाये जाते हैं जिससे उनका चरम समय में सत्ताविच्छेद होता युक्त है। किन्तु चारों ही आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी होने के कारण दूसरे भव के लिये गति करते समय ही उदय में आती हैं अतः भव में जीव को उनका उदय नहीं हो सकता है और उदय न हो सकने से अयोगि अवस्था के द्विचरम समय में ही मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार के मतान्तर में अधिकतर अयोगिकैवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में ७२ और अंत समय में १३ प्रकृतियों के क्षय को प्रमुख माना है। पंचम कर्मग्रन्थ की टीका में ७२ + १३ का ही विधान किया है और गो० कर्मकांड या० ३४१ में भी ऐसा ही लिखा है—‘उदयगवार णराणू तेरस चरिमस्सि बोच्छिण्णा’ अर्थात् उदयगत १२ प्रकृतियाँ और एक मनुष्यानुपूर्वी, इस प्रकार तेरह प्रकृतियाँ अयोगी कैवली के अंत के समय में अपनी सत्ता से छूटती हैं।

संक्षेप में क्षयक श्रेणि का यह विधान समझना चाहिये।

पंचम कर्मग्रन्थ की गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका

गाथा	पृ० सं०	गाथा	पृ० सं०
अणदंसनपु तित्थी	३७१	घणघाह दुमोय जिणा	७४
अणमिच्छमीससम्मं	३८६	चउठाणाइ असुहा	२२४
अपलमसंघयणागिइ	२०८	चउतेयवन्नवेयणिय	२५८
अपमाइ हारमदुग्	२४६	चउदस रज्जू लोअं	३६२
अपअत्ततसुक्कोसो	१६६	चउमेओ अज्जहन्नी	१८०
अप्पयरपयडिबंघी	३३४	चालीस कसाएसुं	१२४
अयमुक्कोसो गिदिसु	१४६	छमपुंसंजलणादो	३८६
अविरय सम्मो तित्थं	१६०	अइलहुबधो वावर	१८७
असुखगडजाइ आगिइ	२१६	जलहिसयं पणसीयं	२१६
आहारसत्तगं वा	४२	तणुबंगागिइ संघयण	१४
इक्किक्कहिया सिद्धा	२७६	तणु अट्ठ वेय दुजुवल	६६
इगविगलपुव्वकोडि	१३७	तत्तो कम्मपएसो	३५४
उक्कोसजहन्तेयर	१७६	तमतमगा उज्जोयं	२३६
उद्धारअद्धखितं	३१३	तसवन्नतेयचउ	२५५
उरलाइसत्तगेणं	३२३	तसवन्नवीस सगतेय	३६
एसपएसो गाढं	२७८	तिपण छ अट्ठ नवहिया	१०७
एगाइहिगे भूओ	६४	तिरिउरलदुगुज्जोयं	१७०
एमेव विउब्बाहार	२६६	तिरिदुगनिअं तमतमा	२५०
अंतिम चउफास दुग्धं	२७८	तिरिनरयतिजोयाणं	२०८
केवलजुयलावरणा	५२	तिव्वमिगधावरायव	२३६
खगई तिरिदुग नीयं	३६	तिव्वो असुहसुहाणं	२१४
गुणसेही दसरयणा	३०१	तो जइजिद्धो बंधो	१८७
गुरु कोडिकोडि अंतो	१९२	वावरदसवन्नचउक्क	६३

धिर सुमियर विणु	२६	लहु बिय पज्ज अपज्जे	१८७
धीणसिगं अणमिच्छं	२४३	लोगपएसो सप्पिणि	२२३
दंसणत्तगमयकुच्छा	३४८	वस चउतेयकम्मा	६
दण्णे छित्ते काले	३२३	विउव्विसुराहारदुगं	२३६
दस सुहविहगइ उच्चै	१२६	विगलसुहमाउगतिगं	१६८
दो इगमासो पक्खो	१४४	विगलिअसत्तिमु जिट्ठो	१४६
नपुकुल्लगइसासच्चउ	१२७	विग्धावरणअसाए	१२२
तमिय जिणं धुवबंधो	१	विग्धावरणे सुहमो	२४८
नइ छ चउ दंसे	६४	विग्धावरणे मोहे	२८५
नामधुवबंधिनवगं	६७	विजयाइसु गेविज्जे	२१४
नाम धुवोदय चउतणु	७६	वीसयरकोडिकोडो	११५
निवुच्छुरसो सहजो	२३३	संजलण नोकसाया	५२
निदपयला दुजुयल	३४१	हासाइसु ममहिगं गिर	१०५
निमिण धिर अयिर अगुरुय	२६	समयादसंखकालं	२१६
नियजाइलददलिया	२८६	समयादतमुहुत्तं	२१६
पहखणमसंखगुण	२०६	सम्मदरमइवविरई	२६७
पहमविया धुवउदइमु	२२	सव्वाणवि लहुबंधे	१५४
पहम तिगुणेषु मिच्छं	४२	सव्वाणवि जिट्ठठिई	१६६
पण अनियदी सुखगइ	३४१	साणाठ अपुव्वते	१८४
पणसट्टिसहस्स पणसय	१५७	सायजसुच्चावरणा	१७०
पलियासंखंसमुह	३०६	सांसणमीसेसु धुवमीसं	४२
बायालपुन्नपगइ	६३	सुमुणी दुन्ति असत्री	३४४
मयकुच्छअरइ सोए	१२७	सुरनरतिगुच्च साय	६५
मिच्छ अजयचउ आऊ	३३६	सुहमनिगोयाइखण	१६३
मुत्तु अकसायठिई	११५	सेहिअसंखिज्जसे	३६५
मूलपमहीण अहु	८८	सेसम्मि दुहा	२५८
लहु ठिइ दंशो संजलण	१४३	हासाइजुयलदुगवेय	१४